उपनिषद् अंक

पोभूमि

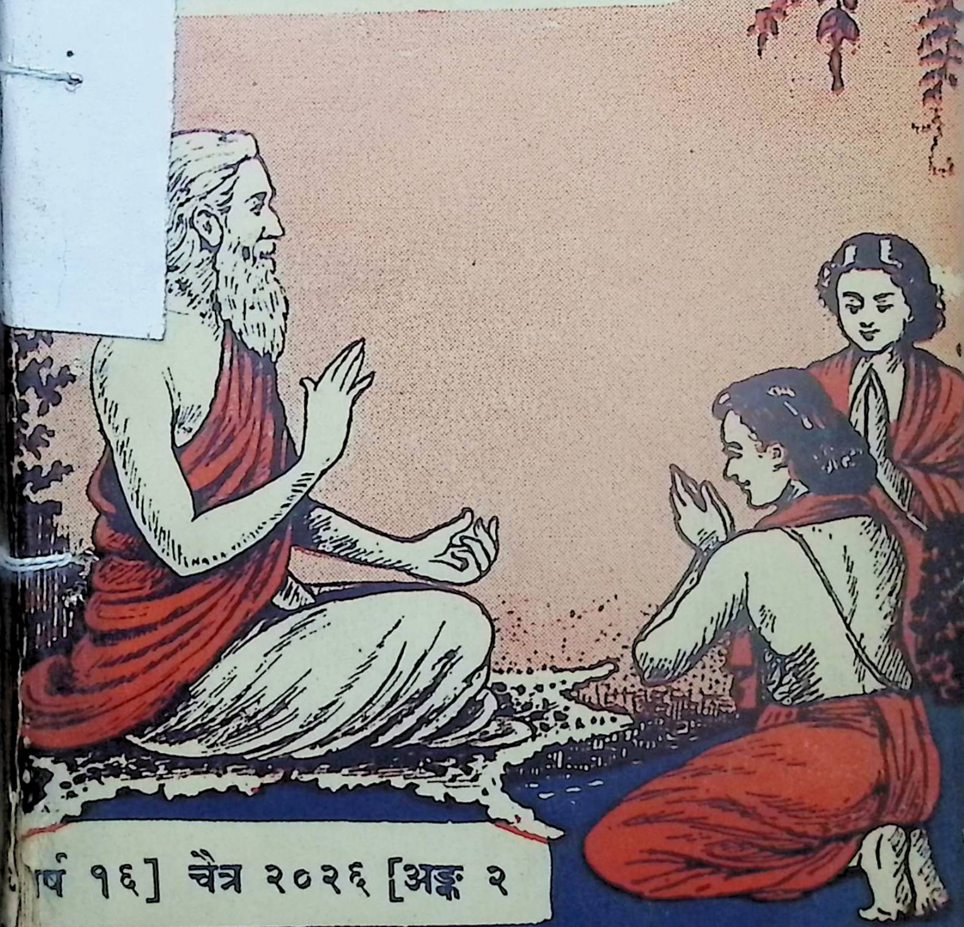

र्ष १६] चैत्र २०२६ [अङ्क २

ओ३म् वयं जयेम (ऋक्)

तपोभूमि

वर्ष १६ /२ | नव संवत्सर २०२६ | वा०मूल्य ५) रु०
इस अङ्क के ५) | मार्च १९६९ | विशे० सहित ६)रु.

"नव वर्षाभिनन्दनम्"

—ईश्वरीप्रसाद 'प्रेम'

ऋतवस्ते यज्ञं वितन्वतु मासा रक्षन्तु ते हविः।

संवत्सरस्ते यज्ञं दधातु नः प्रजां च परिपातु नः॥

—यजु० २६। १४॥

हे विद्वन्! (ते) आपके (यज्ञम्) सत्कार आदि व्यवहार को (ऋतवः) वसन्तादि ऋतुयें (वि तन्वतु) विस्तृत करें। (ते) आपके (हविः) [राष्ट्र-यज्ञ अथवा जीवन-यज्ञ में] होमने योग्य वस्तु की (मासाः) कार्तिक आदि महीने (रक्षन्तु) रक्षा करें (ते) आपके (यज्ञम्) [जन सेवा] यज्ञ—[लोक संग्रह यज्ञ] को (नः) हमारा (संवत्सरः) वर्ष [नव वर्ष] (दधातु) पुष्ट करे (च) और (नः) आप हमारी (प्रजाम्) प्रजा की (परि पातु) सब ओर से रक्षा करो।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती।

नव संवत्सर एवं आर्यसमाज स्थापना दिवस के पुण्य पर्व पर अपने 'तपोभूमि' परिवार के प्रति हार्दिक शुभकामनायें प्रकाशित करते हुए हम यह आत्मिक बल एवं शान्तिदायक 'उपनिषद् प्रकाश अङ्क' भेंट कर रहे हैं। अपनी शुभ सम्मति अवश्य लिखें।

इस बृहदाङ्क में हम ८ उपनिषद् देना चाहते थे किन्तु छः ही दे सके। दो—ऐतरेय, तैत्तिरीय बाद में देंगे।

प्रस्तावना

भौतिक विज्ञान का अधूरापन

कहते हैं आज विज्ञान का युग है। सच में विज्ञान ने कितने ही आश्चर्यजनक आविष्कार कर डाले हैं। परन्तु विज्ञान भी अभी तक माया में ही उलझा पड़ा है और मनुष्य की एक भी समस्या को सुलझा नहीं पाया। आजकल का विज्ञान केवल भौतिक है। जड़ के ही कीचड़ में फँसा पड़ा है। और मनुष्य केवल जड़ नहीं, केवल पत्थर का टुकड़ा नहीं। इसमें एक छोड़, दो आत्माओं का निवास है। एक समस्त संसार को चलाने वाला परमात्मा और दूसरा इस शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा। ये दोनों ही आत्मा चेतन हैं। इसलिए जब तक माया और आत्मा दोनों की सम्मिलित खोज न होगी तब तक विज्ञान अधूरा और असफल रहेगा।

निस्सन्देह विज्ञान की भौतिक विजयें श्लाघनीय हैं। सूर्य में कितनी गरमी है, साढ़े नौ करोड़ मील दूर रहते भी यह पृथिवी को झुलसे डालता है। पर विज्ञान की सहायता से मनुष्य ने सूर्य से बचने के लिये आतप-शान्त (sun proof) साधन निर्माण कर लिये, बिना अग्नि जलाये सूर्य से अपना भोजन बनवाता है। जिस जल में दावानल को अबल करने का बल है, उस जल को कल बना मनुष्य नल में ले आया है। आग जङ्गल के जङ्गल भस्मसात् कर देती है, वही आग विज्ञान के वशवर्ती हो मनुष्य का भोजन पकाती है, कपड़ा बुनती है, चक्की पीसती है और जाने कितनी सेवायें मनुष्य की करती है। विद्युत् को तार में बाँधकर मनुष्य समुद्र पार सन्देश भेजता है, घरों में प्रकाश करता है। इससे दूरस्थ के गाने सुनता है। सभी जीवनोपयोगी कार्य इसी से लेता है। विज्ञान की शक्ति से ये सारे बलवान् भूत मनुष्य के आज्ञापालक दास बने हुए हैं।

पर हम भूलें नहीं कि केवल प्रकृति या माया का ज्ञान उलझनें बढ़ा तो देगा, सुलझा एक भी नहीं सकेगा। कहीं इतनी वर्षा होती है कि विनाश जाग उठता है, कहीं-कहीं इतना सूखा कि मनुष्य पानी की बूँद को तरसने लगे, कहीं इतना पानी कि ग्राम के ग्राम, खेतों के खेत डूब जायें अर्थात् इन वस्तुओं पर भी विज्ञान का अधिकार नहीं।

और फिर जहाँ ये समस्यायें नहीं वहाँ विज्ञान के सुन्दर आविष्कारों के होते हुए भी मनुष्य दुःखी है। एक क्षण के लिए भी उसे सुख नहीं। कहीं भय है, कहीं घृणा, कहीं युद्ध की तैयारियाँ हैं, कहीं भयङ्कर शस्त्रों के आविष्कार ! ऐसा प्रतीत होता है कि जिस विज्ञान को मनुष्य ने रक्षा के लिए अपना सहायक बनाया था वही उसे सर्वनाश की ओर ले जा रहा है। कोई भी समस्या उससे सुलझ नहीं पाती। नित नई समस्या को उत्पन्न अवश्य कर देता है। विज्ञान के चरम विकास की स्थिति में जब मनुष्य चन्द्रमा तक में निवास करने को तैयार बैठा है, मनुष्य की शान्ति उससे दूर ही बनी है। प्रश्न है क्यों ? महाकवि पन्त के शब्दों में हम कहना चाहेंगे—

चरमोन्नत जग में जब कि आज विज्ञान ज्ञान।
बहुभौतिक साधन, यन्त्र-यान वैभव महान ।।
प्रस्तुत हैं विद्युत् वाष्प शक्ति, धन बल नितान्त।
फिर क्यों जग में उत्पीड़न, जीवन यों अशान्त ?
मानव ने पाई देश-काल पर जय निश्चय।
मानव के पास न पर मानव का आज हृदय !
चाहिये विश्व को आज भाव का नवोन्मेष।
मानव उर में फिर मानवता हो प्रवेश !!

महाकवि ने समस्या के साथ ही उसका समाधान भी देने का यत्न किया है। सच में विज्ञान की यह चरमोन्नति मनुष्य के सामने एक बड़ा प्रश्न वाचक चिन्ह बन कर खड़ी है। प्रश्न है क्यों नहीं सुलझती समस्या ? क्यों नहीं मनुष्य को सुख मिलता ? इसलिए कि

यह विज्ञान अधूरा है, केवल जड़ पदार्थ के पीछे लगा है। इस प्रकृति में छिपी वास्तविक शक्ति को उसने समझा नहीं, फिर ये सारी उलझनें और भेद कैसे खुलेंगे? उत्तर यह है कि जब प्रकृति और आत्मा दोनों को साथ रख कर खोज होगी। इसी को अध्यात्मज्ञान या आत्मज्ञान कहते हैं।

हमारी धारणा यह है कि अध्यात्मवाद में निश्चित रूपेण लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की उलझनों के समाधान की पूर्ण शक्ति विद्यमान् है। चोरी का, भ्रष्टाचार को अनाचार, अत्याचार और व्यभिचार को अध्यात्मवाद ही दूर कर सकता है कोई राजनैतिक दल या शक्तिशाली राज्य प्रणाली दूर नहीं कर सकती। उपनिषद् काल में जब अध्यात्मवाद का प्रचार था तब लोगों के चरित्र बहुत ऊंचे थे। आपको एक कथा से विषय सुस्पष्ट हो सकेगा।

विदुर जी महाराज आज से लगभग ५ सहस्र वर्ष पूर्व संसार भर में घूम कर स्यात् इसी देहली में महाराज धृतराष्ट्र के पास पहुँचे तो महाराज ने कहा, "विदुर जी! सारा संसार घूम कर आये हैं आप, कहिये कहाँ कहाँ पर क्या देखा आपने?"

विदुर जी बोले, "राजन् कितनी आश्चर्य की बात देखी है मैंने सारा संसार लोभ की शृंखलाओं में फंस गया है। लोभ, क्रोध, भय के कारण उसे कुछ भी नहीं दिखाई देता, पागल हो गया है। आत्मा को वह जानता नहीं।"

तब एक कथा उन्होंने सुनाई। एक वन था बहुत भयानक उसमें भूला भटका हुआ एक व्यक्ति जा पहुँचा। मार्ग उसे मिला नहीं। परन्तु उसने देखा कि वन में शेर, चीते, रीछ, हाथी और कितने ही पशु दहाड़ रहे हैं। भय से उसके हाथ पाँव काँपने लगे। विना देखे वह भागने लगा। भागता-भागता एक स्थान पर पहुँच गया। वहाँ देखा कि पाँच विषधर सर्प फन उठाये फुंकार रहे हैं। उनके पास ही एक वृद्ध स्त्री खड़ी है, महान् भयङ्कर। सांप इसकी ओर लपका तो वह फिर भागा और अन्त में हांफता हुआ एक गढ़े में

जा गिरा जो घास और वृक्षों से ढका पड़ा था। सौभाग्य से एक बड़े वृक्ष की शाखा उसके हाथ में आ गई। उसको पकड़ कर वह लटकने लगा। तभी उसने नीचे देखा कि एक कुआं है और उसमें एक बहुत बड़ा सर्प–एक अजगर मुख खोले बैठा है। उसे देखकर वह काँप उठा शाख को दृढ़ता से पकड़ लिया कि गिर कर अजगर के मुख में न जा पड़े। परन्तु ऊपर देखा तो उससे भी भयंकर दृश्य था। छः मुख वाला एक हाथी वृक्ष को झंझोड़ रहा था और जिस शाखा को उसने पकड़ रक्खा था उसे श्वेत और काले रंग के दो चूहे काट रहे थे। भय से उसका रंग पीला पड़ गया परन्तु तभी मधु की एक बूंद उसके होठों पर आ गिरी। उसने ऊपर देखा। वृक्ष के ऊपर वाले भाग में मधु-मक्खियों का एक छत्ता लगा था उसी से शनैः शनैः शहद की बूंद गिरती थीं। इन बूंदों का स्वाद वह लेने लगा। इस बात को भूल गया कि नीचे अजगर है। इस बात को भी भूल गया कि वृक्ष को एक छः मुख वाला हाथी झंझोड़ रहा है। यह भी भूल गया कि जिस शाखा से वह लटका है उसे श्वेत और काले चूहे काट रहे हैं और इस बात को भी कि चारों ओर भयानक वन है उसमें भयंकर पशु चिंघाड़ रहे हैं।

धृतराष्ट्र ने कथा को सुना तो कहा, "विदुर जी ! यह कौन से वन की बात कहते हैं ? कौन है यह अभागा व्यक्ति जो इस भयानक वन में पहुंच कर संकट में फंस गया ?"

विदुर जी ने कहा, "राजन् ! यह संसार ही वह वन है। मनुष्य ही वह अभागा व्यक्ति है। संसार में पहुँचते ही वह देखता है कि इस वन में, रोग, कष्ट और चिन्तारूपी पशु गर्ज रहे हैं। यहीं काम, क्रोध लोभ, मोह और अहङ्कार के पाँच विषधर सर्प फन फैलाये फुंकार रहे हैं। यहीं वह बूढ़ी स्त्री रहती है जिसे वृद्धावस्था कहते हैं और जो रूप तथा यौवन को समाप्त कर देती है। इनसे डर कर वह भागा वह शाखा जिसे जीने की इच्छा कहते हैं हाथ में आ गई। इस शाखा

से लटके-लटके उसने देखा कि नीचे मृत्यु का महासर्प मुंह खोले बैठा है। वह सर्प जिससे आज तक कोई भी नहीं बचा, न राम न रावण न कोई राजा न महाराजा, न कोई धनवान् न कोई निर्धन, न मजदूर न पूंजीपति—कोई भी काल रूपी सर्प से आज तक बचा नहीं और छः मुख वाला हाथी जो इस वृक्ष को झझोड़ रहा था वह वर्ष है छः ऋतु ही उसके मुख हैं। लगातार वह इस वृक्ष को झंझोड़ता रहता है। और इसके साथ ही काले और श्वेत रंग के चूहे इस शाख को तीव्रता से कुरेदते हैं ये रात और दिन हैं जो प्रति दिन आयु को छोटा किये देतेहैं। कवि की यह वाणी कितनी सार्थक हैः—

गाफिल तुझे घड़ियाल यह देता है मुनादी।
गर्दू ने घड़ी उम्र की इक और घटा दी॥

और यह शहद की बूंद जो टपक रही थी वह है आशा और तृष्णा, जीने की आशा। "जीता रहूं, पीता रहूँ" यह आशा है। इस अवस्था में लटक रहा है मनुष्य। कभी कभी नीचे के सर्प और ऊपर के हाथी और चूहों को देख कर खबराता भी है।

जीवन रूपी शाखा कटती जाती है निरन्तर, और वन में दहाड़ रहे हैं पशु ! ऐसे व्यक्ति के लिये सुख कहां, शान्ति कहा ?

बालाये आसमां नहीं, जेरे जमीं नहीं।
राहत है जिस का नाम वह ऐ दिल कहीं नहीं॥

शान्ति और सन्तोष कहीं दिखाई नहीं देता। यदि है तो बता दो। ऐसी अवस्था में मनुष्य पुकारता है, पूछता है कि मेरे बचाव का मार्ग है या नहीं ? उत्तर है कि माग है। कौन सा माग है ? और किस प्रकार मनुष्य विवश होकर पुकारता है उसे शंकराचार्य के शब्दों में सुनिये—

कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं, का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः।
जाने न किञ्चित्कृपयाव मां भोः, संसार दुःखक्षतिमातनुष्ठ॥

(वि० चू०)

मैं इस संसार-समुद्र को कैसे तरूंगा ? मेरी क्या गति होगी ?

क्या इसका कोई उपाय है ? मैं तो जानता नहीं । प्रभु तू ही मार्ग बता कि संसार के दुःखों से कैसे बच सकूंगा ।

यह है उसकी पुकार ! यह पुकार उस भयानक जंगल में गूंजी तो आवाज आई—

मा भैष्ट विद्वंस्तव नास्ति नाशः, संसार सिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः ।
येनैव याता यतयोऽस्य पारं, तमेव मार्गं तव निर्दिशामि ॥

अरे ओ दुःखी मनुष्य ! विनाश से भयभीत न हो । तेरा विनाश नहीं होगा । संसार से पार जाने का उपाय है । जिस मार्ग को अपना कर यति लोग, योगी, सन्त और महात्मा लोग इस समुद्र से पार गये वही मार्ग तुझे दिखाता हूँ ।

जब यह ध्वनि उसने सुनी तो चारों ओर आश्चर्य से देखा । आश्चर्य के साथ उसने सोचा क्या वस्तुतः कोई मार्ग है ?

निश्चित रूपेण ऐसा मार्ग है । यह है वेदानुमोदित उपनिषदों का अध्यात्मवाद !

अध्यात्मवाद क्या और क्यों ?

स्मरण रखिये कि इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं । कुछ बालक-बुद्धि लोग कहेंगे कि क्या आपका यह अध्यात्मवाद संसार की सभी समस्याओं को हल कर सकता है ? क्या वह अन्न की कमी को पूर्ण कर सकता है ? इन शक्तियों को जो एक दूसरे का विनाश करने के लिये तुली बैठी हैं रोक सकता है ? क्या इन गृद्धों को समाप्त कर सकता है जो हमारे देश की सीमाओं पर इस प्रतीक्षा में बैठे हैं कि कब यह विशाल भारत दुर्बल हो और कब उसे नोच-नोच कर खायें ? क्या वह आर्थिक समस्याओं को, मजदूर और पूंजीपति की समस्या को हल कर सकता है ? यदि नहीं कर सकता तो फिर यह संसार-सागर से पार कैसे ले जा सकता है ?

ऐसे भाइयों को, ऐसी बहनों और माताओं को हम दावे के साथ कहना चाहेंगे कि हाँ वेद और उपनिषदों का अध्यात्मवाद यह सब

कुछ समाप्त कर सकता है। जो लोग यह समझने हैं कि वह ऐसा नहीं कर सकता वे यही नहीं समझ पाये कि अध्यात्मवाद है क्या ?

यह बात हम बड़े ही विश्वास पूर्ण हृदय से कहते हैं और उस इतिहास के आधार पर कहते हैं जो आज भी विद्यमान है। भारत में महाराज अश्वपति उस समय राज्य कर रहे थे। एक बहुत बड़ा वैश्वानर यज्ञ उनकी राजधानी में होने वाला था, पाँच महानुभाव ब्रह्मज्ञान की खोज में राजा अश्वपति के पास पहुँचे। राजा ने उन्हें कहा कि आपको भी उतना ही फल मिलेगा, जितना दूसरे ऋषियों को मिलेगा। परन्तु ब्राह्मण ने धन लेने से इन्कार किया। तब महाराज अश्वपति ने सोचा होगा, इस अस्वीकृति से कि यह हो सकता है कि उन्होंने समझा होगा कि मैं राजा हूँ। हर प्रकार का धन मेरे कोष में आता है। इसलिए ये ब्राह्मण और महात्मा मेरा दान नहीं लेते। इन्हें सन्देह है कि यह धन अच्छे लोगों का कमाया हुआ नहीं। तभी आगे बढ़ कर पूरे विश्वास के साथ उन्होंने कहा—सुनिये महात्मा गण !

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणो कुतः॥

हे विद्वान् ब्राह्मणो ! मेरे इस देश में कोई भी चोर नहीं, दूसरे के धन को छीनने वाला नहीं। यहाँ कोई कंजूस नहीं। ऐसा व्यक्ति नहीं जो दान न देता हो, कोई ऐसा नहीं जो शराब पीता हो। ऐसा भी नहीं जो प्रतिदिन यज्ञ न करता हो। कोई मूर्ख, अनपढ़ या अविद्वान् भी नहीं। सब लोग विद्वान् हैं। यहाँ कोई पुरुष व्यभिचारी नहीं तब व्यभिचारिणी स्त्री कैसे हो सकती है ?

यह घोषणा है जो अध्यात्मवाद के मार्ग पर चलने वाले और दूसरों को इस मार्ग पर चलाने वाला ही कर सकता है। संसार में अन्य राजा, महाराजा और शासक भी तो हुए हैं। और आज भी विद्यमान है क्या इनमे से कोई भी ऐसी घोषणा करने का साहस

कर सकता है। क्या वह अपने हृदय पर हाथ रखकर कह सकता है कि मेरे राज्य में कोई चोर नहीं, कोई डाकू नहीं, शराबी, कंजूस या अनपढ़ नहीं। बहुत बड़े राज्य हैं आज। बड़े विशाल। विज्ञान के आविष्कार भी बहुत हैं, परन्तु क्या कोई ऐसा राष्ट्र भी है, जहाँ कोई व्यक्ति दुराचारी न हो। बहुत से 'वाद' आज संसार में विद्यमान् हैं—साम्यवाद, पूंजीवाद, गणतन्त्रवाद, राज्यवाद, क्या किसी भी वाद को मानने वाले, किसी देश का मुखिया ऐसी बात कह सकता है ? क्या यह घोषणा कर सकता है कि हमारे देश में कोई भी बुरा मनुष्य नहीं ? ऐसी घोषणा केवल महाराज अश्वपति ही कर सकता था, जो अध्यात्मवाद के रहस्य को समझता था। स्वयम् इस मार्ग पर चलता था, दूसरों को चलाता था। यह कथा छान्दोग्य उपनिषद् में आती है।

और वेद भगवान् के अनुसार लिखे गये सभी उपनिषद् इसी अध्यात्मवाद का प्रचार करते हैं। सच में आज संसार के जितने रोग हैं उन्हें दूर करने की यदि कोई औषधि है तो अध्यात्मवाद है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का ऋषि घोषणा करता है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

जब मनुष्य इस आकाश को चमड़े की भाँति लपेट सकेंगे तब आत्मा-परमात्मा को जाने बिना दुःखों का अन्त भी हो सकेगा। अर्थात् जैसे आकाश को चटाई की भाँति लपेटना असम्भव है ऐसे ही आत्मा को जाने बिना दुःखों से बचना असम्भव है। दुःख भी एक नहीं, दो नहीं, सभी दुःखों की समाप्ति हो जायगी। यह है प्रत्येक व्याधि की चिकित्सा, प्रत्येक रोग की औषधि।

सब रोगों की, सब दुःखों की, सब कष्टों की एक ही चिकित्सा है अध्यात्मवाद। जब कभी संसार पर संकट आया है, जब कभी दुःखों के बादल इस प्रकार उमड़े कि उसे दूसरा कोई मार्ग नहीं मिला तब अध्यात्मवाद ने ही उसकी रक्षा की है।

उपनिषद् महिमा

जिस चतुर्युगी में आज हम रहते हैं इसको आरम्भ हुए अड़तीस लाख छियानवें सहस्र वर्ष हो चुके, वैसे पृथिवी को बने एक अरब सत्तानवें करोड़ वर्ष हो चुके। हम इसकी बात नहीं करते। वर्त्तमान चतुर्युगी की बात करते हैं, जो इस पृथिवी की अट्ठाइसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में आज से बीस पच्चीस लाख वर्ष पूर्व ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थ लिखे गये और जब विद्वान् ऋषियों ने देखा कि संसार के लोग बहुत दुःखी हुए जाते हैं तो उन ब्राह्मणों तथा आरण्यक ग्रन्थों से और उनके अतिरिक्त वेद भगवान् से उद्धरण लेकर ये उपनिषद् लिखे गये जिससे लोगों को दुःख से बचने का सीधा और साफ मार्ग बताया जा सके। सबके सब आर्य उपनिषद् इन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों और वेद भगवान् के भाग हैं।

उन उपनिषदों की ओर आर्य जाति से बाहर पहले किसी की दृष्टि गई तो औरंगजेब के बड़े भाई और प्रभुभक्त राजकुमार दाराशिकोह की। वह बहुत विद्वान् था। धर्म-ग्रन्थों से उसे बड़ा प्रेम था। उन्होंने कुरान शरीफ को पढ़ा, बाइबिल को पढ़ा। कई अन्य धार्मिक ग्रन्थों का भी स्वाध्याय किया। इन सब पुस्तकों को वह 'अस्मानी पुस्तकें" कहता था। उसका विश्वास था कि ये सबकी सब आकाश से, ईश्वर से उतरी हैं। परन्तु सब को पढ़ने के पश्चात् भी उसे शान्ति नहीं मिली। मन को सन्तोष नहीं हुआ। यह आज से ३०० वर्ष से भी कुछ पहले की बात है। तब किसी ने उसे बताया कि हिन्दुओं के पास ऐसा ग्रन्थ है जिससे शान्ति मिलती है, सन्तोष मिलता है। यह भी ज्ञात हुआ कि उसका नाम उपनिषद् है। यह भी पता चला कि उपनिषद् को जानने वाले विद्वान् ब्राह्मण काशी में रहते हैं। कश्मीर से वह बनारस पहुँचा। वहाँ कितने ही विद्वान् ब्राह्मणों को एकत्रित करके उसने उपनिषद् सुनने आरम्भ किये। ज्यूं-ज्यूं सुने त्यूं-त्यूं उसके मन में एक विचित्र शान्ति उत्पन्न हुई। सुनता रहा। सुनने के पश्चात् इच्छा हुई शान्ति देने वाले इन ग्रन्थों को स्वयं पढ़ूं,

एकान्त में बैठ कर इन पर विचार करूं। यह सोचकर उसने निर्णय किया कि "संस्कृत पढ़ूंगा"।

परन्तु ज्ञान के इस पिपासु को किसी ने संस्कृत पढ़ाना स्वीकार नहीं किया। ब्राह्मणों ने कहा, "तू म्लेच्छ है, तुझे संस्कृत कैसे पढ़ावें।" दाराशिकोह दुःखी होकर लाहौर पहुँचे। वहाँ रावी के किनारे एक वैरागी साधु रहता था। उससे मिलने गये तो साधु ने इन्हें दुःखी देख कर पूछा, "राजकुमार आप दुःखी क्यों हैं?" दारा शिकोह ने कहा, "बाबा मैं संस्कृत पढ़ना चाहता हूँ, कोई मुझे पढ़ाता नहीं।" बैरागी ने हँसते हुए कहा, "इतनी सी बात से दुःखी हो गये? "मैं पढ़ाऊँगा संस्कृत।" उस वैरागी से दाराशिकोह ने संस्कृत पढ़ी। उपनिषद् उसने पहले केवल सुने थे अब उन्हें स्वयं पढ़ा। शान्ति से उन पर विचार किया तो उसकी आत्मा में एक नवीन ज्योति उत्पन्न हुई। उसने निर्णय किया कि ऐसे सुन्दर ग्रन्थों का अनुवाद फारसी भाषा में होना चाहिये। यह निश्चय करके उसने स्वयं ही यह अनुवाद आरम्भ किया। सन् १६५७ से सन् १६७४ तक सत्रह वर्ष वह अनुवाद करता रहा। बावन उपनिषदों का अनुवाद उसने किया।

अपने इस महान् ग्रन्थ की भूमिका में उसने लिखा—

"मैंने अध्यात्म विद्या के बहुत से ग्रन्थ पढ़े हैं परन्तु परमात्मा की खोज की प्यास, जो अथाह सागर की भाँति है, पल-पल बढ़ती ही गई। बड़ी-बड़ी सूक्ष्म समस्या और प्रश्न हृदय में उत्पन्न होते थे जिन का समाधान ईश्वरीय ज्ञान के अतिरिक्त नहीं हो सकता था। मैंने कुरान, तौरेत, अंजील, जबूर और कई अन्य ग्रन्थों को पढ़ा परन्तु इनमें ईश्वर का वर्णन केवल संकेतों में मिला। मन की प्यास नहीं बुझा सका। तब हिन्दुओं की ईश्वरीय पुस्तकों का पता लगा। मुझे ब्रह्मज्ञान की धुन लगी हुई थी। मैंने निश्चय किया कि उपनिषदों का जो ब्रह्मज्ञान का भण्डार है, फारसी में अनुवाद करूं। हजरत नबी की एक आयत इन्हीं प्राचीन और छुपी हुई पुस्तकों के सम्बन्ध

में है। उपनिषदों का अध्ययन आत्मा में शाश्वत शान्ति और आनन्द को उत्पन्न करता है।"

यह दाराशिकोह ने लिखा है। औरंगजेब की बेटी जेबुन्निसा ने जब अपने चाचा को इस नई मस्ती और प्रसन्नता में देखा तो एक दिन बोली, "अब्बा! यह आपके भीतर जो मस्ती और शान्ति आ गई है यह कैसे आ गई है?" दाराशिकोह ने कहा "उपनिषदों के अध्ययन से।" जेबुन्निसा ने पूछा, "उपनिषद् क्या हैं?" दाराशाह ने उसे बताया। प्रत्येक उपनिषद् के उपदेश को उसके समक्ष रक्खा। जेबुन्निसा कई दिन तक अपने विद्वान् चचा से इस अमृतभरे ज्ञान को प्राप्त करती रही और तब उस पर ऐसा रंग चढ़ा कि संसार की वास्तविकता उसके समक्ष प्रकट हो गई।

औरंगजेब सम्राट् था। दूर-दूर से लोग उसके लिये भेंट लाते थे। एक चीनी व्यापारी अपने देश से आया तो चीन का बना हुआ एक शीशा लाकर उसने औरंगजेब को भेंट किया। बादशाह ने शीशे को महल में भेज दिया कि जेबुन्निसा को आवश्यकता हो तो रख ले। जेबुन्निसा ने रख लिया शीशा। एक दिन शरद् ऋतु में वह छत पर धूप में बैठी थी कि शीशे की याद आई। दासी से बोली, "जा वह शीशा है न, जो चीन से आया था उसे ले आ।" दासी अन्दर गई शीशा उठाया। अब यह शीशा कम्बख्त ऐसी वस्तु है कि जिसके हाथ में आये उसी का जी चाहता है कि पहले अपना मुख देख ले। दासी ने भी देखा अपना मुख, देखते ही शीशी उसके हाथ से छूटा, फर्श पर गिरा, और टूट गया। दासी ने यह देखा तो उसके पैर तले से भूमि निकल गई, मुख मण्डल पीला, हृदय धक्-धक्। डरते हुये उसने सोचा, "अब मेरी खाल खिचवा दी जायेगी।" सहमी हुई खड़ी रही। जेबुन्निसा ने जब देखा कि बहुत देर हो गई तो पुकार के दासी को आवाज दी, बोली, "अरे भाई! तुझे शीशा लाने को कहा था न।" दासी डरी हुई और सहमी हुई उसके पास आई काँपती वाणी में बोली—

अज़ कज़ा आइनाये चीनी शिकस्त।

मेरी शामत आ गई राजकुमारी ! मेरे खोटे कर्म से वह शीशा जो चीन से आया था टूट गया है।

वह दण्ड की प्रतीक्षा में थी परन्तु उसे क्या पता कि जेबुन्निसा पर उपनिषदों का रङ्ग चढ़ चुका है। जेबुन्निसा मुस्कराकर बोली क्या कहती हो—

अज़ कज़ा आइनाये चीनी शिकस्त।
खूब शुद सामाने खुद बीनी शिकस्त ।।

अच्छा हुआ विलासिता का सामना समाप्त हो गया, मैं प्रति दिन उसे देखती, अभिमान होता। जब देखूंगी नहीं तो अभिमान भी न होगा।

यह उस पर प्रभाव हुआ। यह उपनिषद् का जादू है। जो इन्हें पढ़ता या सुनता है उसी पर जादू होता है। यह सन् १६५७ की बात है। तब एक सौ वर्ष तक किसी अन्य भाषा में उपनिषदों का अनुवाद नहीं हुआ परन्तु एक सौ वर्ष बाद सन् १७५७ में बङ्गाल के नवाब शुजाउद्दौला के दरबार में मिस्टर जटियल नाम का एक फ्राँसीसी राजदूत था उसने किसी से फार्सी की उन उपनिषदों को सुना। सुना और मस्त हो गया। फार्सी के उपनिषद् उसने खरीदे। फ्रांस में ले गया। वहाँ एक सज्जन बर्नियर को दिये कि वह भी इन्हें पढ़े। बर्नियर पर भी जादू हुआ। उसने ये उपनिषद्, उनका कुछ भाग पैरिस के बड़े पादरी डूपारन को सुनाया उसने सुना तो निश्चय किया कि इन उपनिषदों को संस्कृत भाषा में पढ़ूंगा। वह पैरिस से चला। भारत में पहुँच गया। वहां १४ वर्ष तक संस्कृत पढ़ता रहा। संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उसने उपनिषदों को पढ़ा। उनका अनुवाद सन् १८०१ में फ्रैञ्च भाषा में किया। इस अनुवाद को कई लोगों ने पढ़ा। परन्तु सन् १८१२ में जब जर्मनी के महान् दार्शनिक पं० शौपनाहर ने इन्हें पढ़ा तो वह चकित हो गया। उपनिषदों के सम्बन्ध में लिखते हुए उसने कहा—

"यद्यपि हमारे लिए संस्कृत का समझना कठिन है और हमारे पास वे साधन नहीं जिनसे ठीक रूप में हम संस्कृत के रहस्यों को समझ सकें तो भी जहां तक हमने खोज की है उपनिषदों के प्रत्येक भाग में गम्भीर विचार और उच्च भावनाएं विद्यमान हैं। उपनिषदों का प्रत्येक उपदेश बहुत महत्वपूर्ण विचारों की पहुँच बहुत ऊंची तथा सच्ची भावनाओं से भरपूर है। सद्यः भारत का वायुमण्डल हमारे आसपास घूम रहा है। कितने ही महापुरुषों के पवित्र और ऊंचे विचार हमारे अन्दर प्रविष्ट हो रहे हैं। संसार में किसी भी पुस्तक का स्वाध्याय इतना लाभ देने वाला और आत्मा को ऊपर उठाने वाला नहीं जितना उपनिषदों का है। मेरे आत्मा को उपनिषदों से ही शान्ति मिली है और मरने के पश्चात् भी इन्हीं से शान्ति मिलेगी।"

मैक्समूलर ने जब उपनिषदों को देखा तो लट्टू हो गया। उपनिषद् पढ़ने के लिए वह पैरिस पहुँचा। वहां फ्रैञ्च, फार्सी भाषाओं में उपनिषदों को पढ़ा। और बिना किसी झिझक के उसने लिखा:—

"ये उपनिषद् उन लोगों की बुद्धि का फल है जो महान् बुद्धि वाले थे। हमारा ईसाई मत उनके समक्ष कभी जड़ नहीं पकड़ सकता। भारत की यह विद्या यूरोप भर में बह निकलेगी और हमारे ज्ञान तथा विचारों में परिवर्तन लायेगी।"

और तब अपनी पुस्तक "India what can it teach us" उन्होंने लिखी। मैक्समूलर जी ने लिखा—

"यदि वास्तविकता को जानने का उद्देश्य यह है कि मनुष्य मृत्यु के भय से बच जाये और मृत्यु के लिए पूरी शक्ति से तैयार हो जाये तो मेरी सम्मति में उपनिषदों के वेदान्त का अध्ययन करने के अतिरिक्त दूसरा कोई भी श्रेष्ठ मार्ग नहीं। मैं उपनिषदों का बहुत ऋणी हूं कि उनसे मुझे अपने जीवन सुधार में बहुत सहायता मिली है। ये उपनिषद् ग्रन्थ सारे संसार के धार्मिक साहित्य में आत्मिक उन्नति के लिए सदा एक बहुत उच्च और समादरणीय स्थान घेरे रहे हैं और सदा घेरे रहेंगे।"

स्वेडन के विद्वान् पालडयूसन ने उपनिषदों के विषय में लिखा—

"उपनिषद् मनुष्य की मेधा का अनमोल फल है। जीवन और मृत्यु के समय, केवल दुःख और कष्ट के समय नहीं अपितु हर समय प्रतिक्षण उन से ऐसी शान्ति मिलती है जैसी और कहीं भी नहीं मिलती। भारत के लोगों के पास आत्मज्ञान और आत्मशान्ति का ऐसा कोष है जो संसार में और किसी के पास भी नहीं। मैं जब भारत की यात्रा के लिए गया तो बहुत सी लाभप्रद बातें मुझे मिलीं। परन्तु सबसे लाभदायक और सबसे महत्वपूर्ण है पवित्र भाषा में ऋषियों का ज्ञान देने वाले उपनिषद्।"

यह पालडच्यूसन ने लिखा। इसके पश्चात् मिस्टर ह्यम ने अपनी पुस्तक Dogmas of Budhism में लिखा:—

"मैंने अरस्तु, सुकरात, अफलातून और कितने ही अन्य विद्वानों के ग्रन्थ ध्यान से पढ़े हैं। परन्तु जैसी विद्या इन उपनिषदों में मैंने देखी और जितनी शान्ति उनसे पाई वैसी तो और किसी भी स्थान पर मुझे नहीं मिली।"

और अपनी पुस्तक 'Is God Knowable' में श्री जी० आर्क एम० ए० ने लिखा—

"उपनिषदों के ज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य की आत्मिक, मानसिक और सामाजिक आवश्यकताएं किस प्रकार पूर्ण हो सकती हैं। वेदान्त अर्थात् उपनिषदों की शिक्षा अत्यन्त ऊंची सुन्दर और ऐसे सत्य से भरपूर है जो मनुष्य के हृदय पर चित्रित हो जाता है क्योंकि जब मनुष्य संसार के दुःखों और चिन्ताओं में घिर जाता है तब इन के अतिरिक्त उसके मन और आत्मा को शान्ति देने के लिये दूसरा कोई भी साधन उसे नहीं मिलता जो उसे सहारा दे सके।"

यह है उपनिषदों की महिमा, अति संक्षेप में, पर हम स्मरण रक्खें कि उपनिषदों में प्रतिपादित ज्ञान केवल एक बार के सुनने से ही हृदय में नहीं बैठता। बार-बार श्रवण, बार-बार मनन और निदिध्यासन करने से उसका रहस्य खुलता है। बड़े-बड़े तत्वज्ञानी उपनिषदों के रहस्य के मनन करने में अपना जीवन लगा देते थे। वे

उसका ज्ञान पाने के लिए बड़े-बड़े तपस्वी ज्ञानी गुरुओं की उपासना करते थे। वे वैराग्यनिष्ठा और व्रत को धारण करके ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त करते थे। इससे ये उपनिषद् कहाती हैं। (उप=पास, नि-षद्=बैठना) गुरु के पास बैठकर इनके रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता था। इनके अतिरिक्त ब्रह्मज्ञान के बल से अल्प-ज्ञानी जीव अपने परम गुरु ज्ञानमय परब्रह्म के समीप पहुंचता है। इस कारण भी गुह्य-ज्ञान देने हारे मन्त्रों को उपनिषद् कहा जाता है।

सब उपनिषदों में मुख्य ११ उपनिषद् हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। ये उपनिषदें वेद के आध्यात्मिक ज्ञान की व्याख्या और उपदेश करती हैं। वास्तव में 'वेदान्त' यही उपनिषद् हैं।

यहाँ प्रथम ६ उपनिषदों का भाष्य प्रस्तुत है। अनेक वैदिक विद्वानों ने उपनिषदों पर बड़ी उत्तम टीकायें की हैं। मुनिवर पं० गुरुदत्त जी की टीका बहुत उत्तम है। किन्तु अप्रतिम तार्किक स्वामी दर्शनानन्द जी का भाष्य सर्वोत्तम है। निःसन्देह उपनिषदों के रहस्य इतने स्पष्ट किसी भी टीका में नहीं समझाये गये।

स्वामी दर्शनानन्द जी का भाष्य केवल प्रथम ६ उपनिषदों पर ही प्राप्त है, जिसे हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। इस भाष्य को प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् श्री स्वामी वेदानन्द जी ने संशोधित कर और भी निखार दिया है। यह संशोधित संस्करण 'राजपाल एण्ड सन्स' द्वारा प्रकाशित हुआ था, जो अब वर्षों से अनुपलब्ध था। 'तपोभूमि' के वृहदाङ्क के रूप में इसके पुनः प्रकाशन से हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। हमारा विश्वास है कि इन पवित्र उपनिषदों के मनोयोग पूर्वक पारायण से हमारे 'तपोभूमि परिवार' का आत्मिक बल बढ़ेगा और मनःशान्ति मिलेगी।

सद्भावनाओं सहित,

आपका अपना ही—ईश्वरीप्रसाद 'प्रेम'

ओ३म्

ईशोपनिषद्

भाष्यकार की भूमिका

प्रश्न—कोई भी मनुष्य प्रयोजन के बिना कोई कार्य नहीं करता, ईशोपनिषत् का भाष्य करने में तुम्हारा क्या प्रयोजन है? और इसमें किन बातों का वर्णन होगा?

उत्तर—प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा है कि वह दुःख से छूट कर सुख प्राप्त करे। संसार के समस्त मनुष्य दिन रात इसी प्रयत्न में लगे रहते हैं, किन्तु वेद विद्या का ज्ञान न होने से, सुख दुःख के ठीक-ठीक साधनों को न जानकर, दुःख देनेवाली वस्तुओं को सुखदायक समझ कर दुःख उठा रहे हैं, और ईश्वर जीव और प्रकृति का यथार्थ ज्ञान न होने से मनुष्य जीवनरूपी अमूल्य रत्न को पशुओं की तरह पेट पालने में गँवा रहे हैं। हजारों मनुष्य इस सत्य के न जानने से ऐसे कुमार्ग पर चल रहे हैं कि उनकी पूँजीका लुटेरोंके हाथों नष्ट होनेका हर घड़ी भय है। सब दुःखों से छुड़ा कर सुख देने वाले परमात्मा को लोगों ने इस भाँति भुला

दिया है कि प्रायः सारे संसार में उसके यथार्थ स्वरूप के जानने वाले मनुष्य बहुत थोड़े रह गये हैं। शेष सब मनुष्य ईश्वर की स्तुतिके स्थानमें उसकी निन्दा कर रहे हैं।*कोई उस सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् को अर्श के कोठे पर कैद कर रहा है और अपने कार्यों को दूसरों की सहायता के बिना करने में समर्थ प्रभु की सहायता के लिये,फरिश्तों(देवदूतों)तथा पैगम्बरों की सेनायें संग्रह कर रहा है। तथा उसके पवित्र व्यक्तित्व को प्रिय रसूलपर आसक्त बता रहा है और समस्त संसार की उत्पत्ति अपने रसूल के लिये बता रहा है। +कोई परमेश्वरके साथ दो और सत्ताएँ मिलाकर पिता, पुत्र और पवित्रात्मा के त्रित्व का डङ्का वजा रहा है। ×कोई ईश्वर की सत्ता न मानकर, संसार को अनादि बता रहा है और मुक्तात्माओं को तीर्थंकर और सिद्ध कह कर मोक्ष-शिला पर भेज करके उनकी नंगी मूर्तियों की, संसार में पूजा करा रहा है। भाव यह कि चारों ओर ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसा अज्ञान फैल रहा है कि जब तक इन पदार्थों के सम्बन्ध में ठीक२ ज्ञान संसार में न फैल जाये,तब तक कोई मनुष्य सुख और शांति से जीवन नहीं बिता सकता, लक्ष्य तक पहुँचने की तो बात ही क्या ?

समस्त संसार का धर्म, कर्म, मान, कुलीनता और सदाचार कांचन के आश्रित हो रहा है। जिसके पास धन है, अनेक दोषों के होने पर भी वह सदाचारी है। बिरादरी में उसके दुराचारों पर दृष्टि डालने वाला कोई नहीं है। और जिसके पास धन नहीं है वह गुणवान् होता हुआ भी किसी मान के योग्य नहीं समझा

---

* मुसलमान।

+ईसाई। ×दिगम्बर जैन।

जाता। इस अवस्था को देखकर ब्राह्मण, साधु भी, जिनके मत में धन रखना भारी पाप माना जाता था, धन कमाने में लग गये। बड़े-बड़े धर्म प्रचारकों को भी धन कमाने की धुन ने धर्म के मार्ग से हटा कर, अधर्म के पथ का पथिक बना दिया है। जिनके भरोसे पर लोग अपनी जीवन-नौका को संसार-सागर से पार लगाने की कामना कर रहे थे, वे लोग भी टका के जाल में फँस कर, अपनी ही जीवन-नौका को भँवर में फँसा बैठे हैं। इस अवस्था को देख कर इस बात की आवश्यकता अनुभव हुई कि उर्दू जानने वालों को ईश्वर, जीव और प्रकृति का ठीक-ठीक ज्ञान कराने के लिए, उपनिषदों की, जो वेदमन्त्रों के ऋषिप्रणीत व्याख्यान हैं, उर्दू में व्याख्या की जाये। और कुछ सज्जनों के कहने से यह भी प्रतीत हुआ कि व्याख्या संक्षिप्त और शब्दार्थ मात्र न हो, वरन् जहाँ तक हो सके, पूरे विस्तार के साथ और आवश्यकतानुसार आवश्यक तर्क-वितर्क के साथ यह व्याख्या की जाये। यद्यपि मेरी विद्यासम्बन्धी योग्यता इस प्रकार की नहीं कि मैं इस प्रकार के भार और उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य को वहन कर सकूँ, तथापि परमात्मा की कृपापूर्ण सहायता के भरोसे इस कार्य को करने का यत्न किया जायेगा।❀

—(स्वामी) दर्शनानन्द

❀ अप्रतिम तार्किक ने अपनी शालीनता की पराकाष्ठा कर दी है। सच तो यह है कि उपनिषदों के रहस्य इतने स्पष्ट किसी भी टीकामें नहीं समझाये गये। हां, पण्डित गुरुदत्त जी की टीका भी बहुत उत्तम है। स्वामी दर्शनानन्द जी ने मूल पुस्तक उर्दू में लिखी थी। उसका हिन्दी भाष्य बाद में किया गया जिसे हमें प्रस्तुत कर रहे हैं।

भाष्यारम्भ

यह उपनिषद् यजुर्वेद की काण्व शाखा ❀ का चालीसवाँ अध्याय है। इसमें सारे मन्त्र ज्ञानकाण्ड के हैं। विचारने से निश्चय हुआ है कि यह उपनिषद् शेष सारी उपनिषदों का मूल है। चूँकि यह उपनिषद् वेद के अन्त में है इस वास्ते इसका नाम 'वेदान्त' रखा गया और शेष उपनिषदें भी इसी कारण वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध हुईं। व्यासजी ने अपने रचे ब्रह्मसूत्रों में उपनिषदों के विषय—ब्रह्मसिद्धि को लिया, अतः वह वेदान्त हुआ। इन सबको वेदान्त कहने का एक अन्य कारण भी है वह यह कि ब्रह्मज्ञान ज्ञान की अन्तिम सीमा है। वेद का अर्थ है ज्ञान, वेद=ज्ञान का अन्त=वेदान्त। ब्रह्म को जानने में बुद्धि से पूरा काम नहीं चलता, क्योंकि प्रकृति की अपेक्षा जीव सूक्ष्म है, उसका बोध भी इन्द्रियों से नहीं होता, वरन् जीव के कार्य और गुणों के प्रत्यक्ष होने से, साधारण लोगों को उसकी सत्ता का अनुमान हो सकता है। ब्रह्म जीव से भी सूक्ष्म है और ऐसा सूक्ष्म कि इन्द्रियों से उसका ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता। उसके लिए शब्द प्रमाण की आवश्यकता है और आचार्य लोग वेद को परम× प्रमाण मानते हैं, इस वास्ते ब्रह्म सम्बन्धी

❀ शाखा वेद के उस व्याख्यान को कहते हैं, जिसमें मन्त्र के किसी एक शब्द के स्थान में कोई दूसरा शब्द रख दिया जावे, या समझाने के लिये कोई एकाध वचन बढ़ा दिया जाये।

× धर्मतत्वजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः (मनु०) धर्मतत्व के जिज्ञासुओं के लिए वेद परम प्रमाण है।

वेदमन्त्रों और उनकी व्याख्या का नाम वेदान्त हुआ।

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

पदार्थ— (ईशा) ईश्वर से (आवास्यम्) ढका हुआ (इदम्) यह (सर्वम्) सब (यत्) जो (किं+च) कुछ (जगत्याम्) जगत् वा संसार में (जगत्) उत्पन्न और नाश होने वाला है (तेन) उससे (त्यक्तेन) छोड़ने से या दिए हुए से (भुंजीथाः) भोग कर (मा) मत (गृधः) लो या लूटो (कस्य+स्वित्) किसी के (धनम्) धन को।

भावार्थ—जो कुछ इस नाशवान् संसार में खण्ड या अखण्ड पदार्थ हैं, वे सब ईश्वर से प्राप्त या ईश्वर से ढके हुए हैं, अर्थात् परमेश्वर हर वस्तु में विद्यमान् है। पर्वत की कोई ऐसी गहरी से गहरी गुफा नहीं जिसमें भगवान् विद्यमान् न हों, समुद्र का कोई गहरे से गहरा तल ऐसा नहीं जहाँ परमात्मा न हो, पर्वतों का कोई शिखर ऐसा नहीं जो परमात्मा से खाली हो, सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि जितने लोक लोकान्तर हैं सब जगह परमात्मा विद्यमान है। मनुष्य भगवान् से कहीं भी नहीं छिप सकता है।

जो लोग ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध चलते हैं अर्थात् ईश्वर का त्याग कर देते हैं वे जन्म-मरण के दुःखों को भोगते हैं। अतः प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि भगवान् को सब स्थानों में विद्यमान मान कर और उसके उलटा मानने को दुःखों का मूल समझ कर, पाप करने के लिए कभी भी तैयार न हो और किसी का धन लेने की इच्छा न करे। क्योंकि परमात्मा का नियम है कि हर एक मनुष्य को उसके कर्मों के अनुसार भोग मिलता है, और कोई मनुष्य उसके विरुद्ध यत्न करने से भोग

प्राप्त नहीं कर सकता। अतः दूसरों का धन लेने की इच्छा से पाप तो अवश्य होगा किन्तु भोग में भेद न होगा। इसी को कहते हैं—'भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः' (लहसुन खाकर भी रोग न हटा।)

प्रश्न—इस मन्त्र में ईश्वर का सर्वत्र विद्यमान् होना बताया गया है किन्तु हम ईश्वर को नहीं देखते। हम तुम्हारे इस मन्त्र को मानें या अपनी आँखों से देखे हुए पदार्थों को स्वीकार करें ? यदि ईश्वर है तो बताओ, कहाँ है ?

उत्तर—बहुत से पदार्थ सूक्ष्मता या दूरी आदि के कारण इन्द्रियों से नहीं जाने जाते, किन्तु उनकी सत्ता को सभी स्वीकार करते हैं, जैसे बुद्धि, सुख, दुःख आदि। इससे सिद्ध होत है कि संसार में ऐसे भी पदार्थ हैं जिनको मनुष्य इन्द्रियों से नहीं जान सकते, उनमें से एक ईश्वर है। और यह प्रश्न है कि ईश्वर कहाँ है, सर्वथा अनुचित है। क्योंकि 'कहाँ' शब्द सीमित परिमिति के लिए आता है। मन्त्र में ईश्वर को असीम-अपरिछिन्न बतलाया है। उदाहरणार्थ—कोई पूछे कि दूध में घी या मिश्री में मिठास कहाँ है ? तो उत्तर होगा, सर्वत्र। इससे सिद्ध हुआ कि 'कहाँ' का आक्षेप एक देशी पदार्थों पर लागू होता है, सर्वव्यापक पर नहीं।

प्रश्न—जो लोग ईश्वर को नहीं मानते, वे अधिक धनी दाखते हैं, जैसे जैन आदि नास्तिकवर्ग। इससे प्रतीत होता है कि ईश्वर को मानने से दरिद्रता तथा विपत्तियाँ मिलती हैं।

उत्तर—प्रथम तो यह कल्पना ठीक नहीं कि नास्तिक लोग अधिक धनी होते हैं, बहुत से ईसाई, यहूदी जो ईश्वर के अस्तित्व के विश्वासी हैं बड़े-बड़े धनी देखे जाते हैं। दूसरे—

धनी होना कोई विशेष अच्छी बात नहीं है। जितने धनी दीखते हैं उन सब में चित्त की अशान्ति तथा अनेक त्रुटियाँ ही अधिक दीखती हैं। वैदिक धर्मी ऐसे धन को जिससे मुक्ति के मार्ग में रुकावट के सिवा कोई लाभ न हो बुरा मानते हैं।

प्रश्न—क्या कोई मनुष्य धन के बिना सफल होता है ?

उत्तर—संसार में तो मनुष्य को धन की आवश्यकता प्रतीत होती है, किन्तु इसके कारण मनुष्य अपने लक्ष्य से दूर जा पड़ता है। जो लोग धर्म और धन (संसार और परमात्मा) को एक साथ चाहते हैं, वे महामूर्ख हैं। किसी कवि ने क्या ही अच्छा कहा है—'दुविधा में दोनों गए माया मिली न राम।'

प्रश्न—क्या वेदों में धन कमाने का विधान नहीं है ?

उत्तर—वेदों में प्रत्येक उस वस्तु का, जिसकी जीवों को आवश्यकता पड़ती है, वर्णन है। और सभी लोग धन की कामना भी करते हैं। किन्तु वेदों में धन को मुक्ति का साधन कहीं भी नहीं लिखा, वरन् योगाभ्यास और वैराग्य को मुक्ति का साधन बतलाया है। वैराग्य का अर्थ है समस्त प्राकृतिक पदार्थों की कामना का त्याग। जो लोग प्राकृतिक पदार्थों की कामना से आक्रान्त हैं, वे ईश्वरादेश के विरुद्ध चलते हैं। संसार में जितने झगड़े हुए हैं, उन सब का मूल दूसरे का अधिकार छीनना है। यदि मनुष्य केवल इसी मन्त्र के अनुसार अपना चलन बना लें, तो संसार से सब कलह दूर हो जायें। चोरी, डाकों और सेना की आवश्यकता न रहे, कचहरियाँ बन्द हो जायें। संसार में जितनी त्रुटियाँ दीखती हैं, कहीं इनका चिन्ह भी न रहे। प्रत्येक मनुष्य संसार में ही स्वर्गीय सुख का उपभोग करने लगे ॥१॥

प्रश्न—क्या ईश्वर के भय से, वैराग्य प्राप्त करके, कर्मों को सर्वथा त्याग देना चाहिए ?

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे ॥२॥

पदार्थ—(कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (इह) इस संसार में (कर्माणि) कर्मों को (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे (शतम्) सौ (समाः) वर्ष, (एवम्) इस भाँति (त्वयि) तेरे वास्ते (न) नहीं (अन्यथा) दूसरा उपाय (इतः) इससे (अस्ति) है (न) नहीं (कर्म) कर्म (लिप्यते) लिप्त होता (नरे) मनुष्य को ।

भावार्थ—इस मन्त्र में जीव को इस बात का उपदेश है कि—हे जीव ! तुम इस संसार में सौ वर्ष तक कर्म्म करते हुए जीने की इच्छा करो, अर्थात् सम्पूर्ण जीवन कर्म्म में लगे रहो । तुम्हारे लिये यही सबसे श्रेष्ठ मार्ग है । शुभ कर्म्म जीव के लिये बन्धन का कारण नहीं होते । बहुत से लोग यह कहेंगे कि मन्त्र में तो 'कर्म्म' शब्द है, तुम शुभ कर्म्म किस प्रकार कहते हो ? इसका समाधान यह है कि ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध, दूसरों का धनादि लेने रूप कर्म्मों का पिछले मन्त्र में निषेध हो चुका है, उनके अतिरिक्त जो कर्म्म हैं, वे ईश्वर के आदेश के अनुकूल होने से शुभ हैं, उनमें किसी प्रकार का दोष नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर दुःखदायक कर्म करने का जीव को उपदेश नहीं कर सकता । और कर्म्म करने के उपदेश का तात्पर्य भी यही है कि मनुष्य शुभ कर्म्म करे । मनुष्य भला बुरा कोई न कोई कर्म्म सदा करता ही रहता है, उसे कर्म्म करने का उपदेश करने की कोई आवश्यकता नहीं । पिछले मन्त्र में पर-धन-हरण आदि कर्म्मों का निषेध करके इस मन्त्र में कर्म्मों का उपदेश इसलिये

किया कि शुभ कर्म्मों के बिना मनुष्य बुरे कर्म्मों से बच नहीं सकता। बुरे कर्म्मों का फल दुःख है, और मनुष्य दुःख पाने की कामना से कोई कर्म्म नहीं करता। इस सारे उपद्रव को दूर करने के लिये उपदेश किया कि किसी समय भी शुभ कर्म्मों से विलग न हो, ताकि अवकाश मिलने से बुरे कर्म्मों का विचार ही उत्पन्न न हो। मन हर समय कर्म्म करता रहता है, उस अवस्था को छोड़ कर, जबकि मन को सुषुप्ति या समाधि के बल से रोक दिया जाये, मन किसी समय कर्म्म से पृथक् नहीं होता। मनुष्य का सब से बड़ा कर्तव्य यह है कि वह मन को अवकाश ही न दे। इस बात को एक दृष्टान्त से समझाते हैं—

दृष्टान्त

"एक बार किसी धनी के पास एक मनुष्य ने नौकरी करने की इच्छा की। धनी ने पूछा—क्या वेतन लोगे ? नौकरी के अभिलाषी ने कहा—मेरा वेतन यही है कि मुझे हर समय कार्य मिलता रहे। जब तुम कार्य न दोगे, मैं तुम्हे मार डालूँगा धनी ने सोचा, यह तो बहुत अच्छा सेवक है, जो वेतन कुछ नहीं मांगता, किन्तु कार्य करने के लिये सदा उद्यत है और कभी आराम लेने का नाम भी नहीं लेता। मुझे अपने कार्य्यों के लिये अनेक मनुष्यों की अपेक्षा रहती है। जब कार्य्य होगा, इसी से करायेंगे, शेष को निकाल देंगे। इस प्रकार सोच कर उस धनी ने उसकी शर्त मान ली। नौकर बहुत शीघ्रकारी था। इधर मुख से कार्य्य का आदेश निकला नहीं कि कार्य्य पूरा हुआ नहीं। दो ही दिन में धनी के सब काम समाप्त हो गये। अब उसे चिन्ता हुई कि यदि इसे कार्य्य नहीं दिया तो यह अवश्य मार डालेगा। यदि कार्य्य दें, तो इतना कार्य कहां से लायें ? इस

चिन्ता ने धनी के चित्त को सर्वथा व्याकुल कर दिया। खान-पान सब नीरस हो गया। एक दिन किसी बुद्धिमान ने धनवान् से पूछा—इतनी धन सम्पत्ति होते तुम इतने दुर्बल क्यों होते चले जाते हो। धनी ने सारी कथा कह सुनाई। बुद्धिमान् ने कहा— तुम इसे केवल अपने ही कामों पर क्यों सीमित रखते हो। इसे मुहल्ला वालों तथा नगर वालों के कार्य करने के लिये भी कहो, यदि इन सबको भी करदे, तो सब मनुष्यों की भलाई के कार्य्यों पर लगाओ, यदि इससे भी निपट जाये, तो प्राणिमात्र की सेवा का कार्य इससे लो। यह अनन्त कार्य्य इससे सारे जीवन में भी समाप्त न हो सकेगा और तुम इसके हाथों से बचे रहोगे।

यही अवस्था मनुष्य के मन की है। जिस समय इसे शुभ कर्मों से अवकाश मिलेगा, उस समय मनुष्य नाशकारी कस्र्मों में लग जायेगा। इस मन को परोपकार के अनन्त कार्य में लगाये बिना मनुष्य संसार की बुराइयों से नहीं बच सकता। और बुरा कार्य करके दुःख और विपत्ति के अतिरिक्त किसी भले फल की आशा नहीं की जा सकती। मनुष्य के अपने कार्य इतने थोड़े हैं कि मन इनको शीघ्र समाप्त कर लेता है। महात्मा रामचन्द्र जी ने भी हनुमान को यही उपदेश किया था कि इच्छा रूपी नदी दो मार्गों वाली है, एक भली इच्छा,दूसरी बुरी इच्छा। जो इच्छा ईश्वर के आदेश के अनुकूल है, वह भली है, जो उसके विरुद्ध है, वह बुरी है। अतः ईश्वर को सर्वत्र विद्यमान जानकर और यह विचार करके कि उसकी आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने से दुःख भोगना पड़ेगा, स्वार्थ और परधनापहरण के स्थान में परोपकार और दूसरों की भलाई के कार्य करने चाहिए। जो लोग दूसरों की भलाई के कार्य करते हैं, वे सदा सुखी रहते हैं। इस वास्ते परोपकार की भावना, जो शुभ है, सदा मन में रख

कर संसार के उपकार के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। जब तक प्राण हैं,कभी इस परोपकारके कार्य से विलग होकर जीवन नहीं बिताना चाहिए। मनुष्य-जीवन ऐसा महामूल्यवान् है कि इसका बार बार मिलना बहुत ही कठिन है। जो लोग ईश्वराज्ञा की उपेक्षा करते हुए मनुष्य-जीवन को व्यर्थ कार्यों में खो रहे हैं, उनसे अधिक मूर्ख कोई नहीं है। जो दूसरों की हानि करके अपना लाभ करना चाहते हैं, वे पूरे पशु हैं। वही मनुष्य बुद्धिमान् कहलाते हैं जो हर समय परोपकार के कार्यों में लगे रहते हैं, जिनके जीवन का उद्देश्य ही दूसरों की भलाई करना है। जो स्वार्थ के बिना, संसार के उपकार में लगे रहते हैं, वही प्राणी ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं। जो शुभ कर्म दूसरों की भलाई के लिए किए जाते हैं, वे कभी बन्धन का हेतु नहीं बनते। बन्धन का हेतु तो वे कार्य हैं जो ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध किए जायें और जिनमें दूसरों के अधिकार छीनने का भाव हो। अतः जो मनुष्य अपने जीवन में परोपकार कर्म करेंगे वह संसार के बुरे कार्यों से बचकर शुभ कर्मों के द्वारा मन को शुद्ध करके, तत्वज्ञान प्राप्त करके मुक्ति के अधिकारी बनेंगे,यही इस मन्त्र का भावार्थ है ॥२॥

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।

तां स्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

पदार्थ—(असुर्याः) असुरों सम्बन्धी (नाम) सचमुच (ते) वे (लोकाः) शरीर (अन्धेन) गहरे (तमसा) अन्धकार से (आवृताः) ढके हुए हैं (तान्) उनको (ते) वे (प्रेत्य) मरकर (अपि) भी (गच्छन्ति) प्राप्त करते हैं (ये) जो (के+च) कोई (आत्महनः) आत्मा का नाश करने वाले (जनाः) लोग हैं।

भावार्थ—वे लोग महान् अन्धकार वाले असुर सम्बन्धी लोकों को, मरने के बाद जाते हैं जो अपने आत्मा का खून करते हैं। अन्धकार वाले लोकों से अभिप्राय ऐसे शरीर हैं, जिनमें जाकर जीव की ज्ञानशक्ति बहुत ही परिमित हो जाती है। असुर उसे कहते हैं जो भले बुरे के विवेक से शून्य होकर केवल प्राणों अर्थात् शरीर के पोषण में लगा रहे। अतः 'असुर्याः' शब्द का अर्थ ऐसी योनियाँ है जिनमें जीवात्मा को भलाई बुराई का विवेक प्राप्त न हो सके। असुरों सम्बन्धी अन्धकार वाले शरीर का अभिप्राय ज्ञान रहित योनियाँ हैं। ज्ञान का फल, भलाई बुराई को जानकर, उसके द्वारा दुःखों से छूट कर सुख प्राप्त करना है। जिन योनियों में सुख प्राप्त करने और दुःख से छूटने के साधनों का ज्ञान न हो, उन सब को 'असुय'=असुर सम्बन्धी देह या योनियाँ कहते हैं। वे सब योनियाँ ज्ञानशून्य हैं। ज्ञान से अभिप्राय ईश्वरीय ज्ञान अर्थात् वेदों की शिक्षा है। वेद का अर्थ ज्ञान है, और सृष्टि के आरम्भ में होने से उनका स्वतः प्रकाश अर्थात् अन्य विद्या की सहायता के बिना होना सर्वसम्मत है। अतः जिन योनियों में वेद की शिक्षा नहीं हो सकती, वे असुर्य हैं।

मन्त्र में 'अन्धकार से पूर्ण होने' पर बल दिया है। कई लोगों का विचार होगा कि जिनमें ज्ञान न होगा, अन्धकार से पूर्ण तो वे स्वतः ही होंगे, फिर उपनिषद् में यह शब्द क्यों अधिक लिखे गये। बुद्धिमान् मनुष्य जान सकते हैं कि ईश्वरीय ज्ञान के अभाव में सर्वथा अन्धकार नहीं होता, वरन् वेदों की शिक्षा न होने से अविद्यान्धकार होने पर भी, साधारण मानवी शिक्षा के होने से कुछ न कुछ प्रकाश रहता ही है। इस वास्ते मन्त्र ने बतलाया कि जिन योनियों में ईश्वरीय ज्ञान और

मानवीय शिक्षा आदि किसी प्रकार का ज्ञानसाधन नहीं होता, आत्मा का खून करने वाले लोग उन योनियों को प्राप्त करते हैं।

प्रश्न—जब तुम आत्मा की उत्पत्ति नहीं मानते, तो उसका नाश कैसे मानते हो? अतः यह उपदेश कि 'जो आत्मा का नाश करते हैं'—किस प्रकार सङ्गत हो सकता है? क्योंकि अविनाशी आत्मा का नाश नहीं हो सकता। जब इस अपराध का होना असम्भव है तो उसके लिए दण्ड-विधान करना सर्वथा व्यर्थ है।

उत्तर—नाश करने से तात्पर्य उसको अधिकारों से वञ्चित करना है। जीवात्मा को परमात्मा ने मन आदि पर राज्य करने का अधिकार दिया है और यह सब इन्द्रिय, मन और शरीर आत्मा को लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए परमात्मा ने साधन दिए हैं। जो लोग आत्मा को, इस उच्च पद से गिराकर, मन, इन्द्रियों और शरीर का दास बना देते हैं, वे वास्तव में आत्मा का नाश करते हैं।

प्रश्न—परमात्मा ने यदि आत्मा को स्वामी और मन आदि को दास बनाया है, तो मनुष्य उसके विरुद्ध कैसे कार्य कर सकता है?

उत्तर—मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है। किन्तु जिस समय वह परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध चलता है तब उसे दुःख मिलता है और जब परमात्मा के आदेश के अनुसार चलता है तब उसे आराम मिलता है।

प्रश्न—तुम नाश का अर्थ 'अधिकार का नाश' लेते हो, इसमें क्या प्रमाण है? मन्त्र में तो 'आत्महनः' लिखा है।

उत्तर--अर्थ करते हुए शब्द की तीन शक्तियों से कार्य लेना होता है—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। जहाँ अक्षरों से असम्भव अर्थ प्रतीत हो वहाँ लक्षणा से काम लिया जाता है। जैसे किसी ने कहा–'मचान पुकारते हैं।' चूँकि मचानों में पुकारने की शक्ति का होना असम्भव है, इस वास्ते वहाँ लक्षणा से अर्थ किया जाता है कि—मचान पर बैठे मनुष्य पुकारते हैं।*

---

* भाष्य की छपी पुस्तकों में अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना के लक्षण व उदाहरण नहीं मिलते। उदाहरण केवल लक्षणा का ही दिया है। चूँकि इनका शास्त्रों में बार बार कार्य होता है, अतः पाठकों की सुविधा के लिए संक्षेप में इनका निरूपण करते हैं।

साधारणतया जिस शब्द का जो अर्थ ग्रहण किया जाता है, वह अर्थ उस शब्द का अभिधेय=वाच्य होता है, अर्थबोध कराने की इस वृत्ति को अभिधा कहते हैं, जैसे किसी नदी का नाम गङ्गा है।

मुख्य अर्थ के बाधित होने पर लक्षणा वृत्ति से कार्य लिया जाता है, जैसे किसी ने कहा, 'गङ्गा में घर है।' गङ्गा तो प्रवाहरूप है। जल-प्रवाह में घर का होना लगभग असम्भव है, अतः 'गङ्गा' पद का मुख्य अर्थ न लेकर 'गङ्गा का तीर' अर्थ लिया जाता है।

शब्दों के मुख्यार्थ से जहां सर्वथा कोई और ही अर्थ ध्वनित हो, वहाँ व्यञ्जना काम करती है। जैसे किसी ने कहा—अब चार बज गये। ये शब्द सुनते ही चार बजे सैर जाने वाले ने समझा, सैर का समय हो गया, सैर को चलना चाहिए। उस समय फल और दूध का उपयोग करने वाले के मन में आया, फलाहार और दूध पीने का समय हो गया। इसी प्रकार भिन्न २ मनुष्यों के मन में भिन्न २ भाव उत्पन्न होते हैं। 'चार बज गये' इस वाक्य से इनमें से कोई अर्थ नहीं निकलता प्रतीत होता, परन्तु सब ने अपना २ अर्थ समझा अवश्य, इसमें हेतु ध्वनि या व्यञ्जना है। (स्वामी वेदानन्द)

प्रश्न—तुम्हारा यह उदाहरण ठीक नहीं क्योंकि हमने ऐसा नहीं सुना। दृष्टान्त वह होता हैं जिसे वादी प्रतिवादी दोनों स्वीकार करें।

उत्तर—अच्छा, आपको दूसरी तरह समझाते हैं। रेलगाड़ी में बैठे हुए लोग कहते हैं—'मेरठ आ गया।' बुद्धिमान् मनुष्य जानता है, कि मेरठ तो गतिरहित है, उसमें आने की क्रिया नहीं हो सकती। अतः वह इसका भाव यह समझता है कि रेल गाड़ी मेरठ पहुँच गई। और आने की क्रिया को मेरठ के बदले रेलगाड़ी के साथ जोड़ देता है।

प्रश्न—यदि इस प्रकार मनमाना अर्थ किया जाये, तो किसी भी शब्द का कोई भी निश्चित अर्थ न होगा, वरन् जो चाहो करलो।

उत्तर—नहीं। शब्दों के अर्थ ठीक ठीक समझने के लिये ही ये शक्तियाँ हैं, ताकि वक्ता का अभिप्राय ठीक-ठीक समझ में आ जाये और श्रोता भ्रम में न भटकते रहें।

प्रश्न—तुम ने 'लोक' शब्द का अर्थ 'शरीर' किस प्रमाण से किया है? किसी कोष में 'लोक' का अर्थ 'शरीर' नहीं किया गया।

उत्तर—लोक शब्द का अर्थ दृश्य पदार्थ है, दृश्य होने से शरीर को लोक कहना ठीक है। लोक का लोकप्रसिद्ध अर्थ ब्रह्माण्ड है, पिण्ड=शरीर को ब्रह्माण्ड से उपमा दी जाती है, इस सादृश्य के कारण भी लोक शब्द का अर्थ शरीर करना ठीक है। प्रेत्य=मर करके दूसरा शरीर प्राप्त किया जाता है, इस वास्ते मरने के बाद प्राप्त होने से लोक का अर्थ शरीर ठीक है ॥३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद् देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठ-
त्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

पदार्थ—(अनेजत्) न कांपने वाला, भय न खाने वाला (एकं) अद्वितीय (मनसः) मन से (जवीयः) अधिक वेगवान् (न) नहीं (एनत्) इस—मन को भी पीछे छोड़ने वाले को (देवाः) प्रकाश करने वाली इन्द्रियां (आप्नुवन्) पा सकतीं (पूर्वम्) पहले ही (अर्षत्) विद्यमान होने से (तत्) वह (धावतः) दौड़ते हुए (अन्यान्) औरों को (अत्येति) पीछे छोड़कर आगे पहुँचा होता है । (तस्मिन्) उस ब्रह्म के कारण (अपः) जल को (मातरिश्वा) वायु (दधाति) धारण करता है ।

भावार्थ—उपर्युक्त तीन मन्त्रों में ईश्वर की सर्वत्र व्यापकता तथा उसकी आज्ञा के अनुकूल जीवन भर कर्म्म करने का उपदेश और उसके नियमों के विरुद्ध आत्मा के अधिकार का नाश करने वालों को दण्डित होना बतलाकर अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं, क्योंकि ठीक ठीक लक्षण का ज्ञान हुए बिना, उससे जो लाभ लेना चाहिये, उसे मनुष्य नहीं ले सकते, जिससे सुख के साधनों के रहते भी लोग सुख से दूर रहते हैं। मन्त्र में वर्णित परमात्मा के स्वरूप का भाव यह है—

परमात्मा सर्वत्र विद्यमान होने से कभी काँपता या गति नहीं करता, और एक होने के कारण कभी भय भी उसके पास नहीं आता । क्योंकि जिसके समान कोई न हो, और ना ही जिस से कोई बड़ा हो तो किससे भय हो सकता है ! परमात्मा सर्व-

व्यापक होने से मन से भी अधिक वेगवान् है क्योंकि जहाँ मन जाता है, परमात्मा अपरिच्छिन्न=अनन्त होने के कारण सब से पूर्व सर्वत्र विद्यमान् रहता है, अतः इन्द्रियाँ उसको नहीं पा सकतीं अर्थात् उसे नहीं जान सकतीं। जो मनुष्य परमात्मा को जानने के लिए इधर-उधर दौड़ते हैं। वे कदापि परमेश्वर को नहीं पा सकते। जहाँ जहाँ इन्द्रियाँ विषयों के लिए जाती हैं परमात्मा उनसे पूर्व ही वहाँ विद्यमान होता है। इस सब का भाव यह है कि ब्रह्म को इन्द्रियों द्वारा नहीं जान सकते। और न ही वे लोग जो इन्द्रियों से परमात्मा का दर्शन करने के लिए चारों ओर दौड़ते हैं कभी परमात्मा को जानने के अधिकारी हो सकते हैं, जब तक कि वे संसार के विषयों से सर्वथा पृथक् न हो जायें।

प्रश्न—क्या ब्रह्म गतिशून्य है ?

उत्तर—ब्रह्म सर्वत्र व्यापक होने से कभी भी गति नहीं करता, वरन् संसार के समस्त पदार्थ उसकी शक्ति से गति करते है।

प्रश्न—ब्रह्म साकार है या निराकार ?

उत्तर—प्रत्येक साकार पदार्थ परिच्छिन्न (परिमित) होता है। परिच्छिन्न पदार्थ गति कर सकते हैं। मन्त्रों में कहा गया है कि ब्रह्म सर्वव्यापक होने से गति आदि से रहित है, अतः वह साकार नहीं हो सकता। उसको शास्त्रों में निराकार ही वर्णित किया गया है।

प्रश्न—ब्रह्म के निराकार होने में कोई युक्ति नहीं है। आकार वाले पदार्थ ही कार्य कर सकते हैं। ब्रह्म चूँकि सृष्टि की

रचना आदि कार्य करता है इस वास्ते वह किसी तरह भी निर्गुण या निराकार नहीं हो सकता ।

उत्तर—आकार जाति (सामान्य) का चिन्ह है, और जाति उनमें रहती है, जो एक से अधिक हों । ब्रह्म,क्योंकि एक है, अतः उसमें जाति (सामान्य) नहीं है । जब जाति नहीं है तब जाति का चिन्ह (लिङ्ग) आकार भी नहीं है । और यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक सगुण पदार्थ साकार भी हो क्योंकि गुण तो साकार निराकार दोनों प्रकार के पदार्थों में रह सकता है ।

प्रश्न—कोई निराकार वस्तु कार्य करती हुई नहीं दीखती अतः निराकार ब्रह्म का जगत् उत्पन्न करना असम्भव है ।

उत्तर—जितना कार्य होता है, निराकार ही करता है । शरीर के अङ्ग और हथियार जितने साकार पदार्थ हैं, वे सब निराकार के कार्य करने के साधन हैं । क्या जीव साकार है ? यदि साकार होता, तो निकलता हुआ दीखता । जिस प्रकार निराकार जीव शरीर को चलाना आदि कार्य करता है, इसी प्रकार निराकार ब्रह्म भी जगत् की रचना आदि करता है ।

प्रश्न—मन्त्र में जो लिखा है—'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' उसी ब्रह्म के कारण जल को वायु धारण करता है । इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—वायु जो बादल आदि जल को, वाष्प को इकट्ठा करता है, वह सब ब्रह्म की सहायता से करता है। अन्यथा जड़ वायु में कुछ भी करने की शक्ति नहीं है, परमात्मा सबसे अधिक शक्तिशाली है । कई लोग यह भाव लेते हैं कि प्राणवायु जो

माला के मनकों में धागा की भाँति शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय आदि में ओतप्रोत है, वह भी परमात्मा की सहायता से ही सब कार्य कर सकता है, अन्यथा प्राणों में कोई सामर्थ्य नहीं। माता के गर्भ में जीवात्मा परमात्मा की सहायता से अपने कार्यों को पूरा करता है। सारांश यह कि कोई भी इन्द्रियादि परमात्मा की सहायता के बिना कार्य नहीं कर सकती ॥४॥

उपर्युक्त विषय को अगले मन्त्र से पुष्ट करते हैं—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।५।

पदार्थ—(तत्) वह (एजति) चलता है (तत्) वह (न) नहीं (एजति) चलता है (तत्) वह (दूरे) दूर है (तत्) वह (उ) सचमुच (अन्तिके) समीप है (तत्) वह (अन्तः) अन्दर है (उ) सचमुच (अस्य+सर्वस्य) इस सारे संसार के (बाह्यतः) बाहर है।

भावार्थ—परमात्मा जिसको एक वस्तु में देखकर, पुनः दूसरे पदार्थों में देखने से मूर्ख लोग चलता हुआ मानते हैं, और विद्वान् लोग उसको सर्वव्यापक समझकर, सब स्थानों में विद्यमान होने पर भी अचल=गति रहित मानते हैं। मूर्खों के विचारानुसार वह बहुत दूर है, इसीलिए ऐसे लोग उसको संसार के दूर दूर देशों में खोजने जाते हैं। जब वहाँ उसका पता नहीं चलता, तो इस संसार से बाहर चौथे आस्मान❀सातवें आस्मान+, बैकुण्ठ×, गोलोक=, कैलाश÷, क्षीरसागर— आदि बहुत ही दूर स्थानों में होना बतलाते हैं, किन्तु विद्वान्

❀ ईसाई, + मुसलमान, × वैष्णव, =वल्लभाचार्य के अनुयायी, ÷शैव, —वैष्णव।

और योगीजनों के विचार में उससे अधिक समीप और कोई वस्तु ही नहीं है, जीवात्मा के अन्दर तथा बाहर व्यापक होने से वह बहुत ही समीप है, अतएव योगीजन बाहर उसकी खोज त्याग कर, समाधि के द्वारा उसे अपने आत्मा के अन्दर देखते हैं। वह संसार के प्रत्येक पदार्थ के अन्दर बाहर विद्यमान है, कोई वस्तु उसे परिच्छिन्न (सीमित)नहीं कर सकती।

प्रश्न---चलना और न चलना दो विरोधी क्रियायें हैं, वे एक ब्रह्म में एक समय में कैसे रह सकती हैं ?

उत्तर–ब्रह्म में चलने की क्रिया नहीं है, वरन् अज्ञानी ऐसा समझते हैं। ब्रह्म में दो विरोधी क्रियायें नहीं।

प्रश्न–क्या अज्ञानी लोग ही ब्रह्म में गति मानते हैं ? हमारे विचार में तो उन लोगों को भी, जो ब्रह्म को जगत्कर्ता मानते हैं, ब्रह्म में गति का होना मानना पड़ता है।

उत्तर–जगत्कर्ता होने के लिए ब्रह्म को क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं। वह सर्वत्र होने से गति के बिना सब कार्यों को कर सकता है। यह कोई नियम नहीं है कि किसी कार्य को करने के लिए गति अवश्य की जाये।

प्रश्न–संसार में, गति के बिना कोई कार्य होता दिखाई नहीं देता, अत: कार्य करने के लिए, किसी वस्तु के बनाने के लिए, गति का होना आवश्यक है।

उत्तर-—क्या चुम्बक पत्थर को (जो लोहे को अपनी ओर खींच लेता है) लोहे को अपनी ओर खींचने के लिए गति करनी पड़ती है ? सर्वथा नहीं। जब [एकदेशी जड़] चुम्बक लोहे को गति किए बिना अपनी ओर खींचता दीखता है, तब

[सर्वव्यापक, सर्वज्ञ] परमात्मा में, कार्य करने के लिये, गति मानना भयङ्कर भूल है।

प्रश्न—ब्रह्म जगत् के अन्दर तो हो सकता है, जगत् के बाहर ब्रह्म कहाँ रह सकता है? अतः यह विचार कि ब्रह्म जगत् के अन्दर तथा बाहर है, अशुद्ध है। वरन् ऐसा मानना चाहिये कि ब्रह्म जगत् में सर्वत्र विद्यमान है।

उत्तर—यदि तुम जगत् शब्द के अर्थ समझते तो तुम्हें इस आक्षेप का अवसर ही न मिलता। जगत् का अर्थ है, उत्पत्ति तथा विनाश वाला। इसको विकृति भी कहते हैं। परमात्मा प्रकृति के अन्दर व्यापक है, और विकृति=जगत् के अन्दर व बाहर व्यापक है।*

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

पदार्थ—(यः) जो (तु) तो (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणियों को (आत्मनि) आत्मा में (एव) ही (अनुपश्यति) सूक्ष्म विचार से

---

* परमात्मा प्रकृति के भी अन्दर बाहर व्यापक है = स्वामी जी की, छपी पुस्तकों की भाषा यहाँ बेजोड़ सी हो गई है। प्रकृति ब्रह्म की अपेक्षा अत्यन्त अल्प है, अतः ब्रह्म प्रकृति के भी अन्दर बाहर व्यापक है। ब्रह्म ही सबका आधार है, उसका कोई आधार नहीं, वह सर्वाधार होता हुआ निराधार है। वह अपने प्रकाश में ही स्थित है। जैसे यजुर्वेद (३०।३) में कहा है—

—त्रिपादस्यामृतं दिवि। —सारा संसार इसकी महिमा का प्रकाशक है। समस्त भूत इसके मानो एक भाग में हैं, इसका शेष अविनाशी भाग अपने प्रकाश में स्थित है।

देखता है। (सर्वभूतेषु) सब जीवों में (च) या (आत्मानम्) आत्मा को देखता है (ततः) उस ज्ञान से वह (न) नहीं (विजुगुप्सते) पाप करता है।

भावार्थ—जो मनुष्य प्रत्येक जीव के दुःख को अपना दुःख समझने से हर एक जीव में अपनापन अर्थात् आत्मभाव रखता है, अथवा जो मनुष्य हरएक जीवात्मा और पञ्चभूतों के अन्दर परमात्मा को विद्यमान देखता है, और सारे संसार को परमात्मा से छोटा=अल्प होने के कारण परमात्मा के अन्दर देखता है, वह मनुष्य कभी पाप कर्म नहीं करता। पाप सदा उस अवस्था में होता है जब स्वार्थ से दूसरों के अधिकृत पदार्थों के छीनने का विचार चित्त पर सवार होता है। दूसरों का धन छीनने का साहस तब होता है, अब अपनी अपेक्षा अधिक समर्थ दण्ड दे सकने वाली शक्ति की सत्ता न मानी जाये। जब अपने से अधिक समर्थ, दण्ड देने वाली शक्ति का अनुभव होता है, तब इस भय से कि अपराध करने के बाद दण्ड से बच रहना असम्भव है, और दण्ड से कष्ट होगा, और कष्ट की कामना से कोई कर्म नहीं किया जाता, प्रत्येक पदार्थ में परमात्मा को व्यापक मानने वाला कभी पाप नहीं कर सकता।

प्रश्न—केवल पाप से बचने के लिये परमात्मा को सर्वत्र विद्यमान मानने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह कार्य्य राजा के डर से भी हो सकता है।

उत्तर—अल्पज्ञ और एकदेशी (परच्छिन्न) जीवात्मा के भय से यह कार्य्य नहीं चल सकता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। समस्त राज्यों की नियम व्यवस्था में रिश्वत लेना अपराध है, किन्तु प्रायः प्रत्येक न्यायालय के कार्य्यकर्त्ता दोनों हाथों

से रिश्वत लेते हैं। पुलिस तो रिश्वत लेकर अपराधियों को बचाकर निरपराधों को प्रायः फांसी तक दिला देती है। जिस राज्य के नौकर जिनका दिन रात अपने उच्च अधिकारियों से वास्ता पड़ता रहता है, राज्य का भय न करते हुए दिन रात अपराध करते हैं, उस राज्य से डर कर, गुप्त अपराध करने वाले किस प्रकार पाप से बच सकते हैं ? मनुष्य को पाप से बचाने के लिये, ईश्वर की सर्वव्यापकता के निश्चयात्मक ज्ञान के बिना और कोई साधन नहीं है।

प्रश्न—यदि राजा के भय से पाप दूर नहीं हो सकते, तो वेदों में राज्य के नियम और राजा की आवश्यकता क्यों बतलाई गई है ?

उत्तर-परमात्मा समस्त संसार में व्यापक होते हुए भी कर्म्मों का फल दूसरों के द्वारा दिलाते हैं, इस वास्ते राजा और राज्य नियमों का उपदेश किया गया है। राज्य नियम कुछ कर्म्मों का फल दे सकते हैं किन्तु पाप की नींव को नहीं मिटा सकते। पाप का मूल केवल ईश्वर के सर्वव्यापकत्व के ज्ञान और ईश्वर को कर्म्मफल प्रदाता मानने से ही दूर हो सकता है।

प्रश्न—इसका क्या कारण है कि राजा के परिश्रम से पाप का मूल नष्ट नहीं हो सकता ?

उत्तर—राजा अल्पज्ञ अर्थात् थोड़े ज्ञान वाला होता है, उसकी शक्ति भी परिमित (परिच्छिन्न)और परिच्छिन्न शरीर पर ही प्रभाव रखती है। मन और आत्मा पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। राजा के दण्ड देने से भी शरीर ही कैद होता है, मन कैद नहीं होता। पाप का मूल मन में होता है, अतः मन से अधिक सूक्ष्म, परमात्मा ही उसको नाश कर

सकता है । पाप के समूल नाश का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

प्रश्न—क्या शक्ति सूक्ष्म में ही होती है ? हम तो समझते हैं, जो वस्तु अधिक स्थूल है, वह अधिक शक्ति वाली होती है, और साधारणतया स्थूल एवं शरीरधारी ही शक्तिशाली देखे जाते हैं ।

उत्तर—शक्ति सदा सूक्ष्म पदार्थ में रहती है । जो जिसके भीतर प्रवेश कर सकता है, वही उसे उचित रीति से स्वच्छ भी कर सकता है । जैसे जल मिट्टी की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है, वह मिट्टी में प्रवेश करके मिट्टी की दीवार को गिरा सकता है । पानी से अधिक सूक्ष्म होने के कारण अग्नि जल को सुखा सकती है । और अग्नि की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होने के कारण वायु अग्नि को बुझा सकती है, वैसे ही परमात्मा जो सबसे अधिक सूक्ष्म है, मन को शुद्ध कर सकता है ।। ६ ।।

अगले मन्त्र में इस भाव की और भी पुष्टि की गई है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।।७।।

पदार्थ–(यस्मिन्) जिस अवस्था में (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणियों को (आत्मा) अपना आपा (एव) ही (अभूत)मानता है (विजानतः) ब्रह्मविद्या के पण्डित को (तत्र) उस अवस्था में (कः) कहां (मोहः) मूल या भ्रम है (कः) कहा (शोकः) शोक या चिन्ता रह सकती है (एकत्वम्) एक ही अद्वितीय का (अनुपश्यतः) अनुभव करने वाले को ।

भावार्थ—जिस अवस्था में मनुष्य के मन में यह विचार आता है कि ये सारे जीव आत्मा ही हैं, और कर्म्म फल भोगने

के लिये आत्मा को यह विविध शरीर धारण करने पड़े हैं, और उसको अपने और दूसरे प्राणियों में कोई भेद प्रतीत नहीं होता, ऐसी अवस्था में न तो उसे कोई भ्रम ही पैदा होता है, और न ही किसी को शत्रु या मित्र ही वह अनुभव करता है, वरन् समस्त संसार में एकता=समानता को अनुभव करता है।

प्रश्न—क्या सब पदार्थ आत्मा से उत्पन्न नहीं हुए, यदि हुए हैं तो सब में आत्मा के गुण होने चाहियें।

उत्तर—उत्पन्न होने का भाव प्रकट होना है। समस्त पदार्थ आत्मा के प्रकाश से प्रकट होते हैं, किन्तु वे आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकते। जैसे दीपक के प्रकाश से घर के सब पदार्थ प्रकाशयुक्त होते हैं किन्तु घर के पदार्थ दीपक के गुण वाले नहीं होते।

प्रश्न—क्या यह अवस्था प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त हो सकती है ?

उत्तर—निस्सन्देह संसार के प्रत्येक प्राणी का यही लक्ष्य है। जो इसके लिये यत्न करता है, वही इस अवस्था को प्राप्त कर सकता है। जो मनुष्य सीधे मार्ग पर चला चलता है, वह उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। किन्तु जो मनुष्य थोड़ी दूर चल कर बैठ जाये या उलटे मार्ग पर चले वह उद्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकता। अतः जो साधनों का ठीक ठीक अनुष्ठान करता है, वह आत्मा की शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न—उस लक्ष्य तक पहुँचने के क्या साधन हैं ?

उत्तर—प्रथम साधन ज्ञान है, दूसरा कर्म्म, तीसरा उपासना। जब तक ठीक-ठीक ज्ञान न हो, तब तक ठीक-ठीक कर्म्म

नहीं हो सकता और जब तक कर्म्म ठीक न हो उपासना नहीं हो सकती। और जब तक उपासना न हो तब तक उसके गुणों को ठीक तौर पर अपने आत्मा में अनुभव नहीं कर सकते।

प्रश्न—सब लोग तो कर्म, उपासना और ज्ञान बतलाते हैं। अर्थात् कर्म्म को पहला, उपासना को दूसरा और ज्ञान को अन्तिम साधन बतलाते हैं। इसलिये तुम्हारा कथन कैसे शुद्ध मान लिया जाये क्योंकि यह समस्त विद्वानों के विरुद्ध है ?

उत्तर—हमारा कथन सब महात्माओं के विरुद्ध नहीं है, वरन् वेदों और सृष्टि नियम के अनुकूल है। इसके लिये अनेक प्रमाण हैं। प्रथम—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के नामों का क्रम इसी बात को बतलाता है। ऋचा का अर्थ स्तुति=पदार्थों के यथार्थ गुण वर्णन है। जिसका ज्ञान प्राप्त करके यजुर्वेद में कर्म्म करने का विधान हैं और साम से उपासना का ज्ञान होता है। द्वितीय-आश्रमों का क्रम भी इसी बात का ज्ञान कराता है। ब्रह्मचर्य्याश्रम में शिक्षा प्राप्ति के द्वारा ज्ञान, शेष आश्रमों में कर्म्म आदि होते हैं। वर्णों के अनुक्रम में भी ज्ञानप्रधान ब्राह्मण का नाम पहले आता है। सार यह कि जहां तक विचार करते हैं, यही प्रतीत होता है कि पहले ज्ञान और उसके पश्चात् कर्म्म तथा उपासना होनी चाहिये। जब से ज्ञान को पीछे धकेल कर्म्म व उपासना को प्रथम स्थान दिया गया है तब से अविद्यान्धकार का प्रसार हुआ है।

प्रश्न—ज्ञान से पूर्व कर्म्म मानने में क्या-क्या दोष आते हैं?

उत्तर—प्रथम—सृष्टि नियम के विरुद्ध है, क्योंकि सृष्टि नियम यह है कि म ष्य आँख से देखकर चलता है' न कि चल कर देखता है। दूसरे—यदि ज्ञान के बिना कर्म को ठीक मान

लिया जाये, तौ धर्म और अधर्म के कार्यों में विवेक न हो सकेगा। अतः ज्ञान द्वारा कर्त्तव्य कर्मों को जानकर उसके अनुसार अनुष्ठान करना चाहिये ॥७॥

अब परमात्मा के गुणों का उपदेश करते हैं—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

पदार्थ—(सः) वह (परि) सर्वत्र (अगात्) विद्यमान है (शुक्रम्) संसार को उत्पन्न करने वाला (अकायम्) निराकार (अव्रणम्) घाव आदि से रहित (अस्नाविरम्) नस नाड़ी के बन्धन से रहित (शुद्धम्) शुद्ध, पवित्र (अपापविद्धम्) पाप से रहित, दोष-शून्य, (कविः) ज्ञानी, सर्व पदार्थों को देखने वाला (मनीषी) मन के अन्दर की बात जानने वाला (परिभूः) सबसे बढ़कर हर जगह रहने वाला (स्वयम्भूः) अपनी सत्ता के लिये दूसरों की अपेक्षा न करने वाला (याथातथ्यतः) ठीक-ठीक (अर्थान्) पदार्थों का (वि) विशेष रीति से (अदधात्) उपदेश करता है (शाश्वतीभ्यः+समाभ्यः) प्रजा की शान्ति के निमित्त सदा रहने वाले जीवों के लिये।

भावार्थ— परमात्मा, जिसके आदेशानुसार आचरण करने से मनुष्य दुःखों से छूट जाता है, सर्वत्र विद्यमान है। उसका न कोई एजेण्ट=प्रतिनिधि है ओर ना ही सांसारिक राजाओं की भाँति उसके मन्त्री, सचिव तथा सेना हैं। इनकी आवश्यकता तो परिच्छिन्न, शरीरधारी के लिये होती है। परमात्मा शरीर से रहित है। और शरीर रहित होने से घाव आदि से भी रहित है। वह किसी तरह भी टूट फूट नहीं सकता,

क्योंकि उसे शरीर और नस नाड़ियों का बन्धन नहीं है। प्रत्येक अशुद्धि और दोष से शून्य होने के कारण वह शुद्ध है। अपवित्रता, अशुद्धि तो स्थूल वस्तुओं में प्रवेश कर सका करती हैं। परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः वह सर्वदा शुद्ध रहता है। वह पाप के फल दुःख से भी रहित है, क्योंकि परमात्मा के विरुद्ध चलने का नाम पाप है, परमात्मा अपने विरुद्ध कभी नहीं चलता। सर्वज्ञ होने के कारण वह, उन सब रहस्यों को जो जीवों की दृष्टि से गुप्त रहते हैं, जानता है। प्रत्येक पदार्थ का उसे ज्ञान है, हरएक के मन की अवस्थाओं का उसे परिचय है। संसार में ज्ञान के बिना कार्य करने से जीवों को हानि पहुँचती है, अतः परमात्मा ने जीवों को सुख और शान्ति देने के लिये, प्रत्येक पदार्थ के यथार्थ ज्ञान का उपदेश किया है।

प्रश्न—परमात्मा ने किस भाँति जीवों को ज्ञान का उपदेश किया है। वह ज्ञान कौनसा है ?

उत्तर—[सबके हृदयों में विद्यमान करुणानिधान भगवान् ने सृष्टि के आरम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा महर्षियों के आत्मा में ज्ञान प्रकाश किया, और] वह ज्ञान वेदों में है, जिन को जीवों की मुक्ति प्राप्ति के लिये परमात्मा ने उपदेश किया है।

प्रश्न— निराकार परमात्मा किस तरह वेदों की रचना और उपदेश करता है ? उपदेश करना वाणी से सम्भव हो सकता है ?' जिसकी वाणी न हो वह किस तरह उपदेश कर सकता है ? कई अवसरों पर शरीर की नाना चेष्टाओं के द्वारा भी उपदेश किया जा सकता है, किन्तु जिसके शरीर न हो, वह शाररिक चेष्टाओं से कैसे उपदेश कर सकता है ? अतः निरा-

कार परमात्मा का वेदों द्वारा उपदेश करना सर्वथा असम्भव है।

उत्तर— शरीर और वाणी केवल बाहर वालों को उपदेश करने के लिये आवश्यक हैं किन्तु जो हमारे भीतर रम रहा है, वह हमें शरीर और वाणी के बिना भी उपदेश कर सकता है। जैसे किसी मनुष्य का मन बुरे कर्म की ओर जाता है तो आत्मा उसमें भय, लज्जा और शङ्का पैदा करके उसे उससे रोकने के लिये उपदेश करता है। मन में यह भाव पैदा होता है कि कोई देख लेगा, तो क्या होगा अथवा सफलता ही न हो। इस भाँति जो सबके भीतर विद्यमान है, उपदेश करने के लिये उसे शरीर की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न—शरीर के बिना निराकार परमेश्वर संसार को किस प्रकार रच सकता है? प्रत्येक पदार्थ को बनाने के लिये हाथ, पाँव और हथियार चाहियें। यदि हाथ पाँव और हथियार न हों तो यह अनेक प्रकार का संसार किस भाँति बन सकता है।

उत्तर—हाथ, पाँव और हथियारों की आवश्यकता परिच्छिन्न (सीमा वाले) को होती है। जो सर्वत्र विद्यमान् है उसको हाथ-पाँव आदि किसी अङ्ग की आवश्यकता नहीं होती। वृक्षों के पत्तों पर नाना प्रकार के चित्र, हाथ पाँव के बिना बन जाते हैं। फूलों की पङ्खड़ियाँ, फलों के आकार, मनुष्य का शरीर, सारांश यह कि लाखों पदार्थ हाथ-पाँव के बिना बनते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि हाथ-पाँव के बिना भी रचना सम्भव है। परिच्छिन्न जीवात्मा को हाथ-पाँव आदि की आवश्यकता होती है, रचना के लिये अपरिच्छिन्न, सर्वव्यापक भगवान् को हाथ-पाँव आदि अङ्गों और हथियारों की आवश्यकता नहीं है। हाथ-पाँव वाला तो सब काम कर भी नहीं सकता। कोई मनुष्य ऐसा नहीं

दीखता जो परमाणु को पकड़ सके, और नाहीं इस समय कोई ऐसा यन्त्र है जिससे परमाणु को पकड़ सकें। परमाणु को देखने के लिये अभी तक कोई सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र (Microscope) भी तैयार नहीं हुआ। इससे सिद्ध होता है कि सृष्टिकर्ता वही हो सकता है जिसके हाथ, पैर शरीर न हो, वरन् वह परमाणु से भी सूक्ष्म तथा सर्वत्र विद्यमान हो ॥८॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥९॥

पदार्थ—(अन्धम्) घोर (तमः) अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं (ये) जो (अविद्याम्) अविद्या की (उपासते) उपासना करते है (ततः) उससे (भूयः+इव) मानो बहुत अधिक (ते) वे (तमः) अन्धकार में [प्रवेश करते हैं] (ये) जो (उ) कोई (विद्यायाम्) विद्या में ही (रताः) फँसे हुए हैं।

भावार्थ— जो लोग सर्वथा अज्ञानी हैं, और रात-दिन मूर्खता के कार्य करते हैं, वे महान् अज्ञान वाली योनियों को, शरीरों को प्राप्त करते हैं जिनमें बुद्धि पर अज्ञान का आवरण पड़ा रहता है। सार यह कि वे ज्ञानशून्य पशुओं के शरीरों में प्रवेश करते हैं किन्तु जो लोग प्राकृत विद्या में लगे रहते हैं वे उससे भी पतित दशा को प्राप्त करते हैं।

प्रश्न—जो लोग अज्ञानी हैं, वे अज्ञान के कारण जीवात्मा के स्वाभाविक गुण—ज्ञान और विवेक--के विरुद्ध आचरण करने से पतित दशा को पहुँच जायें, यह तो ठीक प्रतीत होता है किन्तु विद्या में लगे हुए लोग उससे भी नीची, गिरी हुई दशा को प्राप्त करें, यह अन्धेरनगरी वाली बात है।

उत्तर—पहले इस बात का विचार करना चाहिये कि गिरी हुई दशा क्या है ? विचारने से पता चलता है, जितना अधिक दुःख होगा उतनी ही दशा गिरी हुई होगी। प्रश्न यह है कि दुःख क्या है ? उत्तर मिलता है, स्वतन्त्रता का न होना, या आवश्यकताओं का होना और उनकी पूर्ति के साधनों का न होना दुःख है। जितनी आवश्यकतायें बढ़ेंगी, यदि उनकी पूर्ति के साधन होंगे, तो दुःख कम होगा, यदि पूरा करने के साधन न हुए, तो दुःख अधिक होगा। अज्ञानी जनों को आवश्यकतायें तो रहती हैं, किन्तु पूर्ति के साधन उनके पास नहीं होते, अतः उनको दुःख होता है। जो लोग प्राकृत विद्या में लगे रहते हैं उनकी आवश्यकतायें बहुत बढ़ जाती हैं, जो कभी भी पूर्ण रूप से पूरी नहीं हो सकतीं, इस वास्ते उनका दुःख भी दूर नहीं होता। मूर्ख अज्ञानी अधिक दुःखी होते हैं या प्राकृत विद्या के ज्ञानी. इसकी परीक्षा के लिये ग्रामीणों और नागरिकों के जीवनों को देखना चाहिये। ग्रामीण स्वस्थ और नागरिक प्रायः सदा रोगी मिलेगा। ग्रामीण जिस निश्चिन्तता से खेत में सोता है, नागरिक को वह निद्रा कल्पना में भी नहीं प्राप्त हो सकती।

प्रश्न—सब लोग अविद्या का अर्थ कर्म क़ाण्ड और विद्या का अर्थ ज्ञान काण्ड करते हैं, तुमने ये मनमाने अर्थ कहाँ से निकाले ? विद्या का अर्थ प्राकृत विद्या करना किसी प्रकार भी युक्त नहीं है।

उत्तर—जिन लोगों ने स्वयं कुछ नहीं विचारा, केवल नवीन वेदान्तियों के अर्थों को मान लिया उन्होंने कर्मकाण्ड को अविद्या बतला दिया, और संसार से विरक्त, सांसारिक कर्मों का त्याग कर समाधि का अभ्यास करने वालों को विद्या के

उपासक कह कर अविद्या के उपासकों से भी नीचे गिरा दिया। यह उनके अविचार का फल है। संसार में विद्या तीन प्रकार की होती है, अविद्या, विद्या, और सत्य विद्या, अथवा मिथ्या ज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान और पारमार्थिक ज्ञान। उसी के अनुसार मनुष्य भी तीन प्रकार के होते हैं—पामर, विषयी और मुमुक्षु। अविद्या की उपासना करने वाले पामर, विद्या की उपासना करने वाले विषयी और सत्यविद्या की उपासना करने वाले मुमुक्षु कहलाते हैं। इस मन्त्र में यह बतलाया गया है, कि यह विषयी लोगों की भूल है जो वह अपने आप को पामरों से अच्छा समझते हैं। यदि वे विद्या से आगे सत्य विद्या को प्राप्त न करेंगे, तो उनको अविद्या के उपासकों की अपेक्षा अधिक क्लेश होगा ॥६॥

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥१०॥

पदार्थ—(अन्यत्) दूसरा (एव) ही (आहुः) कहते हैं। (विद्यायाः) विद्या से (अन्यत्) दूसरा (आहुः) कहते हैं (अविद्यायाः) अविद्या से (इति) यह (शुश्रुम) हम सुनते आये हैं या हमने सुना है (धीराणाम्) धैर्य वाले विद्वानों से (ये) जो (नः) हमें (तत्) उसी का (विचचक्षिरे) उपदेश करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी लोग अविद्या की उपासना अर्थात् अज्ञान का और ही फल बतलाते हैं और प्राकृत विद्या अर्थात् व्यावहारिक ज्ञान का और ही फल बतलाते हैं। अर्थात् जो कर्म पामर लोग करते हैं उनके परिणाम और होते हैं, और विषयी लोग जो कर्म करते हैं उनका परिणाम अन्य होता है—इस प्रकार हम अपने पूर्वजों से उपदेश द्वारा मालूम करते चले आये हैं।

इस मन्त्र का भाव यह है कि विद्वान् गुरु का कर्त्तव्य है कि वह अपने शिष्यों को विद्या, अविद्या और सत्य विद्या का पृथक्-पृथक् फल बतलाये, जिससे शिष्य धोखा न खायें, भ्रम में न पड़ें ॥१०॥

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयँ् सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

पदार्थ— (विद्याम्) विद्या अर्थात् व्यावहारिक ज्ञान को (च) और (अविद्याम्) अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञान को (च) और (यः) जो (तत्) उस बात को (वेद) जानता है (उभयम्) दोनों को (सह) एक साथ (अविद्यया) अविद्या के त्याग से (मृत्युम्) मौत को (तीर्त्वा) पार करके (विद्यया) विद्या के त्याग से (अमृतम्) मोक्ष को (अश्नुते) प्राप्त करता है ।

भावार्थ—जो लोग विद्या अर्थात् व्यावहारिक ज्ञान को या विषय सम्बन्धी ज्ञान को और अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञान या उलटे ज्ञान को एक साथ अर्थात् दोनों को बराबर समझते हैं। अर्थात् जिस प्रकार अविद्या दुख का हेतु है, उसी प्रकार व्यावहारिक ज्ञान भी दुःख का कारण है, वे अविद्या को त्यागने से मृत्यु अर्थात् अज्ञान से बच जाते हैं। और व्यावहारिक=विषय सम्बन्धी ज्ञान] को त्यागने से इन्द्रियों के विकारों से पृथक् होकर समाधि द्वारा मुक्ति रूप अमृत को प्राप्त करते हैं।

प्रश्न—अविद्या के छोड़ने को मौत से पार उतरना क्यों कहा ?

उत्तर—चूंकि जीवन के विपरीत अवस्था का नाम मृत्यु है, और जीवात्मा चेतन अर्थात् ज्ञानवान् और कर्म करने में स्वतन्त्र है, ज़ब अविद्या के कारण जीव का ज्ञान दब जाता

है, और अपने आप को स्वतन्त्र के स्थान में प्रत्येक वस्तु का पराधीन अनुभव करता है, तब उसको वह अवस्था मृत्यु प्रतीत होती है। और मृत्यु है भी तो उसी दशा का नाम, जब जीव कर्म्म करने में असमर्थ होता है। अर्थात् जब जीव अविद्या से छुटकारा पा लेता है तो वह किसी का परतन्त्र नहीं रहता, अतः वह मृत्यु से पार हो जाता है।

प्रश्न—विद्या से छूटने का उपदेश क्यों किया?

उत्तर—विद्या या विषय सम्बन्धी ज्ञान या व्यावहारिक ज्ञान तभी तक रहता है जब तक इन्द्रियां अपने अपने विषयों को भोगने का काम करती हैं। और जब तक इन्द्रियां विषयों में फँसी हैं तब तक मुक्ति हो ही नहीं सकती। अतः विद्या से छुटकारा पाए बिना मुक्ति का आनन्द नहीं मिल सकता।

प्रश्न—यदि हम विद्या का अर्थ विषय सम्बन्धी ज्ञान न लें, तो विद्या के बिना मुक्ति की प्राप्ति मानना कैसे संगत हो सकता है? उस दशा में विद्या और अविद्या को एक मानना सर्वथा अशुद्ध होगा।

उत्तर—विद्या के कुछ भी अर्थ लो, विद्या से पृथक् हुए बिना मुक्ति नहीं होगी। जिस प्रकार एक मनुष्य नदी के पार जाना चाहता है, नदी के पार जाने का साधन नौका है, किन्तु जब तक मनुष्य नौका में बैठा है तब तक वह नदी के बीच में है पार नहीं, जिस समय वह नौका को छोड़ेगा, उसी समय पार होगा। इसी प्रकार विद्या भी मुक्ति का साधन है, जब तक इस साधन से पृथक् न हों तब तक मुक्ति-सुख का मिलना असम्भव है। इसी वास्ते उपदेश है कि विद्या-अविद्या दोनों प्रकार के ज्ञान से पृथक् होने पर मुक्ति मिलती है। अतः मोक्ष के अभिलाषी

सज्जनों को संसार के प्रत्येक पदार्थ को त्यागने योग्य समझना चाहिए, और किसी वस्तु में आत्मा को आसक्त नहीं होने देना चाहिये ॥ ११ ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्या ँ रताः ।१२।

पदार्थ—(अन्धम्) घोर (तमः) अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं (ये) जो (असंभूतिम्) सनातन प्रकृति की, जो उत्पत्ति रहित है (उपासते) उपासना करते हैं (ततः) उनसे (भूयः इव) मानो बहुत अधिक (ते) वे (तमः) अन्धकार में प्रवेश करते हैं, (ये) जो (उ) ही (असंभूतिम्) प्रकृति से उत्पन्न कार्य्यपदार्थ की उपासना में (रताः) लगे हैं ।

भावार्थ—जो लोग अविद्या से, कारणरूप अर्थात् परमाणु अवस्था वाली प्रकृति को ही ईश्वर समझ कर, उसकी उपासना से सुख की संभावना समझते हैं, वे अतीव अज्ञान के अन्धकार में फंस कर अपने आप को दुःखी देखते हैं। यद्यपि दुःख सुख जीवात्मा का धर्म नहीं, वरन् मन का धर्म है,* किन्तु अज्ञानी जन, जिनकी बुद्धि प्रकृति की उपासना से बिगड़ चुकी है, वे मन के धर्मों का आत्मा में अध्यारोप (कल्पना) करते हैं ।

---

*न्यायदर्शन १.१.९ में सुख दुःख को आत्मा का लिङ्ग=पहचानने का साधन, बतलाया है । आत्मा का मुख्य धर्म ज्ञान व प्रयत्न है । सुख दुःख की प्रतीति आत्मा को मन के संयोग से होती है, इस वास्ते कपिल आदि मुनि उसको मन का=प्रकृति का, धर्म बतलाते हैं । जब मन का, और उसके कारण समस्त प्राकृतिक पदार्थों का सम्बन्ध आत्मा से छूट जाता है तब आत्मा सांसारिक सुख दुःख से छूटकर मुक्ति के परमानन्द को प्राप्त करता है ।

अर्थात् प्रकृति के उपासक इतने मूढ़ हो जाते हैं कि उनको अपने स्वरूप का ज्ञान भी नहीं रहता। और वे लोग जो प्रकृति के कार्यों को ईश्वर समझ कर, उनकी उपासना से सुख की कामना करते हैं उनसे अधिक बुरी दशा में पहुँचते हैं।

प्रश्न—कारण प्रकृति के उपासक कौन लोग हैं ?

उत्तर—सब नास्तिक, जो केवल प्रकृति अथवा नेचर (Nature) से संसार की उत्पत्ति मानते हैं, प्रकृति के उपासक हैं उनको सांसारिक विषय भोग के अतिरिक्त और कोई कार्य अच्छा नहीं लगता। वे आत्मा को प्रकृति के एक विशेष संघात का परिणाम मानते हैं, अर्थात् उनको अपने स्वरूप का भी ज्ञान नहीं रहता।

प्रश्न—काय प्रकृति के उपासक कौन लोग हैं ?

उत्तर—मूर्तिपूजक, धन के पुजारी आदि आदि, जो संसार के पदार्थों से सुख की कामना करते हैं वे कार्य प्रकृति के उपासक हैं।

प्रश्न—न तो मूर्तिपूजक ही मूर्ति को ईश्वर मानते हैं, और न धन के पुजारी धन को परमेश्वर मानते हैं। ये दोनों कार्य प्रकृति को ईश्वर नहीं मानते, फिर ये उसके उपासक कैसे?

उत्तर—जो लोग ईश्वर की उपासना करते हैं, वे किसलिए करते हैं ? उत्तर में यही कहा जा सकता है, कि केवल आनन्द अर्थात् सुख की कामना से।

जरा विचारिये। प्रकृति सत् है, जीव सत्-चित्=सच्चित् है, परमात्मा सत्-चित्-आनन्द=सच्चिदानन्द है। जीव में आनन्द की कमी है, और उसे आनन्द प्राप्त करने की कामना भी है, इस वास्ते आनन्द की प्राप्ति के लिए जीव आनन्दस्वरूप

परमात्मा की उपासना करता है। इसी प्रकार जो लोग प्रकृति से उत्पन्न धनादि को आनन्द का साधन समझ कर उसकी उपासना करते हैं, वे मानो वास्तव में धनादि को परमेश्वर समझते हैं। सुख प्राप्ति की कामना के बिना मनुष्य किसी वस्तु की उपासना नहीं करता। सुख की प्राप्ति के लिए जिसकी उपासना की जाये, वही परमेश्वर है ॥१२॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

पदार्थ—(अन्यत्) दूसरा (एव) ही (आहुः) कहते हैं (संभवात्) कार्यजगत् से (अन्यत्) दूसरा (आहुः) कहते हैं (असम्भवात्) जगत् के कारणरूप जड़ प्रकृति से (इति) वह (शुश्रुम) हम सुनते आये हैं या हमने सुना है (धीराणाम्) : : विद्वानों से (ये) जो (नः) हमें (तत्) उसी का (विचचक्षिरे) उपदेश करते हैं।

भावार्थ—जो लोग कार्य जगत् की उपासना करते हैं उनको दुःख से मिला हुआ, क्षणिक सुख कभी कभी मिलता है, किन्तु दुःख सदा ही बना रहता है, और वे मन्दबुद्धि हो कर जन्ममरण के प्रवाह रूप संसार सागर में सदा डूबते रहते हैं—ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। जो कारण रूप जड़ प्रकृति की उपासना करता है, वह प्रकृति में लीन हो जाता है, ऐसा विद्वान् लोगों से हम सुनते आये हैं। भाव यह कि प्रत्येक मुमुक्षु का कर्त्तव्य है कि विद्वान् जनों से कार्य-जगत् और कारण की उपासना के पृथक् पृथक् फलों को भली प्रकार अवगत करने की चेष्टा करे। विद्वान् जन भी उनको ठीक-ठीक ज्ञान करायें, जिससे वे मोक्षमार्ग का ज्ञान प्राप्त करके उस पर चल सकें॥१३॥

संभूतिञ्चासंभूतिञ्च यस्तद्वेदोभय ँ् सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

पदार्थ—(संभूतिम्) कार्य-जगत् अर्थात् शरीर आदि रचित पदार्थों को (च) और (असंभूतिम्) जगत् का वह कारण जो दीखता नहीं (च) और (तत्) उसको (वेद) जानता है (उभयम्) दोनों को(सह) एक साथ (विनाशेन) विनाश से अर्थात् गुप्त=अदृश्य कारण के यथार्थ ज्ञान से (मृत्युम्) जन्म-मरण के प्रवाह को (तीर्त्वा) तर कर, उससे पृथक् होकर (सम्भूत्या) उत्पन्न पदार्थों के ज्ञान से (अमृतम्) मुक्ति को (अश्नुते) प्राप्त करता है।

भावार्थ—पिछले मन्त्रों में बताया गया है कि कार्य-जगत् की उपासना से अमुक फल होता है और कारण की उपासना से अमुक फल होता है। और यह भी ज्ञात हो चुका कि दोनों प्रकार की उपासना से मुक्ति नहीं मिल सकती। जीव को आनन्द की आवश्यकता है, कार्य, कारणरूप प्रकृति उससे शून्य है। जिस वस्तु में जो गुण न हो, उस वस्तु की उपासना से वह गुण कैसे प्राप्त हो सकता है? उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति गरमी से तङ्ग आ रहा हो और यह गरमी दूर करने के लिये आग की उपासना करे अर्थात् आग के पास बैठे, तो उसकी गरमी घटेगी नहीं, वरन् बढ़ जायेगी, किसी भी अवस्था में न्यून नहीं होगी। जीव को अज्ञान के कारण दुःख होता है, यदि वह दुःख से छूटने के लिए ज्ञानशून्य प्रकृति की उपासना करेगा, तो उसका ज्ञान, बढ़ने के स्थान में कम होकर, और भी उसके दुःख को बढ़ायेगा। इस वास्ते प्रकृति की उपासनासे मुक्ति का निषेध करके मुक्ति के साधन बतलाये हैं। जो मनुष्य जन्म और मृत्यु के नियमों और उनके साधनों को यथार्थ रूप में, और एक साथ

जानता है, अर्थात् इस तत्व को समझता है कि जन्म और मृत्यु अर्थात् उत्पत्ति और नाश शरीर की अवस्थायें हैं, जो उत्पन्न हुआ है, उसका नाश अवश्यम्भावी है एवं जो शरीर सम्बन्धी इच्छाओं को अपने से पृथक् समझता है, वह जन्म-मरण के चक्र से छूटकर शरीर के होते हुए ही मुक्ति की अवस्था को प्राप्तकर लेता है,अर्थात् शरीर में रहते हुये ही मोक्ष के आनन्द को भोगता है। भाव यह कि मन्त्र बतलाता है कि मरने के पश्चात् ही मुक्ति नहीं होती, जिससे नास्तिकों को मोक्ष की सत्ता के अपलाप करने का अवसर मिल सके, वरन् परमात्मा ने ऐसे नियम बना दिए हैं कि जिससे मनुष्य जीवनकाल में ही मुक्ति में दूसरों की श्रद्धा उत्पन्न करने का कारण बन सके। प्रत्येक मनुष्य को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जीवन में जिसकी मुक्ति नहीं होती, मरने के पश्चात् भी उसकी मुक्ति नहीं हो सकती।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

पदार्थ—(हिरणमयेन) चमकीली वस्तुओं के या सोने के (पात्रेण) पात्र या ढकने से (सत्यस्य) सत्य का (अपिहितम्) ढका हुआ है (मुखम्) मुख (तत्) उसको (त्वम्) तू (पूषन्) हे उन्नति चाहने वाले ! (अपावृणु) हटा दे (सत्यधर्माय] सत्य धर्म को [दृष्टये] देखने के लिए।

भावार्थ—चमकदार वस्तुओं की कामना रूपी ढकने से सत्य का मुख ढका हुआ है। यदि तुम अपनी उन्नति की कामना रखते हो तो [जब तक सत्य का ज्ञान न हो तब तक सत्य का आचरण नहीं हो सकता,और जब तक सत्याचरण न हो,तब तक उन्नति नहीं हो सकती अतः] इस ढकने को हटा दो अर्थात् चमकीली वस्तुओं की कामना छोड़ दो। इसका अभिप्राय यह है कि-

जिस मनुष्य के मन में चमकीली वस्तुओं की चाह हो, वह कभी भी सत्यपूर्वक जीवन नहीं बिता सकता। चमकीली वस्तुओं की इच्छा से लोभ और काम उत्पन्न होते हैं, लोभी और कामी मनुष्य किसी भी दशा में विश्वास योग्य नहीं हो सकता। आज कल जितने दोष दृष्टिगोचर होते हैं, सब इन्हीं चमकीली वस्तुओं के कारण से हैं। यदि कोई न्यायालयमें झूँठ बोलता है तो चमकदार वस्तुओं के लोभ से, यदि कोई झूठा पत्रक या बही बनाता है, तो चमकदार वस्तुओं की इच्छा से, यदि वेश्या व्यभिचार करती है, तो चमकदार वस्तुओं की इच्छा से, यदि चोर चोरी करता या डाका डालता है, तो चमकदार वस्तुओं की इच्छा से। सारांश यह कि संसारमें जितनी बुराइयाँ फैली हुई हैं, सबका मूल चमकदार वस्तुओं की इच्छा है। यदि संसार से यह इच्छा नष्ट हो जाये, तो प्रत्येक मनुष्य सत्य का आचरण करने लग जाये। भाव यह कि मनुष्य को लक्ष्य से दूर रखने वाली तथा दिन-रात दुःख सागर में डुबो रखने वाली यही चाण्डाली इच्छा है। जब तक मनुष्य इस इच्छा=तृष्णा से छुटकारा नहीं पाता, तब तक दुःखों से छूटना और उन्नति करना सर्वथा असम्भव है ॥१५॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते
पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

पदार्थ—हे (पूषन्) उन्नति करने वाले! (एकर्षे) सब ऋषियों में ऋषि, अर्थात् सम्पूर्ण वेद जानने वाले! (यम) न्याय करने वाले (सूर्य) अन्तर्यामिन् प्रकाश करने वाले! (प्राजापत्य) प्रजा की रक्षा करने वाले! (व्यूह) हम से दूर कर (रश्मीन्) किरण (समूह) फैला (तेजः) तेज (यत्) जो (ते) तेरा (रूपम्) रूप अर्थात् सत्ता स्वरूप (कल्याणतमम्)

सबसे कल्याणकारी(पश्यामि) देखूँ (यः) जो (असौ) वह(असौ) प्राण में (पुरुषः)जीवात्मा या व्यापक परमात्मा(सः) वह (अहम्) मैं(अस्मि) हूँ।

भावार्थ—हे वेद के जानने वाले सबसे श्रेष्ठ परमात्मन्! आप सबके अन्तर्यामी और प्रेरणा करने वाले और सूर्य की भाँति प्रकाश वाले हैं। आप सब दुखों से मुझे पृथक् करके सुख का मार्ग दिखाने वाले अपने तेज को हम पर फैलाइये। और जो आपका सबसे अधिक कल्याण करने वाला स्वरूप है, जिससे प्राणियों को ऐसा आनन्द मिलता है कि उससे बढ़ कर या उस जैसा आनन्द कहीं प्राप्त नहीं होता, हम समाधि द्वारा उस आनन्द दायक स्वरूप को देख सकें। ऐसी विद्या का दान हमें दीजिये जिससे हमें यह निश्चय हो जाय कि हम पुरुष अर्थात् विकारों से रहित हैं और इन शारीरिक विकारों के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है ॥१६॥

वायुरनिलममृममथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।
ओंक्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर ॥१७॥

पदार्थ—(वायुः) प्राणवायु (अनिलम्) वायु के समान सूक्ष्म शरीर में (अमृतम्) नाश रहित स्थूल शरीर के बाद भी बना रहने वाला (अथ) और (इदम्) यह (भस्मान्तम्) जिसका परिणाम भस्म या धूल है ऐसा (शरीरम्) स्थूल शरीर। (ओम्) परमात्मा को (क्रतो) संकल्प करने वाले (स्मर) स्मरण कर (कृतम्) अपने किये कर्म को (स्मर) स्मरण कर। (क्लिबे) आत्मिक सामर्थ्य के लिए (स्मर) स्मरण कर।

भावार्थ—हे मनुष्य! प्राण वायु इस स्थूल शरीर के नाश के पश्चात् भी बने रहने वाले सूक्ष्म शरीर में मिल जायेगा। यह जो तुम्हारा स्थूल शरीर है, सूक्ष्म शरीर और जीवात्मा के निकल जाने के बाद मिट्टी हो जायेगा। जब तक इसमें प्राण हैं,

तभी तक इसमें भूख प्यास तथा सब प्रकार की चेष्टायें होती हैं। जिस समय तक इसके भीतर जीवात्मा रहता है तभी तक ज्ञान रहता है। जब प्राण और जीवात्मा निकल जाते हैं तब यह देह किसी कार्य के योग्य नहीं रहता। और वह सम्बन्धी जो पहले इसकी रक्षा के लिए हजारों प्रकार परिश्रम से करने को तैयार रहते थे, जो तनिक सी त्रुटि को भी न देख सकते थे, जहाँ तनिक सी मिट्टी लग जाती थी, वहाँ तत्काल धोने पोंछने का प्रबन्ध करते थे। जब प्राण और जीवात्मा निकल गए, वे स्वयं अपने हाथों चिता बना कर उसमें लिटा कर आग लगा कर इस शरीर को भस्म कर देते हैं। अतः हे कर्म करने वाले व्यक्ति तू 'ओ३म्' नामक परमात्मा को स्मरण कर, जिससे तेरी ज्ञान-शक्ति बढ़े और तू मोक्ष मार्ग का अधिकारी बन सके। तू आत्मिक बल देने वाले प्रभु को स्मरण कर, और अपने किये हुए कर्मों को स्मरण कर, जिससे तुम दुःखों से छूटने का मार्ग प्राप्त कर सको। भाव यह है कि इस शरीर को नाशवान् मान कर आत्मिक बल देने वाले परमात्मा की उपासना करनी चाहिए जिससे मनुष्य का आतमा बल प्राप्त करके संसार के दोषों और इन्द्रियों के विषयों की इच्छा से युद्ध करते हुए इष्ट लक्ष्य तक पहुँच सके ॥१७॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्
युयोध्यस्मज्जुहराणमेनो
भूयिष्ठान्ते नमउक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! (नय) चला (सुपथा) अच्छे मार्ग पर (राये) शान्ति के वास्ते (अस्मान्) सब (देव) हे प्रकाश

करने वाले परमात्मन् ! (वयुनानि) कर्म्मों को (विद्वान्) जानने वाले हो (युयोधि) पृथक् कर (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) बुरे और अधर्म्म के कुटिल कार्य्य (एनः) पाप (भूयिष्ठाम्) बार बार या बहुत बड़ी (ते) तुझ से (नमउक्तिम्) नम्रतापूर्ण उक्ति या प्रार्थना [विधेम] हम करते हैं ।

भावार्थ--हे प्रकाश स्वरूप, परमात्मन् ! आप हमको मोक्ष मार्ग पर चलाइये । हे हमारे कर्म्मों को जानने वाले, सब जगत् में व्यापक परमात्मन् ! आप हमें कुटिल अर्थात् बुरे कर्म्मों से परे हटाइये । हम बार-बार विनम्र होकर आप से प्रार्थना करते हैं कि आप हमारे मनों को पाप से हटा कर मोक्षमार्ग पर चलाइये ।

इसका भाव यह है कि चूंकि परमात्मा की सहायता के बिना कोई मनुष्य आत्मा के हितकारी और अहितकारी कार्य्यों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, अतः मोक्ष के लिये परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिये, कि वह हमें सत्यासत्य का विवेक करने वाली बुद्धि दान दे जिस से हम बुरी बातों को, आत्मा के लिये अहितकारी समझ कर, छोड़ सकें और मुक्ति के लिये आवश्यक भली बातों का ज्ञान प्राप्त कर सकें जिससे हम उन पर आचरण करके अपने आत्मा को शान्तिधाम तक पहुँचा सकें ।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः

इति श्री मद्दर्शनानन्द सरस्वती स्वामिकृतस्येशोपनिषद्भाष्यस्य वेदानन्दतीर्थस्वामिकृतं भाषान्तरं समाप्तम् ।

शुभं भूयात् ।

—❀—

ईशोपनिषत्सार

य[ुर्]वेद के अन्तिम अध्याय में थोड़ा सा परिवर्त्तन करने से ईशोपनिषत् की रचना हुई है। यजुर्वेद के ४०।९-११ मन्त्र ईशोपनिषत् में १२-१४ हैं, और य० ४०।१२-१४ ईशोपनिषत् के ९-११ मन्त्र हैं। × × × यजुर्वेद में हिरण्मयेन पात्रेण—' मन्त्र का पाठ इस प्रकार है—'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषःसोऽसावहम। ओ३म् खं ब्रह्म॥' और वहां यह अन्तिम अर्थात् १७ वाँ है, उपनिषत् में यह १६ वाँ है किन्तु उत्तरार्ध का पाठ इस भाँति है—'तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।' इस पाठभेद के कारण पूर्वार्द्ध —हिरण्मयेन पात्रेण—' का अर्थ भिन्न हो जाता है। उसके लिये लेखक की ईशोपनिषत् की व्याख्या (उर्दू) देखनी चाहिए। उपनिषत् में पूषन्नेकर्ष—' वाक्य अधिक है, यह यजुर्वेद में नहीं है। 'वायुरनिलं—' यजु० में ४०। १५ है, किन्तु ईशोपनिषत् में में १७ है। तनिक विचार से देखा जाये, तो 'हिरण्मयेन पात्रेण' और पूषन्नेकर्षे—' यह दोनों यजुर्वेद के 'हिरण्मयेन पात्रेण—' की व्याख्या की है। इसी कारण ईशोपनिषत् यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय की व्याख्या कहलाती है। केवल इतना ही नहीं, मूल ४०। ६ में यस्तु 'सर्वाणि भूतान्यात्मन्येव—' पाठ है, किन्तु ईशोपनिषत् में 'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येव—' पाठ है। अर्थात् मूल में 'आत्मन्' पाठ है, इस के अर्थ बहुत हो सकते थे, ईशोपनिषत् ने व्याख्या का काम करते हुए 'आत्मनि' अर्थात् 'आत्मा में' अर्थ करके सब सन्देह दूर कर दिये। इसी प्रकार इसी मन्त्र में मूल 'विचिकित्सति' पाठ है। ईशोपनिषत् में 'विजु-

गुप्सते' है। यजुर्वेद के शेष अध्यायों की भी इसी ढङ्ग की व्याख्या है। उस सारी व्याख्या को यजुर्वेदीय काण्व शाखा कहते हैं अर्थात् कण्वऋषि की बनाई यजुर्वेद की व्याख्या। इस प्रकार की यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक, कठकपिष्टल आदि अनेक शाखायें=व्याख्यायें हैं।

चूँकि यह उपनिषत् 'ईशा—' शब्द से आरम्भ होती है, अतः इसे ईशोपनिषत् या ईशावास्योपनिषत् कहते हैं। वाजसनेय याज्ञवल्क्य द्वारा प्रोक्त होने के कारण 'वाजसनेयोपनिषत्' भी इसका एक नाम है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। यह अल्पपाठ भेद से यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय है। यजुर्वेद के ३९ वें अध्याय में अन्त्येष्टि कर्म का निरूपण है। कोई भी मनुष्य मरना नहीं चाहता, किन्तु एक न एक दिन सभी मरते हैं। मृत्यु देखकर सभी के मन में सहसा यह विचार आता है कि कोई बहुत बड़ा बली सामर्थ्यवान् ही मृत्यु कराता है, जो कहीं भी और किसी को नहीं छोड़ता। इस से प्रतीत होता है कि वह सर्वत्र रहता है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये ईशो०का पहला मन्त्र है—'ईशा-वास्यमिदँ सर्वं—।' परमेश्वर को यहाँ ईश् कहा है। ईश् कहते हैं शासक को, स्वामी को। अर्थात् परमेश्वर जगत् का शासक और स्वामी है. और वह सर्वत्र व्यापक है। मूल ब्रह्मविद्या इतनी ही है, शेष तो इसी तत्त्व को समझाने के लिये व्याख्या मात्र सी है। यदि 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' का पक्का निश्चय हो जाये। परमेश्वर की सर्वस्वामिता और सर्वव्यापकता का पक्का बोध हो जाये, तो मनुष्य से पाप कर्म कभी हो ही न सके। पाप करते समय मनुष्य चाहता है कि उसे कोई न देखे। परन्तु जब यह दृढ़ धारणा हो गई कि परमात्मा सब जगह है, तब उसकी दृष्टि

से कैसे बच सकेगा। अतः इस ज्ञान के होने से पाप प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। इसी बात को मन्त्र के उत्तरार्ध में समझाया है।

कइयों को यह भ्रम रहता है कि ब्रह्मज्ञानी कर्म नहीं करता, दूसरे और तीसरे मन्त्र में सारी आयु कर्म करने, कर्म के बिना प्रभु सङ्गति का अन्य उपाय न होना कह कर, कर्म त्यागी आत्मघातियों की दुर्गति का निरूपण किया है।

४र्थ, ५म मन्त्रों में ईश्वर की सर्वव्यापकता, इन्द्रियागोचरता, सर्वव्यापक होने के कारण मन से भी अधिक वेगवत्ता, जगत् के अन्दर बाहर ओत प्रोत होने का वर्णन है।

जब ब्रह्म की सर्वव्यापकता का निश्चय हो गया तो घृणा के भाव नष्ट हो जाते हैं। घृणा किससे करें? जिससे घृणा करते हैं, उसमें भी सर्वान्तरात्मा विराजता है। इस सर्वव्यापकता के ज्ञान के कारण मोह शोक भी नष्ट हो जाते हैं। जब परमात्मा सब में है, जैसे मुझ में है, वैसा ही दूसरों में भी है, तो फिर एक से ममता क्यों? किसी एक की हानि पर शोक क्यों? जब किसी में विशेषता नहीं, सब में ममता के दर्शन होने लगे तब शोक मोह के लिए स्थान ही नहीं रहता। यह सुन्दर उपदेश ६, ७, वें मन्त्रों में कहा गया है।

जिसकी सर्वव्यापकता से मोह शोक का नाश होता है, उस परमात्मा के स्वरूप का कुछ विस्तार से ८ वें मन्त्र में वर्णन किया गया है। उसमें साथ ही 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्' के द्वारा उसे सृष्टिकर्त्ता, तथा यथार्थोपदेष्टा भी बना दिया।

अर्थात् अब तक इस उपनिषत् में परमेश्वर को स्वामी, शासक, सर्वव्यापक, गतिदाता किन्तु स्वयं अकम्प, समीप होता हुआ भी दुष्प्राप्य, सब के अन्दर बाहर विराजमान, मन और इन्द्रियों की पहुँच से परे, सर्वसृष्टि का प्रबन्धक, अशरीरी नस-

नाड़ी के बन्धन से रहित, किसी प्रकार की त्रुटि से शून्य, शुद्ध पवित्र, पाप-शून्य क्रान्तदर्शी, मनों की अवस्था का ज्ञाता, स्वयंभू दुष्टों को दण्ड देने वाला, ठीक-ठीक पदार्थों की रचना करने वाला, सृष्टिकर्त्ता, कर्म्मफल-विधाता, वेदोपदेश-दाता कहा है। और साथ ही यह भी बता दिया कि परमेश्वर सदा ही इन गुणों से युक्त है और कि जीव भी सनातन है।

९ से १४ तक के मन्त्रों में ईश्वर से भिन्न की उपासना, विद्या और अविद्या की प्रथक् उपासना का फल तथा समुच्चयज्ञान का फल वर्णन किया है।

साधक को अनुभव होता है कि परमात्मा पर या परमात्म सम्बन्धी ज्ञानी पर प्राकृत पदार्थों के लोभ ने एक घना परदा डाल रखा है। साधक इसे उठाने में अपने आप को बेबस पाता है, किन्तु इसे हटाये बिना उस सनातन सत्य के दर्शन नहीं हो सकते। अर्थात् संकेत है कि परमात्मा और जीव में न कालकृत दूरी है और न देश-दूरी। दूरी यदि है तो अज्ञान के कारण, उस अज्ञान के व्यवधान को हटा दो, भगवान् को सामने पाओगे।

भगवान् के अनन्त रूप हैं। रुद्र—रुलाने वाला—भी तो उसका एक रूप है। भगवान् के तेज को कौन कैसे सहार और धार सकता है ? अत: प्रार्थना की कि प्रभु तू अपने प्रचण्ड तेज को हम पर न डाल, हमें तो अपना आनन्दमय—सब से अधिक कल्याणमय—स्वरूप दिखला। यह बात उपनिषद् के १३ वें वाक्य में कही गई है।

१७ वें में शरीर की असारता समझा कर जीव को भगवान् के स्मरण करने की प्रेरणा की गई है। कर्म्मों की याद दिलाई गई है। मूल में यह १५ वाँ मन्त्र है, उत्तरार्ध में थोड़ा सा पाठ भेद भी है।

जीव ने अनुभव किया है कि वह बहुत ही विवश है,उसमें इतनी शक्ति नहीं जितनी वह समझ रहा था। संसार में उसने देखा कि शरीर और इन्द्रियों के बिना वह कुछ नहीं कर सकता उसे अपनी अल्पज्ञता का ध्यान आया, और वह रो-रोकर भगवान् से कहता है—

'अग्ने नय सुपथा राये—'

सब को आगे ले जाने वाले [यहाँ जीव को थोड़ा सा आश्वासन भी मिला है। संसार में जितने मिले थे, पीछे को खींचने वाले थे, यहाँ उसे भगवान् से मेल हुआ है जो उसे आगे ले जाना चाहता है, अतः वह भगवान् से कहता है—अग्ने नय' परमात्मन् ! मैं डर गया हूँ, मैं नहीं चलूंगा। जाने, मैं अपनी अज्ञता, अल्पज्ञता, मूर्खता के कारण कहीं कुपथ पर न चल पड़ूं अतः तू ही चला, तू सुपथ पर ही चलायेगा, तू सबका अकारण हितैषी है, सबका उन्नति-साधक है। तू मेरे विचारों और आचारों को जानता है। प्रभो ! मैं तो ऐसा निपट अज्ञानी हूँ कि मुझे यह भी ज्ञात नहीं कि मेरे हृदय में—तेरे मिलन-मन्दिर में—मैंने क्या कूड़ा भर रखा है, तू उसे भी जानता है। अतः शोधक ! पापों को भस्म करने वाले अग्ने ! मेरे इस हृदयगत कौटिल्य को, पाप वासना को तू नष्ट कर। प्रभो ! मेरे पास तुझे देने को कुछ नहीं है, सभी तेरा दिया हुआ है, अतः भगवान् मैं तो अपना आप तेरे समर्पण करता हूँ और तुझे भूरि-भूरि प्रणाम करता हूँ।' इस प्रकार१८ वें में प्रार्थना करके इस उपनिषद् की समाप्ति हुई है।

भाव यह कि ईश्वर की सर्वव्यापकता और कर्त्तव्य-पथ तत्परता इस उपनिषत् का सार है।

—स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

॥ ओ३म् ॥

केनोपनिषद् का भाष्य

(भूमिका)

इस उपनिषत् में मन, इन्द्रियों और प्राणों के गतिदाता तथा संसार को नियमित रूप से गति देने वाले का वर्णन है। यह उपनिषद् मिथ्याज्ञान को हटाने में अत्यन्त उपयोगी है। इसी विचार से इसका उर्दू भाषा में भाष्य किया गया है कि इसके द्वारा उर्दू भाषा जानने वाले तथा मुसलमान भाई मालूम कर सकें, कि कुरान और वेद की शिक्षाओं में कितना अन्तर है और वैदिक शिक्षा जिस तरह परमात्म पूजा का उपदेश करती है, कुरान की शिक्षा उस विचार तक पहुँच ही नहीं पाती। यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, लोग स्वयं ही तुलना कर विचार से निर्णय कर लेंगे। इसमें प्रश्नोत्तर हैं।

प्रथम खण्ड

प्रश्न—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमा प्रैति युक्तः केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो नक्तिः ? ॥१॥

---

*जिस प्रकार यह उपनिषत् मुसलमानों के भ्रम दूर करने में सहायक हो सकती है, उसी प्रकार पौराणिकों के साकारवाद का खण्डन निराकारवाद की पुष्टि के द्वारा उनके भ्रम दूर करने में बड़ी उपकारक है। स्वामीजी ने मुसलमानों के उपकार के विचार से उपनिषदों पर भाष्य लिखे, किन्तु यह सभी के लिए लाभदायक हैं, अतः हमने उनके भाष्यों का आर्ष भाषा (हिन्दी) में अनुवाद कर दिया है।

पदार्थ—(केन) किसके द्वारा (इषितम्) आवश्यक पदार्थ क (पतति) प्राप्त करता है (प्रेषितम्) प्रेरित किया हुआ (मनः) मनन करने वाला, सोच विचार करने वाला मन (केन) किससे (प्राणः) श्वास, प्राण (प्रथमः) अपने विविध स्थानों में फैला हुआ (प्रैति) सब ओर अपना कार्य करता है (युक्तः) अपने कार्य कार्य में लगा हुआ (केन) किससे (इषिताम्) नियुक्त की हुई (इमाम्) इस प्रत्यक्ष होने वाली (वाचम्) वाणी को (वदन्ति) बोलते हैं। (चक्षुः) रूप का ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय अर्थात् आँख को (श्रोत्रम्) कान को (कः+उ) कौन (देवः) देव (युनक्ति) नियुक्त करता या काम में लगाता है ?

भावार्थ—शिष्य अपने गुरु से प्रश्न करता है—हे गुरो ! किसके गति देने से यह मन अपनी आवश्यक एवं लुभाने वाली वस्तुओं की ओर जाता है ? और किसकी शक्ति या चेष्टा से यह प्राण सारे शरीर को गति देते और समस्त शरीर में अपनी क्रिया कर रहे हैं ? किसके सामर्थ्य से वाणी इन शब्दों का उच्चारण करती हैं ? और आँख नाक आदि इन्द्रियों को कौन अपने अपने कार्य में लगाता है ? क्या कारण है कि आँख से रूप का ही ज्ञान होता है, शब्द आदि का ज्ञान नहीं होता ? क्या हेतु है कि वाणी शब्दों को प्रकट कर सकती है ? कोई दूसरी इन्द्रिय शब्दों को प्रकट नहीं कर सकती ? यद्यपि इन्द्रियों से कार्य लेने वाला जीवात्मा है, तथापि यह नियम, यह विधान किसने बाँध रखा है कि अमुक इन्द्रिय से ही अमुक कार्य होगा, अन्य से नहीं? अन्धे का आत्मा भी चाहता है कि वह रूप देखे, अर्थात् किसी कारण या इन्द्रिय से उसे रूप का ज्ञान हो जाये, किन्तु ऐसा होता नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवात्मा अपनी इच्छा से या सामर्थ्य से इस कार्य को नहीं कर सकता। इससे पुनः जीवात्मा का प्रत्येक कार्य में स्वतन्त्र न होना भी प्रतीत होता है।

वरन् जीवात्मा इन इन्द्रियों से वही कार्य कर सकता है, जो इस नियम को नियत करने वाले के नियम के अनुकूल हैं। इन नियमों के अनुकूल यत्न करने से मनुष्य सफल होता है, और इन नियमों के विरुद्ध चलने से वह सफल नहीं होता। उत्तर—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो,
ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥२॥

पदार्थ—(श्रोत्रस्य) कान का (श्रोत्रम्) कान (मनसः) मन का (मनः) मन (यत्) जो (वाचः) वाणी अर्थात् जिह्वा की (ह) सचमुच (वाचम्) जिह्वा है (सः+उ) यही (प्राणस्य) प्राण का भी (प्राण है) (चक्षुषः) आंख की (चक्षुः) आँख है। (अतिमुच्य) त्याग कर (धीराः) धीर मनुष्य, धैर्यधारी मनुष्य (प्रेत्य) मर कर (अस्मात्+लोकात्) इस लोक से (अमृताः) मृत्यु रहित अर्थात् मुक्त (भवन्ति) होते हैं।

भावार्थ—जो अटल या सूक्ष्म शक्ति सारे संसार को चलाने वाली है; वह कर्णेन्द्रिय से सूक्ष्म है, और उसका कान है अर्थात् कान उसकी शक्ति से सुनता है। भाव यह है कि जिस प्रकार शरीर कर्णेन्द्रिय के बिना नहीं सुन सकता, उसी भाँति परमात्मा की सहायता के बिना कान भी नहीं सुन सकते। अतः भली भाँति प्रकट है कि परमात्मा कान का भी कान है। जिस प्रकार मन के संयोग के बिना इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकतीं, उसी प्रकार परमात्मा की सहायता के बिना मन भी अपना कार्य नहीं कर सकता, अतएव वह मन का भी मन है। जिस भाँति गूँगा मनुष्य वाणी के बिना अपने

आन्तरिक विचारों को प्रकट नहीं कर सकता, उसी प्रकार वाणी भी परमात्मा की सहायता के बिना गूँगी है, अतः वह वाणी की वाणी है। जिस प्रकार प्राणों के बिना कोई शरीर चेष्टा नहीं कर सकता, इसी भांति प्राण भी परमात्मा की सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकते, अतः वह प्राणों का भी प्राण है। जैसे कोई भी मनुष्य आँख के बिना देख नहीं सकता, ऐसे ही परमात्मा की सहायता के बिना आँख भी नहीं देख सकती। फलितार्थ यह—कि हर एक इन्द्रिय अपने कार्यों में परमात्मा की सहायता की अपेक्षा करती है, परमात्मा की सहायता के बिना कोई इन्द्रिय कार्य्य नहीं कर सकती।

प्रश्न—यदि प्रत्येक इन्द्रिय परमात्मा की सहायता से कार्य्य करती है, उसकी सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकती, तो जीवात्मा अपने कार्य्यों में विवश=पराधीन हुआ, फिर वह कर्म्मों का उत्तरदाता क्योंकर हो सकता है? क्योंकि यदि इन्द्रिय अपनी स्वतन्त्रता से कार्य्य कर सकती, तो उत्तरदाता होती। स्वतन्त्र ही कर्म्मों का उत्तरदाता हो सकता है।

उत्तर जीवात्मा कर्म्म करने में स्वतन्त्र है। जिस प्रकार यद्यपि सूर्य्य के प्रकाश में मनुष्य भले या बुरे कर्म्म करता है। प्रकाश के बिना इन इन कर्म्मों को नहीं कर सकता तथापि सूर्य्य पर मनुष्यों के भले बुरे कर्म्मों का उत्तरदायित्व नहीं है, क्योंकि वह उसे कर्म्म करमे पर बाधित नहीं करता है, इसी भाँति परमेश्वर ने जीवों को कर्म्म करने के साधन शरीर और इन्द्रिय अवश्य दिये हैं, किन्तु वह जीवों को कर्म्म करने पर विवश नहीं करता है।

प्रश्न—इन्द्रियां स्वयं हर समय काय्य करती हुई दीखतीं

हैं उसमें ईश्वर की सहायता का मानना कपोलकल्पना मात्र है। उसमें कोई प्रमाण नहीं है।

उत्तर—जीव की प्रत्येक इन्द्रिय बाह्य वस्तुओं की सहायता की अपेक्षा करती है—आँख प्रकाश की, कान आकाश, की त्वचा वायु की, रसना=स्वाद-इन्द्रिय जल की, नाक=सूँघने की इन्द्रिय भूमि की। यह सब पदार्थ अपना कार्य्य तब कर सकते हैं जब संस्थान=रचना की दशा में हो। रचना की दशा में आना इनके अपने वश की बात नहीं है, क्योंकि प्रकृति में ज्ञान और चेष्टा नहीं है, इनको रचना की अवस्था में लाने वाला सर्वज्ञ और सब का गतिदाता परमात्मा है, अतः कोई भी इन्द्रिय परमात्मा को सहायता के बिना कोई कार्य्य नहीं कर सकती। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि में जो शक्ति है, वह सब परमात्मा की दी हुई है।

प्रश्न—यदि इन्द्रियों के सहयोग के बिना जीवात्मा कुछ नहीं कर सकता, और बाह्य पदार्थों की सहकारिता के बिना इन्द्रियां कुछ नहीं कर सकती, और बाह्य पदार्थों को रचने वाला परमात्मा है, तो जितने पाप होते हैं, उनका मूलकर्त्ता परमात्मा ही है। न वह जगत् को रचता, न इन्द्रियों को सहायता मिलती और न जीव पाप करते। भला दयालु परमात्मा को इतना आडम्बर रचने की क्या आवश्यकता पड़ी थी?

उत्तर—यदि वह सृष्टि ही पहली उत्पत्तिहोती, तो आक्षेपकर्त्ता का यह आक्षेप उचित हो सकता था, किन्तु ईश्वर जीवों को युक्ति के आनन्द के लिये और कर्म्मों का फल देने के लिये सृष्टि को प्रवाह से अर्थात् क्रमसे सदा से उत्पन्न करता और विनाश करता रहता है। सृष्टि के आरम्भ में वेदों की शिक्षा द्वारा भले बुरे काविवेक करा दिया, अतः ईश्वर पर दोष नहीं आ सकता

ऐसा आक्षेप ईसाई मुसलमानों के मतानुसार ईश्वर पर तो हो सकता है जिसने प्रथम वार अपनी ही इच्छा से सृष्टि की है, जिसमें जीवों के कर्म्मों, ईश्वर के दया और न्याय गुणों की अपेक्षा नहीं थी ॥ २ ॥

प्रश्न—ईश्वर को हम किस भाँति देख सकते हैं ?

उत्तर—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदिता-दथो अविदितादधि इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याच-चक्षिरे ॥ ३ ॥

पदार्थ — (न) नहीं (तत्र) वहाँ अर्थात् ईश्वर तक (चक्षुः) रूप का ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय अर्थात् आँख (गच्छति) जाती है (न) नहीं (वाक्) बोलने वाली इन्द्रिय अर्थात् वाणी (गच्छति) जाती है (नो) नहीं (मनः) सुख दुःख का अनुभव कराने वाली, ज्ञानेन्द्रियों और कर्म्मेन्द्रियों—दोनों में गिनी जाने वाली इन्द्रिय व मन वहां जाता है (न) नहीं (विद्मः) जानते हैं (न) नहीं (विजानीमः) विशेषतया जानते हैं (यथा) जिस प्रकार (एतत्) यह बात (अनुशिष्यात्) गुरु उपदेश करे—अर्थात् नियमपूर्वक अनुक्रम से वेद द्वारा सिखलाये (अन्यत्) भिन्न (एव) ही (तत्) वह (विदितात्) जाने हुए से (अथो) और (अविदितात्) न जाने हुए से (अधि) ऊपर हैं, श्रेष्ठ हे (इति) इस तरह (शुश्रुम) हम सुनते हैं (पूर्वेषाम्) पहले आचार्यों अर्थात् सृष्टि के आरम्भ के ऋषियों से (ये) जिन ऋषियों ने (नः) हमको (तत) उस ब्रह्म के विषय में (व्याचचक्षिरे) व्याख्यानों द्वारा उपदेश किया ।

भावार्थ — चूंकि ब्रह्म अर्थात् जगत्पिता परमात्मा निराकार होने से रूप रहित है, इस वास्ते उसको आंख नहीं देख

सकती, आँख तो केवल पदार्थों का रूप ही दिखा सकती है। शब्द द्वारा प्रत्येक वस्तु के गुणों का वर्णन होता है, ब्रह्म अनन्त गुणों वाला है उसका पूरा-पूरा गुण वर्णन हो ही नहीं सकता। मन संसार के पदार्थों को प्रायः झटपट जान लेता है, किन्तु अनन्त ब्रह्म को इस दशा में, वह भी नहीं जान सकता। मनुष्य के पास ज्ञान के साधन इन्द्रियाँ और मन हैं, परन्तु यह ब्रह्म का अनुभव नहीं करा सकते, अतः हम ब्रह्म को नहीं जानते। यद्यपि अनुमान आदि के द्वारा व्याप्ति ज्ञान पूर्वक*, अन्य

---

* यहां स्वामीजी ने अनुमान की चर्चा की है। पाठकों की सुविधा के लिए यहाँ हम मुख्य चार प्रमाणों के लक्षण उदाहरण लिखते हैं—

ज्ञान, यथार्थ अनुभव, प्रमा, प्रमिति=ये शब्द पर्यायवाची हैं, इनका अर्थ एक है। प्रमा के करण=साधन को प्रमाण कहते हैं। प्रमा चार प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, अनुमति, उपमति, और शब्द।

१. प्रत्यक्ष प्रमिति—इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से पैदा होने वाले, निश्चयात्मक और अव्यभिचारी ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमिति कहते हैं। इसके करण=साधन को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। जैसे किसी रूप वाले पदार्थ के साथ आँख का संनिकर्ष होने पर उस पदार्थ के सम्बन्ध में जो ज्ञान पैदा हो, और वह निश्चयात्मक और अव्यभिचारी भी हो तो वह उसे पदार्थविषयक प्रत्यक्ष प्रमिति होगी। आँख या आँख और उस पदार्थ का संनिकर्ष प्रत्यक्ष प्रमाण होगा।

२. अनुमति—जहाँ-जहाँ अविकल रेखा वाला धुंआ हो, वहाँ-वहाँ आग होती है, इस अव्यभिचारी अविनाभाव नियम को व्याप्ति कहते हैं। अनुमति में लिंग दर्शन, व्याप्तिज्ञान और लिङ्ग परामर्श आवश्यक होते हैं। जैसे दूर धुआं देखकर हम कल्पना करते हैं, कि वहां धुआं है। देखिये धुआं आग का निशान=लिङ्ग है। सबसे पहले लिङ्ग

पदार्थों के कुछ धर्म्मों को जान सकते हैं, तथापि ब्रह्म को अनु-
मान से भी नहीं जान सकते । संसार के आरम्भ काल के ऋषि-

दर्शन हुआ, उसे देखते ही स्मरण आया कि 'जहाँ-जहाँ धुआं होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है ।' इसको व्याप्ति स्मरण=व्याप्तिज्ञान कहते हैं, इसके बाद यहाँ धुआं है । यह ज्ञान फिर हुआ, इसको लिङ्ग परामर्श या तृतीय लिङ्ग परामर्श कहते हैं, इसके बाद यहाँ आग है, ऐसी निश्चित अनुमति होती है, इस अनुमति का करण तृतीय लिङ्ग परामर्श है, वही अनुमान है ।

३. उपमिति—एक नागरिक मनुष्य गवय=नील गाय की खोज में जङ्गल में गया, उससे पहले उसने गवय देखी नहीं । वहां वन में उसे एक वनवासी मिलता है, उससे वह नगरवासी पूछता है=गवय कैसी है ? वह उत्तर देता है—जैसे गौ होती है, वैसे गवय होती है ।' आगे वन में जाकर वह एक पशु को देखता है, जो गौ तो नहीं, किन्तु गौ से बहुत मिलती है । उसको निश्चय होता है यह पशु गवय है । अर्थात् गवय शब्द और उस पशु का सम्बन्ध ज्ञान उसे होता है । संज्ञ=नाम और संज्ञ=नाम वाले के सम्बन्ध का ज्ञान उपमान का प्रयोजन है।

४. शाब्द प्रमति—आप्त मनुष्य के उपदेश का नाम शब्द प्रमाण हैं, जिससे होने वाले ज्ञान को शाब्द प्रमिति कहते हैं । जिस मनुष्य को अपने प्रतिपाद्य विषय का यथार्थ ज्ञान हो, दूसरों को उसका यथार्थ कराने की उत्कृट अभिलाषा भी हो, उसे आप्त कहते हैं ।

इतना ध्यान रहे कि प्रत्यक्ष से विशेष का ज्ञान होता है, अनुमान आदि से सामान्य का ज्ञान । जैसे दूर से धुआं देखकर जो आग का अनुमान होता है, वह आग का ही ज्ञान होता है, जिससे यह ज्ञान नहीं होता कि यह लकड़ी की आग है, बांस की है या शरकण्डों की आग है । प्रत्यक्ष से यह निश्चय होता है कि अमुक लकड़ी की आग है । प्रत्यक्ष केवल इन्द्रियगम्य पदार्थों का ही ह सकता है, किन्तु अनुमान तो प्रत्यक्ष

ओं ने जो उसकी व्याख्या की है, जो आज तक अनुक्रम से हम तक पहुँची है, वही हम बतलाते हैं। परमात्मा को जानने का उपाय, उन महात्माओं के उपदेश के अतिरिक्त, जिनको परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में उपदेश दिया और हो ही नहीं सकता। प्रत्येक वस्तु के जानने के लिये कोई न कोई प्रमाण होना चाहिये, प्रमाण के बिना किसी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु प्रमाण के जानने के लिये किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती यदि प्रमाण के लिये भी किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता पड़े तो अनवस्था दोष आयेगा। अर्थात् प्रमाण के लिये दूसरे प्रमाण, उसके लिये अन्य प्रमाण, इस प्रकार यह चक्र कभी समाप्त नहीं हो सकता।

ब्रह्म सारे प्रमाणों से परे है। उसके गुणों और सामर्थ्य के सिवा, और कोई प्रमाण उसका अनुभव नहीं करा सकता। इन्द्रियाँ तो भौतिक=प्राकृतिक पदार्थों को अनुभव करा सकती हैं। ब्रह्म भौतिक=प्राकृतिक [प्रकृति भी] नहीं, अतः इन्द्रियों से उसका ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

मन या तो इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान कराता है, अथवा किसी अङ्ग या गुण को देखकर अनुमान करता है। अनुमान सदा प्रत्यक्ष के सहारे होता है। जिस ब्रह्म का कभी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता मन उसका किस प्रकार अनुमान कर सकता है। अतः जो मनुष्य ऐसा जानता है कि वह इन्द्रियों से जानने योग्य पदार्थों से सर्वथा भिन्न है, वह उस सूक्ष्म प्रकृति से भी कि जो सूक्ष्म और अखण्ड परमाणु रूप होने से इन्द्रियों द्वारा नहीं

अप्रत्यक्ष, अतीत, वर्त्तमान, अनागत सभी ज्ञात कराता है, अतः दार्शनिक लोगों के यहाँ अनुमान की महिमा बहुत मानी जाती है।

जानी जा सकती, परे अर्थात् अधिक सूक्ष्म है, वही विशेष जानता है ।

प्रश्न—यदि परमेश्वर विदित=ज्ञात पदार्थों से भिन्न है तो उसके परिच्छिन्न=एक देशी=सीमित होने में क्या सन्देह है ?

उत्तर—विदित पदार्थों से उसे भिन्न करने का तात्पर्य्य यह है कि इन्द्रियों से विदित होने वाले सभी पदार्थ नाशवान् हैं। ईश्वर अविनाशी है । अतः गुण भौतिक तथा नाशवान् पदार्थों में नहीं मिल सकते । 'भिन्न' का अभिप्राय 'किसी एक स्थान में रहने वाला' नहीं है ।

प्रश्न—ब्रह्म को प्रकृति से भिन्न और ऊपर क्यों कहा ? प्रकृति भी सत्=सदा रहने वाली है ।

उत्तर—प्रकृति जड़=चेतना रहित है, अतः वह स्वतन्त्र नहीं है । ब्रह्म चेतन=सर्वज्ञ शौर स्वतन्त्र है, प्रकृति उसके वश में है, अतः वह प्रकृति से परे अर्थात् अधिक सूक्ष्म है और उससे श्रेष्ठ है । भाव इसका यह है यदि शिष्य ब्रह्मवेत्ता=ब्रह्म के जानने वाले और ब्रह्मनिष्ठ=ब्रह्म में श्रद्धा करने वाले गुरु से पूछे कि—ब्रह्म क्या है, तो गुरु उसे बतलाये कि ब्रह्म इन्द्रियों व विज्ञान=पदार्थ विद्या=सायन्स के सूक्ष्म उपकरणों से, जो केवल भौतिक पदार्थों का ज्ञान कराते हैं, नहीं जाना जा सकता वरन् धारणावाली, सूक्ष्म मेधा नामक बुद्धि से वह जाना जा सकता है । चञ्चल चित्त वाले मनुष्यों की बुद्धि भी उसको जानने में समर्थ नहीं है।

प्रश्न—क्या कारण है कि ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नही है?

उत्तर—इस वास्ते कि वह सबसे सूक्ष्म और समीप है। जो वस्तु बहुत समीप और सूक्ष्म होती है, वह शुद्ध और निश्चल मन के बिना ज्ञात नहीं हो सकती ॥३॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥४॥

पदार्थ—(यत्) जो ब्रह्म (वाचा) वाणी से (अनभ्युदितम्) वर्णन नहीं किया जा सकता (येन) जिससे अर्थात् जिसकी शक्ति से (वाक्) वाणी बोल सकती है या प्रकट कर सकती है (तत्) उसको (एव) ही (ब्रह्म) सब से महान् परमात्मा (त्वयम्) तू (विद्धि) जान। (न) नहीं (इदम्) यह (यत्+इदम्) जिस इसको (उपासते) लोग उपासना करते हैं।

भावार्थ—जिस ब्रह्म को वाणी शब्दों से प्रकट नहीं कर सकती। वरन् ब्रह्म के बनाये नियमों से उसमें बोलने का सामर्थ्य है जैसे भिन्न-भिन्न प्रकार से अक्षरों के व्यक्त करने के लिए ब्रह्म ने स्थान नियत कर दिए हैं, इस स्थान से उन शब्दों का प्रकाश हो सकता है, उसके विपरीत नहीं, जिसके नियमों से बँधो हुई वाणी शब्दों और उसके अर्थों का ज्ञान कराती है तू उसी को ब्रह्म अर्थात् परमात्मा जान। और जिसकी ओर 'यह' बतला कर इशारा किया जा सकता है, और जिसकी संसारी लोग उपासना करते हैं, यह ब्रह्म नहीं है।

प्रश्न—ब्रह्म के लिए 'यह ब्रह्म है' ऐसा उपदेश क्यों नहीं कर सकते ?

उत्तर—चूंकि यह और वह समीप या दूर में उपस्थित का ही वर्णन करते हैं। ब्रह्म सर्वत्र व्यापक होने से समीपता या

दूरी के भावों से पृथक् है, अतः ब्रह्म के लिए इस प्रकार का उपदेश नहीं हो सकता ।।४।।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।५।।

पदार्थ–(यत्) जो ब्रह्म (मनसा) मन से (न) नहीं (मनुते) विचार में आ सकता (येन) जिससे (आहुः) कहते हैं (मनः) मन या मनुष्यों का मन=कर्म करने वाला अन्तः करण (मतम्) विचारता हुआ विषयों को जानता हुआ (तत्) उसे (एव) ही (ब्रह्म) सबसे बड़ा परमात्मा (त्वम्) तू (विद्धि) जान । (न) नहीं (इदम्) यह (यत्) जिस (इदम्) इसको (उपासते) साधारण लोग उपासना अर्थात् सेवा करते हैं ।

भावार्थ—वह परमात्मा मन के विचारों से जानने योग्य नहीं है क्योंकि मन उन्हीं पदार्थोंका विचार कर सकता है,जिनके गुणों को ग्रहण कर सके । परमात्माके गुण अगण्य और अनन्त हैं, वह उनके जानने में किसी प्रकार समर्थ नहीं हो सकता । दूसरी बात यह कि मन उन्हीं पदार्थों का ज्ञान कर सकता है जो किसी समय अन्य इन्द्रियों द्वारा ज्ञात हो चुके हों । ब्रह्म का इन्द्रियों से किसी काल में प्रत्यक्ष नहीं होता इस वास्ते उसके समस्त गुणों से अपरिचित होने के कारण उसका विचार भी नहीं कर सकता । मन जो कुछ विचार करता है, वह ब्रह्म के सामर्थ्य तथा नियमों की सहायता से करता है । अतः सांसारिक सुखों के यह साधन, जिनकी लोग उपासना करते हैं ब्रह्म नहीं हैं वरन् जो इन सब नियमों का रचने वाला है, जिसकी सहायता से मन कार्य करता है, तू उसी को ब्रह्म जान ।

प्रश्न—यदि ब्रह्म का, तीन कालों में, इन्द्रियों से प्रत्यक्ष

नहीं होता तो उसके होने में क्या प्रमाण हो सकता है ?

उत्तर—मन व इन्द्रियों आदि के नियमों का होना ही उसकी सत्ता में प्रमाण है। हमारे शरीर में आत्मा के होने का प्रमाण यही है कि शरीर की चेष्टायें नियम से होती हैं। इञ्जिन आदि जड़ पदार्थों की चेष्टायें भी ड्राइवर की उपस्थिति में ही नियम पूर्वक होती हैं। यदि ड्राइवर न हो तो अनियमित होने लगती हैं। ड्राइवर इञ्जिन चलाने वाला है, बनाने वाला नहीं ड्राइवर को नियम पूर्वक इञ्जिन चलाता देखने से इञ्जिन की रचना में नियमों का होना ज्ञात होता है, और नियमों का होना उसके बनाने वाले को सिद्ध करता है।

प्रश्न—मन के द्वारा ही इस प्रकार का विचार और अनुमान होगा। जब मन उसको मालूम नहीं कर सकता, तो उस विचार का होना किस प्रकार प्रमाण होगा ?

उत्तर—मन उसके सब गुणों को ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु उसके एकाध गुणों के द्वारा उसकी सत्ता जान सकता है। जैसे समाधि अवस्था में परमात्मा के आनन्द गुण के अनुभव करने से उसका मानसिक प्रत्यक्ष होता है ॥५॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥६॥

पदार्थ— (यत्) जो (चक्षुषा) आँख से (न) नहीं (पश्यति) देखता है और देखा जाता है, (येन) जिसे (चक्षूंषि) आँखें (पश्यति) देखती हैं। (तत्) उसको (एव) ही (ब्रह्म) सबसे महान् परमात्मा (त्वम्) तू (विद्धि) जान (न) न कि (इदम्) इसको (यत्+इदम्) जिस इसको (उपासते) लोग पूजते हैं।

भावार्थ—जो ब्रह्म आँखों से नहीं दीखता और न देखा जाता है वरन् जिसके नियम से चल पाकर आँखें देखती हैं, और जिसकी सहायता से सब जीव बाह्य पदार्थों का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त करते हैं, तू उसी [आँखों को, आँख की देखने की शक्ति देने वाले] को, ब्रह्म जान। आँखों से देखने योग्य जिन वस्तुओं की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥६॥

यच्छोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥७॥

पदार्थ— (यत्) जो (श्रोत्रेण) कान से (न) नहीं (शृणोति) सुनता है (येन) जिस शक्ति से (श्रोत्रम्) कान (इदम्) यह (श्रुतम्) सुनता है। (तत्) उसको (एव) ही (त्वम्) तू (ब्रह्म) सबसे महान् परमात्मा (विद्धि) जान। (न) नहीं (इदम्) इसको (यत्+इदम्) जिस इसको (उपासते) लोग पूजते हैं।

भावार्थ—वह बह्म कानों के द्वारा सुनने में नहीं आता है, वरन् कान जिसकी सहायता से सुनते हैं, तू उसको ब्रह्म जान। जिस शब्दादि विषय की सांसारिक लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है। भाव यह है कि ब्रह्म को अपने कार्यों में कान आदि इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है। वरन् कान आदि में सुनने आदि का सामर्थ्य ब्रह्म के रचे नियमों के कारण से है। कोई इन्द्रिय ब्रह्म की सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकती ॥७॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेद यदिदमुपासते ॥८॥

पदार्थ— (यत) जो (प्राणेन) प्राण से (न) नहीं (प्राणिति) साँस लेता ह (येन) जिससे (प्राणः) प्राण (प्रणीयते)

कार्य में लगता है। (तत्) उसको (एव) ही (ब्रह्म) ब्रह्म (त्वम्) तू (विद्धि) जान (न) न कि (इदम्) उसको (यत्+इदम्) जिस इसको (उपासते) लोग पूजते हैं।

भावार्थ—वह ब्रह्म प्राणों की गति से श्वास-प्रश्वास नहीं लेता है। प्राण जिसकी सहायता से अपना कार्य करते हैं उसको तू ब्रह्म जान। परमात्मा की सहायता के बिना प्राण भी कुछ नहीं कर सकते। अतः हे जीव! तू उसी को ब्रह्म जान, जो प्राणों की सहायता कर सकता है। प्राणों को, जो जीवन और मरण का कारण हैं, और इस कारण लोग जिनकी उपासना करते हैं, ब्रह्म मत मान। मूर्ख लोग ही प्राणों को ब्रह्म मान कर उपासना करते हैं ॥८॥

तलवकार (केन) उपनिषत् का प्रथम खण्ड समाप्त हुआ। इस खण्ड में व्याप्य-व्यापक के सम्बन्ध से सब इन्द्रियों का परमात्मा की सहायता से कार्य करना और परमात्मा को अपने कार्यों में इन्द्रियों की आवश्यकता का न होना बतलाया गया है। इस संसार के बिना साधारण लोगों को ब्रह्म-ज्ञान होना कठिन है, अतः संसार के पदार्थों द्वारा निषेधात्मक रीति से ब्रह्मज्ञान कराने का यत्न यहाँ किया गया है। वाणी, मन, आँख, कान और प्राण केवल प्रधान समझकर यहाँ कहे गये हैं, तात्पर्य सब इन्द्रियों से है। ज्ञानेन्द्रियों में आँख और कान प्रधान हैं, कर्मेन्द्रियों में वाणी मुख्य है, मन उभयात्मक (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय) है और इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। प्राण सब प्रकार के वायुओं से श्रेष्ठ हैं। तात्पर्य यह है कि जिसको श्रेष्ठ नहीं जान सकते उसको निकृष्ट या तुच्छ कैसे जान सकेंगे।

यहां प्रथम खण्ड समाप्त करके द्वितीय खण्ड का आरम्भ करते हैं—

द्वितीय खण्ड

इस उपनिषत् में गुरु और शिष्य के प्रश्नोत्तरों से संवाद चलाया गया है, जिससे जिज्ञासु जन अभिप्राय ठीक-ठीक समझ सकें। आरम्भ में जिज्ञासु शिष्य ने प्रथम वाक्य में प्रश्न किया था सात वाक्यों में गुरू ने उसका उत्तर दिया। अब दूसरे प्रकार से समझाने के लिए गुरु उपदेश करता है—

यदि मन्ये से सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ। ब्राह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥९।१॥

पदार्थ—(यदि) यदि (मन्ये) तू मानता है (सुवेद) कि मैं भले प्रकार जानता हूँ (इति) ऐसा (दभ्रम्) सूक्ष्म (एव) ही (अपि) भी (नूनम्) सचमुच (त्वम्) तू (वेत्थ) जानता है (ब्रह्मणः) ब्रह्म=परमात्मा के (रूपम्) वास्तविकता का (यत्) जो (अस्य) इसका (त्वम्) तू (यत्) जो (अस्य) इसका (देवेषु) विद्वानों में (अथ) सचमुच (मीमांस्यम्) युक्ति पूर्वक विचार करने योग्य (एव) ही (ते) तेरा (मन्ये) मैं मानता हूँ (विदितम्) ज्ञात, प्रकट, प्रकाशित को।

भावार्थ–गुरु शिष्य से कहता है कि हे शिष्य! यदि तेरा विचार है कि मैं ब्रह्म को पूर्ण रूप से जानता हूँ तो मैं इस बात को नहीं मानता। जो ब्रह्म के जानने का अभिमान करता है वह ब्रह्म को नहीं जानता, क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप इतना सूक्ष्म है कि उसको जानने का अभिमान करना मेरे विचार में उचित नहीं है, अतः शास्त्र प्रमाण और तार्किक युक्तियों से सदा ब्रह्म का विचार करते रहना चाहिए, इस बात को मैं भली भाँति जानता हूं। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य यह घोषणा करता है कि मैंने ठीक रीति से ब्रह्म का स्वरूप जान लिया, वह सर्वथा

नहीं जानता, क्योंकि मनुष्य तो साधारण पदार्थों को भी पूर्ण रूप से जानने का दावा नहीं कर सकता, तो परमात्मा को पूर्ण रूपेण जानने की बात कैसे सङ्गत हो सकती है ? मनुष्य अल्पज्ञ है, अतः किसी पदार्थ के तत्व को जानकर भी अहङ्कार न करना चाहिए। जिनके हृदय में ब्रह्म को पूर्ण रूप से जानने का अभिमान हो, उन्हें छोड़ देना चाहिए, क्योंकि अभिमान होने पर उन्नति रुक जाती है। प्रत्येक मनुष्य को ठीक रीति से ब्रह्म-विचार करना चाहिए इसके लिए शास्त्रीय और तार्किक युक्तियों से कार्य करना, और ब्रह्म विचार में लगे रहना ही बुद्धिमत्ता का चिह्न है ॥ १० ॥

नाहं मन्ये सुवेदेति नो नवेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥१०।२॥

पदार्थ(न) नहीं (अहम्) मैं (मन्ये) मानता हूँ (सुवेद) कि ठीक रीति से जानता हूँ (इति) ऐसा, (नो) न ही (न) नहीं (वेद) जानता हूँ (इति) ऐसा (वेद) जानता है (च) भी (यः) जो (नः) हममें से (तत्) उसको (वेद) जानता हैं (तत) उसको (वेद) जानता है (नः) न ही (न) नहीं (वेद) मैं जानता हूँ (इति) ऐसा (वेद) जानता है (च) भी।

भावार्थ—मैं ब्रह्म को पूर्ण रूपेण जानता हूँ, मैं ऐसा नहीं मानता। और न ही मैं ऐसा मानता हूँ कि मैं ब्रह्म को सर्वथा नहीं जानता। किन्तु इस तथ्य को जानता हूँ कि ब्रह्म है और कि हममें से कोई जो मेरे इस कथन को समझता है, वह इस ब्रह्म को जानता है। अर्थात् मनुष्य न तो यह विचारे, कि मैं ब्रह्म को पूर्ण रूप से जानता हूँ और न यह विचारे कि मैं उसे सर्वथा नहीं जानता। जो ऐसा मानता है, वही ब्रह्म को

जानता है। 'मैं ब्रह्म को पूर्ण रूप से नहीं जानता,' ऐसा विचार होने से किसी भी अवस्था में ब्रह्मज्ञान का अभिमान हो ही नहीं सकता। जो अभिमान से ऐसा कहता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ वह ब्रह्म को सर्वथा नहीं जानता। अहङ्कार तो अविद्या आदि क्लेशों में से एक है*। ज्ञान होने का प्रमाण है ही यह कि ज्ञानी को अहङ्कार या अविद्या न हो, और अपने स्वरूप में स्थित होकर शान्ति से परमात्मा का ध्यान करे।

प्रश्न—जो मनुष्य नहीं जानता, उसे भी ऐसा ही विश्वास होता है कि मैं नहीं जानता। फिर ऐसा कहने से 'जानना' कैसे सिद्ध होगा?

उत्तर—चूंकि वह मानता है कि मैं नहीं जानता, और साथ ही ऐसा भी नही मानता कि मैं जानता ही नहीं। ऐसा मानने से जानना प्रतीत होता है, और 'ठीक रीति से नही जानता' ऐसा कहने से अभिमान दूर होता है। ईश्वर को जानने वाले 'मैं ठीक जानता हूँ' या 'मैं सर्वथा नहीं जानता हूँ' ये दोनों बातें नहीं कह सकते। ब्रह्म का ज्ञान केवल अनुभव से होता है, कोई इन्द्रिय उसे प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। जिसको ब्रह्मज्ञान के विधानों में सन्देह न हो, वह यह नहीं कह सकता कि मैं नहीं जानता। मिश्री खाने से मिश्री का स्वाद प्रतीत हो सकता है। यदि कोई पूछे कि मिश्री का स्वाद क्या होता है, तो कहना होगा

---

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः (योग दर्शन साधनपाद) अविद्या=मिथ्याज्ञान, अस्मिता=अभिमान' अहंकार, राग =अनुकूल प्रतीत होने वाली वस्तुओं में प्रीति, द्वेष=प्रतिकूल प्रतीत होने वाले पदार्थों में अप्रीति, अरूचि, अभिनिवेश=मृत्युभय अथवा हठ। इन पाँचो को योग क्लेश कहते है, क्योंकि इनके कारण आत्मा को क्लेश भोगने पड़ते हैं। इनमें से अविद्या सबकी जननी है।

कि—मीठा। अब यदि इस पर प्रश्न हो कि मीठा कैसा होता है, तो इसका उत्तर इसके अतिरिक्त क्या हो सकता है कि उसे मिश्री देकर कहा जाये कि खाकर अनुभव कर लो। इसके अतिरिक्त और कोई समाधान सन्तोष कारक नहीं हो सकता। इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले पदार्थों, में एक इन्द्रिय से ज्ञात होने वाला पदार्थ,उस इन्द्रिय के अतिरिक्त दूसरी इन्द्रिय से ज्ञात नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञान, चूंकि अन्त:करण की सर्वथा विमल दशा में हो सकता है, अत: उसका भी वर्णन वाणी से नहीं हो सकता।

प्रश्न—यह कहा गया है कि मन और बुद्धि से ब्रह्म को नहीं जान सकते। तब ब्रह्मज्ञान का क्या साधन है ?

उत्तर—ब्रह्मज्ञान शुद्ध बुद्धि और शुद्ध मन से होता है। विषयों से ग्रस्त मन में ब्रह्मज्ञान की योग्यता या शक्ति नहीं है ॥२॥

यस्यामतं तस्य मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥११।३॥

पदार्थ—(यस्य) जिसका अर्थात् जिस ब्रह्मज्ञानी विद्वान् का (अमतम्) मन से उसे नहीं जान सकते, ऐसा ज्ञान है (तस्य) उस विद्वान् का (मतम्) माना हुआ अर्थात् यथार्थ ज्ञान है, क्योंकि उसने ब्रह्म को जान लिया है। (मतम्) ब्रह्म को मैंने जान लिया, ऐसा ज्ञान (यस्य) जिसका है (न) नहीं (वेद) जानता है (सः) वह। (अविज्ञातम्) नहीं जाना हुआ होता है (विजानताम्) ब्रह्मज्ञान के अभिमानियों का (विज्ञातम्) जाना हुआ होता है (अविजानताम्) ब्रह्मज्ञान का अभिमान न रखने वालों का।

भावार्थ-जो मनुष्य यह विचार करता है कि ब्रह्म मन से नहीं जाना जाता, वह सचमुच ब्रह्म को जानता है। और जो यह विचारता है कि उसे इन्द्रियों से जान सकते हैं, वह ब्रह्म को

सर्वथा नहीं जानता है। जिनको ब्रह्मज्ञान का अभिमान होता है उनको ब्रह्मज्ञान सर्वथा नहीं होता। जो ब्रह्मज्ञानी हैं वे किसी अवस्था में ज्ञान का अभिमान नहीं करते। इस उपनिषद् ने झूठे योगियों तथा ब्रह्मज्ञानियों से जनसाधारण को सावधान करने और बचाने के लिये स्पष्टतया कह दिया है कि जो लोग ब्रह्मज्ञान का अभिमान करते हैं, वे ब्रह्म को सर्वथा नहीं जानते और न ही उन्हें योग का रहस्य ज्ञात है। संसार में देखा जाता है कि जिनके पास रत्न होते हैं, वे उन्हें पेटियों में छिपाकर रखते हैं, और जिनके पास कौड़ियां होती हैं, वे उन्हें बाजार में बोली दे देकर बेचते हैं। प्रत्येक मोक्षाभिलाषी जिज्ञासु को चाहिये कि वे इस उपनिषद् के तात्पर्य को ध्यान में रखकर आजकल के झूठे ब्रह्मज्ञानियों के धोखे से बचकर आत्मिक शान्ति प्राप्त करे और अपनी मूर्खता से योग और ब्रह्मविद्या से सर्वथा अपरिचित, अनभिज्ञ लोगों को योगी और ब्रह्मज्ञानी मानकर, उनसे अपनी आशा पूरी होते न देखकर ब्रह्मज्ञान का ही विरोध न करने लग जाय। प्रत्येक मनुष्य को अवश्य इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जो लोग संसारासक्त हैं, उनसे ब्रह्मज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं। और जो लोग सचमुच ब्रह्मज्ञानी हैं, वे संसारासक्त और संसारी जनों से परे रहते हैं, क्योंकि उनके सङ्ग से ब्रह्मोपासना में विघ्न होता है। ईश्वर के भक्त ही ब्रह्मज्ञानी को जान सकते हैं और ब्रह्मज्ञानी भी ईश्वरभक्तों से मिलना पसन्द करते हैं, संसारासक्तों से उन्हें कोई लाभ नहीं होता ॥३॥

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।

आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।१२।४।

पदार्थ—इन्द्रियों के द्वारा विषयों को जानकर वैसी ही बुद्धि हो जाने को बोध कहते हैं, उसे रोक कर ईश्वर में लगाने

को प्रतिबोध कहते हैं, प्रतिबोध से जानने का नाम 'प्रतिबोध-विदित' है (मतम्) जाना जाता है अर्थात् उस ज्ञान से ब्रह्म जाना जाता है (अमृतत्वम्) जीवन्मुक्ति को (हि) सचमुच (विन्दते) प्राप्त करता है (आत्मना) अपने स्वरूप से (विन्दते) प्राप्त करता है (वीर्यम्) बल और शक्ति को (विद्यया) विद्या या ज्ञान से (विन्दते) प्राप्त करता है (अमृतम्) मुक्ति को ।

भावार्थ—जब मनुष्य विषयों की कामना छोड़कर इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है और मन को इन्द्रियों के विषयों से हटा कर समाधि में लगाकर जब मानसिक प्रत्यक्ष करता है, तब उससे वह जीवन्मुक्ति के आनन्द को प्राप्त करता है। आत्मा का ज्ञान प्राप्त होने से मनुष्य को आत्मिक बल मिलता है। जो लोग आत्मिक बल से रहित हैं वे किसी भी धर्म सम्बन्धी कार्य को उचित रीति से नहीं कर पाते। आत्मिक दुर्बलता दूर करने का साधन आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान होने के साथ ही आत्मा की शक्ति का ज्ञान होजाता है। जब आत्मज्ञान में लगकर मनुष्य योगबल को प्राप्त करता है, तब उसे सत्यविद्या प्राप्त होती है। और सत्यविद्या को प्राप्ति से मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है। जो लोग केवल भौतिक विज्ञान (Material Science) को जानकर दुःखों से बचने और छूटने की आशा करते हैं, वे बहुत बड़े भ्रम में पड़े हैं। भौतिक विज्ञान से भूतों-प्रकृति के साथ सम्बन्ध बढ़ जाता है जिससे दुःखों की वृद्धि होती है न कि कमी। यह बात प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है कि आत्मिक बल न होने की दशा में मनुष्य परमेश्वर को नहीं जान सकता। अतः सबसे पूर्व ज्ञान, कर्म, उपासना के द्वारा परमात्मा को जानना चाहिये पश्चात् मुक्ति मिलेगी। मल, विक्षेप और आवरण—इन तीन दोषों

के नाश हुए बिना आत्मिक शक्ति और मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न
चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥१३।५॥

पदार्थ—(इह) इस जन्म या संसार में (चेत्) यदि (अवेदीत्) आत्मा को जान जाये (अथ) तो उस दशा में (सत्यम्) जीवन सुफल (अस्ति) है (न) नहीं (चेत्) यदि (इह) इस जन्म में (अवेदीत्) आत्मज्ञान प्राप्त किया या आत्मा को जान लिया (महती) बड़ी (विनष्टिः) हानि या विनाश हुआ (भूतेषु) जीवों में (भूतेषु) पंच भूतों में (विचित्य) विचार की दृष्टि से देख कर (धीराः) धैर्य्यधारी धर्मात्मा (प्रेत्य) अगले जन्म में (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक से (अमृताः) चिरस्थायी मुक्त (भवन्ति) होते हैं।

भावार्थ–यदि मनुष्य अपने इस वर्त्तमान जीवन में अपने लक्ष्य की ओर ठीक-ठीक प्रवृत्त होगया तो उसने अपने जन्म को सुफल कर लिया। यदि प्राणी इस मनुष्य तन में, जो कर्त्तव्य और भोक्तव्य दोनों के साथ सम्बन्ध रखता है,ईश्वर को जान ले तो मुक्ति प्राप्त हो सकती है। यदि इस शरीर को केवल भोग-भावना में ही लगाये रखे और परमात्मा के जानने के स्थान में दिन रात केवल शरीर की पुष्टि का यत्न करे तो उस अवस्था में बड़ी हानि होती है,क्योंकि नर तन के छूटते ही स्वतंत्रता अर्थात् कर्तव्य की शक्ति समाप्त हो जाती है,फिर अनेक जन्मों तक भोग योनियों अर्थात् ज्ञानशून्य देहों में धक्के खाने पड़ते हैं, तब कहीं मनुष्य जन्म पुनः प्राप्त होता। अतः धर्म्मात्मा जन प्रत्येक जड़

चेतन पदार्थ में कर्म्मफल प्रदानता और गतिप्रदाता परमात्मा को विवेक की दृष्टि से देखते हैं, और कर्म्म करने में स्वतन्त्रता का प्रयोग करते हैं, तब इस शरीर को छोड़ कर मुक्ति प्राप्त करते हैं, इस वचन का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य अभी से धर्म्म विचार में रत होकर परमात्मा को जानने का यत्न करता है, वही सफल होता है। इसके विपरीत जो मनुष्य जीवन को केवल संसारी कार्य्यों में लगाये रखता है, वह अपनी महती हानि कर रहा है ॥५॥

यहाँ पर इस उपनिषद् का दूसरा खण्ड समाप्त हुआ।

तृतीय खण्ड

प्रथम खण्ड में ब्रह्म को जानने में इन्द्रियों की अयोग्यता बतलाई। द्वितीय खण्ड में ब्रह्मज्ञान का साधन और उसका विलक्षण होना बतलाकर अब ब्रह्म का ज्ञान एक अलङ्कार से कराते हैं। इस खण्ड को बहुत सावधानता से विचारना चाहिये। शब्दों पर नहीं जानना चाहिये, क्योंकि यह एक अलङ्कार है।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये,
तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त।
त ऐक्षन्तास्माक मेवायं विजयोऽ-
स्माकमेवायं महिमेति ॥ १४ ॥ १ ॥

पदार्थ—(ब्रह्म) सर्व श्रेष्ठ परमात्मा ने (ह) सचमुच (देवेभ्यः) पंच भूतों या इन्द्रियों के लिये (विजिग्ये) विजय प्राप्त किया। (तस्य) उस (ह) ही (ब्राह्मणः) ब्रह्म के (विजये) विजय में (देवों) भूतों और इन्द्रियों ने (अमहीयन्त) महिमा प्राप्त की (ते) भूत और इन्द्रिय (ऐक्षन्त) विचारने लगे (अस्माकम्)

हमारी [एव] ही [अयम्] यह [विजयः [विजय [अस्माकम्] हमारी [एव] ही (अयम्) यह (महिमा) महिमा, महत्ता, उत्कर्ष है (इति) ऐसा ।

भावार्थ—सर्वश्रेष्ठ महिममहान् भगवान् की शक्ति से ये पंचभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—घ्राण (नाक) रसना (रस लेने वाली), आँख, त्वचा और श्रोत्र, एवं पाँच कर्म्मेन्द्रियाँ—हस्त, पाद, वाणी, पायु (मल त्यागने वाली), और उपस्थ (मूत्र त्यागने वाली) अपने अपने कार्यों में सफल होती हैं । ब्रह्म की सहायता के बिना कोई भी इन्द्रिय अपने कार्य में सफल नहीं हो सकती; न ही ये भूत कुछ कर सकते हैं । किन्तु अज्ञान से इन्द्रियों ने यह विचार कर लिया, कि जितना विजय अपने कार्य्यों में हमें प्राप्त होता है, वह हमारे ही सामर्थ्य से है, इसमें और कोई भी सहायक नहीं है । अतः कार्य्य करने से जो उत्कर्ष और महत्त्व प्राप्त हो सकता है, वह सब हमारे लिये ही है । भाव यह है कि प्रकृति के अन्दर भी परमात्मा के व्यापक होने से संसार के सब कार्य्य चलते हैं । जिस प्रकार शरीर में जीव के रहते शरीर के सब कार्य्य होते हैं, सब इन्द्रियाँ कार्य करती हैं, जीवात्मा के बिना शरीर और इन्द्रियाँ कुछ भी नहीं कर सकतीं, इसी प्रकार सूर्य्य, चन्द्र, तारे, विद्युत्, आदि भी, अपने भीतर परमात्मा के व्यापक होने से, सब कार्य्य कर सकते हैं । और जब परमात्मा रोक देते हैं, तो वे कोई भी कार्य्य नहीं कर सकते । परिच्छिन्न (सीमित) होने के कारण आत्मा शरीर में प्रविष्ट होता और निकलता है, इससे शरीर का कार्य्य करना और कार्य्य करने में असमर्थ होना प्रतीत होता रहता है । किन्तु संसार के मूर्ख जन यह मानते हैं कि ये सब कार्य्य प्रकृति अपनी ही शक्ति से

करती है, प्रकृति के अतिरिक्त और कोई शक्ति कार्य्य करने वाली नहीं है। ऐसे लोगों की भ्रान्ति को हटाने के लिये यह कहा गया है कि ब्रह्म की सहायता के बिना भूतों में कुछ भी करने का सामर्थ्य नहीं है ॥१॥

आगे अलङ्कार से यह समझाते हैं, कि भूतों और इन्द्रियों के इस अहङ्कार के संहार के लिये परमात्मा ने क्या किया—

तद्धैषां बिजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न
व्यजानन्त व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति ॥१५। २॥

पदार्थ—ब्रह्म ने (तत्) इस विचार को (ह) सचमुच (एषाम्) इनके (विजज्ञौ) जान लिया (तेभ्यः) उन के लिये (ह) मानो (प्रादुर्बभूव) प्रादुर्भूत हुआ (तत्) उस को (न) नहीं (व्यजानन्त) उन्होंने विशेषतया जाना (किम्) क्या (इदम्) यह (यक्षम्) पूजने और उपासने योग्य तत्त्व है (इति) (वाक्य समाप्ति दिखाने के लिये)।

भावार्थ—वह परमात्मा, इन भूतों और इन्द्रियों के विचार को जानकर, और कि इन भूतों और सूर्य्य आदि को शक्तिमान् और प्रकाशवान् देखकर मनुष्य कहीं भ्रम में न हो जायें, और अपनी अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये उन्हें ही अपना पूजने योग्य उपास्य न मान बैठ, भूतों के बीच प्रादूर्भूत हुआ। किन्तु भूतों ने उस यक्ष को, कि जिसके सामने इनका प्रकाश और शक्ति मन्द पड़ गई थी, सर्वथा न पहचाना कि यह क्या पदार्थ है। अभिप्राय यह है कि जिस समय सब इन्द्रियाँ सुख के लिये चेष्टा करती हैं और मनुष्य यह मानने लगता है कि आँख आदि इन्द्रियों से ही सुख होता है, उस समय सुषुप्ति की दशा में परमात्मा जीवों पर प्रकट होते हैं, जिसके कारण इन्द्रियों से प्राप्त होने

वाले समस्त वैषयिक सुख दब जाते हैं। परमात्मा के उस आनन्द स्वरूप को जो जीव को सुषुप्ति दशा में प्राप्त होता है, इन्द्रियाँ नहीं जान पातीं, और वे एक दूसरे से पूछती हैं ॥२॥

ते अग्निमब्रुवन् जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति, तथेति ॥१६॥३॥

पदार्थ— (ते) वे त्वचा आदि इन्द्रिय (अग्निम्) अग्नि की बनी इन्द्रिय=आँख को (अब्रुवन्) कहने लगीं (जातवेदः) हे सब उत्पन्न पदार्थों के जाने वाली ! (एतत्) इसको (विजानीहि) विशेष रूप से ज्ञात कर (किम्) क्या (एतत्) यह (यक्षम्) अद्भुत यक्ष है (इति) ऐसा। [अग्नि ने उत्तर दिया] (तथा+इति) तथास्तु, बहुत अच्छा।

भावार्थ—सब इन्द्रियों ने आश्चर्यचकित होकर आँख से कहा—कि हे समस्त जात पदार्थों के स्वरूप को ज्ञात कर सकने वाली आग=आँख ! क्या तू जानती है, यह क्या वस्तु है, इसके गुण क्या हैं, इसका बल क्या है ? तात्पर्य्य यह कि सुषुप्ति की दशा में जीव ब्रह्म के संसर्ग से वह आनन्द प्राप्त करता है, जो आनन्द इन्द्रियों के द्वारा संसार की किसी वस्तु से नहीं मिल सकता। तब सब इन्द्रिय आँख से पूछती हैं कि तू बतला सकती है कि जिससे यह आनन्द प्राप्त हुआ है यह क्या वस्तु है ?

प्रश्न—उपनिषद् में 'अग्नि' शब्द है उसके अर्थ आपने आँख किस तरह किये ?

उत्तर—कारण और कार्य्य में एक से गुण होते हैं; जैसे सुवर्ण तथा उसके बने आभूषणों में एक से गुण होने के कारण सुवर्ण के आभूषणों को सुवर्ण के भाव ही खरीदते हैं, ऐसे ही अग्नि और आँख में कारणकार्य्य भाव सम्बन्ध है, इस वास्ते उपचार से दोनों को एक ही माना जाता है।

अगले वचनों में भी जहाँ वायु आदि की चर्चा है, ऐसा समझ लेना चाहिये ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति । अग्निर्वा अहम-स्मी त्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥१७।४॥

पदार्थ—(तत्) उस ब्रह्म के सामने (अभि+अद्रवत्) दौड़ कर आया, अर्थात् कार्यरूप में उपस्थित हुआ (तम्) उस अग्नि को (अभि+अवदत्) ब्रह्म ने कहा (कः) कौन (असि) तू है (इति) ऐसा, (अग्निः) तेज, अग्नि (वै) ही (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ (इति) ऐसा (अब्रवीत्) वह अग्नि बोला (जातवेदाः) प्रत्येक रूपवान् पदार्थ के रूप को दिखाने वाला (वै) ही (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ (इति) ऐसा ।

भावार्थ—जब ब्रह्म को देखने के लिये सूक्ष्म अग्नि स्थूल अर्थात् आँख की अवस्था में गई, तब ब्रह्म ने उससे पूछा—तू कौन है ? आँख ने कहा—मैं अग्नि हूँ और संसार में जितने रूपवान् पदार्थ हैं उन सब को जानने वाली हूँ, प्रत्येक प्रकार के धन और चमकदार पदार्थों का उपादान कारण भी मैं ही हूँ*

---

*उपनिषदों में कार्य्य कारण की चर्चा प्रायः आती है, अतः संक्षेप से उसके विषय में थोड़ा सा लिख देते हैं। ताकि पाठकों को समझने में सुविधा हो—

बनी हुई वस्तु को कार्य्य कहते हैं । जिस सामग्री से वह बने और जिसके न होने पर वह न बन सके, वह कारण कहाता है। यह ध्यान में रहे कि कारण नियमपूर्वक अवश्यमेव कार्य्य से पूर्व होता है । कारण तीन प्रकार का होता है—१. समवायि (उपादान) २. असमवायि और ३. निमित्ति ।

समवायि (उपादान) कारण—जिस वस्तु से कोई चीज बनाई जाये उसे समवायि (उपादान) कारण कहते हैं । जैसे

प्रश्न—जब ब्रह्म निराकार है, तो उसका अग्नि से प्रश्न करना कैसे संभव हो सकता है? और, जड़ ज्ञानरहित अग्नि उसका उत्तर कैसे दे सकता है?

उत्तर—यह अलंकार है। इस आलकारिक कथा से यह समझना अभीष्ट है कि ब्रह्म की सहायता के बिना अग्नि आदि में कुछ भी सामर्थ्य नहीं है। जिस प्रकार चुम्बक-पत्थर के समीप होने से लोहा चलने लगता है, इसी प्रकार ब्रह्म की शक्ति से ये सब भूत और इन्द्रियाँ कार्य करतीं हैं, ब्रह्म के बिना कुछ भी नहीं कर सकतीं।

यक्ष और अग्नि के प्रश्नोत्तर केवल समझाने के लिये हैं,

सोने से कुण्डल बनते हैं, मिट्टी से प्याला आदि पात्र बनते हैं। सोना कुण्डल का, मिट्टी प्याला आदि का समवायि (उपादान) कारण है। उपादान कारण द्रव्य ही होता है।

असमवायि कारण—कारण में रहता हुआ जो कार्य्य का कारण हो वह असमवायि कारण होता है। जैसे जब तक मिट्टी के अवयवों में संयोग न हो तब तक प्याला नहीं बन सकता। इससे संयोग भी प्याला का कारण हुआ। यह संयोग प्याला का कारण है और रहता प्याला के कारण मिट्टी में है। यह स्मरण रहे कि असमवायि कारण या गुण होगा, या क्रिया।

निमित्त कारण—समवायि और असमवायि से भिन्न कारण को निमित्त कारण कहते हैं, इसमें कर्त्ता और साधन दोनों आ जाते हैं, जैसे प्याला बनाने वाला कुम्हार और प्याला बनाने के हथियार।

इसके अतिरिक्त कुछ पदार्थ ऐसे हैं, जो सभी कार्य्यों के एक समान कारण हैं उनको साधारण कारण कहते हैं। जैसे—काल, देश, ईश्वर, अदृष्ट।

जब भी कोई चीज बनेगी, किसी न किसी देश या काल में

वास्तविक नहीं हैं। शब्द की अपेक्षा भाव तात्विक है, यह बात पूर्व भी कही जा चुकी है। इसका वास्तविक अभिप्राय जीव, जिस समय समाधि की अवस्था में इन्द्रियों की सहायता के बिना ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है उस समय की दशा को ही प्रकट करता है ॥४॥

तस्मिँस्त्वयि किं वीर्य्यमित्यपीदँ सर्वं दहेयम्। यदिदं पृथिव्यामिति ॥१८।५॥

पदार्थ—(तस्मिन्) उस (त्वयि) तुझमें (किम्) क्या (वीर्य्यम्) शक्ति अथवा सामर्थ्य है (इति) यह कहा। [अग्नि ने जबाब दिया] (अपि) चाहूँ तो (इदम्) इस (सर्वम्) सब को, संसार के सब पदार्थों को (दहेयम्) जला दूं (यत्) जो (इदम्) यह (पृथिव्याम्) पृथिवी पर अर्थात् ब्रह्माण्ड में है (इति) वाक्य समाप्ति।

भावार्थ—ब्रह्म ने अग्नि से पूछा—तेरी क्या शक्ति है? अग्नि ने उत्तर दिया कि—इस संसार अर्थात् ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग में जो कुछ दीखता है, चाहे वह किसी भी ग्रह या तारा में हो, मैं सबको जला सकता हूँ ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो मेरी शक्ति से बाहर हो।

इसका भाव यह है कि यदि अग्नि की सारी शक्ति एकत्र हो कर यत्न करे, तो संभव है कि संसार की सब वस्तुओं को जला दें। यद्यपि बहुत से ऐसे पदार्थ हैं जो (वर्त्तमान दशा वाले) अग्नि से नहीं जल सकते, तथापि अग्नि की सामूहिक शक्ति के समाने कोई ऐसी वस्तु नहीं जो जल न सके। किन्तु अग्नि का समुदित होना आग्नेय परमाणुओं के कारण शक्य नहीं, वरन्

बनेगी इस वास्ते देश और काल सब के कारण हैं, इसी प्रकार शेष पदार्थों के सम्बन्ध में जानना चाहिये।

परमात्मा के सामर्थ्य से ऐसा होता है। यदि परमात्मा अग्नि के परमाणुओं का संयोग न करे तो कुछ भी न जल सके।

इसके सम्बन्ध में आगे लिखते हैं।। ५।।

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं, स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति ।। १९।६।।

पदार्थ—ब्रह्म ने (तस्मै) उस अग्नि के आगे (तृणम्) एक तिनका (निदधौ) धर दिया [और उसको कहा] (एतत्) इसको (दह) तू जला (इति) ऐसा। अग्नि (तत्) उस तिनके (उपप्रेयाय) समीप गया (सर्वजवेन) पूरे वेग से (तत्) उस को (न) नहीं (शशाक) सका (दग्धुम्) जला। (सः) वह अग्नि (ततः) वहां से (निववृते) लौट आया [और कहा] (न) नहीं (एतत्) इसको (अशकम्) सका (विज्ञातुम्) जान, (यत्) जो (एतत्) यह (यक्षम्) पूजने योग्य (इति) ऐसा।

भावार्थ—ब्रह्म ने अग्नि के सामने एक तृण रख दिया, किन्तु वह सूक्ष्म अग्नि, कार्य्यावस्था में न होने के कारण, उस तिनके को जिसे ब्रह्म ने जलाने के लिये कहा, न जला सका। तब उसे छोड़ कर अग्नि ने अन्य देवों से कहा कि मैं इस पूज्य शक्ति को नहीं जान सकती।

प्रश्न—क्या यह बात संभव हो सकती है कि आग से एक तिनका भी न जल सके, क्योंकि अग्नि तो ढेर के ढेर जला देती है।

उत्तर-सूक्ष्म अग्नि तो प्रत्येक पदार्थ में रहती है, किन्तु वह किसी को जला नहीं पाती। हां, परमात्मा जब उसको कार्य्यावस्था में लाता है तब उसमें जलाने का सामर्थ्य आ जाता है।

जब परमात्मा अग्नि को उसकी मूल दशा—परमाणु रूप—में कर देते हैं तब उसमें जलाने का सामर्थ्य सर्वथा नहीं रहता। अतः अग्नि से तिनके का न जलना असंभव नहीं है। तात्पर्य्य यह है कि प्रत्येक भूत में जो सामर्थ्य दीखता है वहसब परमात्मा का दिया हुआ है। जब परमात्मा इन भूतों को सहायता न दे तब जिस तरह मृतक शरीर कुछ नहीं कर सकता उसी तरह, यह भूत भी कुछ नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्ष-मिति, तथेति ॥ २०।७ ॥

पदार्थ—(अथ) इसके बाद अर्थात् अग्नि की शक्ति ज्ञात होने के पश्चात् (वायुम्) हवा को (अब्रुवन्) देवों ने कहा। (वायो) हे वायु ! (एतत्) इसको (विजानीहि) तू मालूम कर (किम्) क्या (एतत्) यह (यक्षम्) पूजनीय (इति) ऐसा—

भावार्थ—जब अग्नि ब्रह्म को न जान सका अर्थात् आँख से ब्रह्म का ज्ञान न हुआ तब देवों अर्थात् इन्द्रियों ने वायुजन्य इन्द्रिय अर्थात् त्वचा से पूछा—क्या तुम जानती हो कि वह पूजनीय वस्तु क्या है ? जहाँ आँख से किसी पिंड को नहीं देख सकते, वहां स्पर्श करके देखते हैं। मूर्ख अज्ञानी इन्द्रियों को दर्शन आदि क्रियाओं में स्वतन्त्र समझते हैं, किन्तु यह बात शुद्ध नहीं है। इन्द्रियाँ दर्शन आदि क्रियाओं में स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय को दूसरे की सहायता की अपेक्षा होती है ॥७॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति वायुर्वा अह-मस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥ २।८ ॥

पदार्थ—वह वायु (तत्) उस ब्रह्म की (अभि+अद्रवत्) और दौड़ा अर्थात् सामने आया। (तम्) उसको (अभि+अवदत्)

ब्रह्म ने कहा (कः) कौन (असि) तू है (इति) ऐसा । (वायुः) वायु (वै) निश्चय से (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ (इति) यह (अब्रवीत) उसने कहा (मातरिश्वा) आकाश में जलने वाला (वै) सचमुच (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ (इति) ऐसा—

भावार्थ—इसके पश्चात् ब्रह्मतत्त्व जानने के लिये वायु उसके सम्मुख हुआ । ब्रह्म ने उससे पूछा—तू कौन है ? उसने उत्तर दिया—मैं वायु हूँ, मैं समस्त आकाश में घूमने वाला मातरिश्वा भी कहाता हूँ । वायु से तात्पर्य्य वायु का कार्य्य त्वग्-इन्द्रिय है । त्वग्-इन्द्रिय वायु के द्वारा ही शीत-उष्ण का अनुभव करती है । वायु के बिना त्वचा शीत-उष्ण का अनुभव नहीं करती । अतः त्वग्-इन्द्रिय वायु की इन्द्रिय है । और वायु से यहां तात्पर्य वही इन्द्रिय है ॥ ८ ॥

तस्मिँस्त्वयि किं वीर्य्यमित्यपीदँ सर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥२२।९॥

पदार्थ—(तस्मिन्) उस (त्वयि) तुझ में (किम्) क्या (वीर्य्यम्) शक्ति या सामर्थ्य है (इति) ऐसा [ब्रह्म नें कहा] (अपि) चाहूँ तो (इदम्) इस (सर्वम्) समस्त जगत् को (आददीयम्) उठा ले जाऊँ, उड़ा ले जाऊं (यत्) जो (इदम्) यह (पृथिव्याम्) भूमण्डल पर है (इति) ऐसा ।

भावार्थ—ब्रह्म ने वायु से पूछा—तुझमें क्या शक्ति है ? उत्तर दिया—जितनी वस्तुएँ इस संसार में हैं उन सबको उड़ा सकता हूँ । अर्थात् संसार में जितने छोटे बड़े पदार्थ हैं उन सबको उठा सकता हूँ । अर्थात् संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो मेरी उठाने की शक्ति से बाहर हो ॥९॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति, तदुपप्रेयाय सर्व-

जवेन, तन्न शशाकादातुं; स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ।।२३।१०।।

पदार्थ—(तस्मै) उस वायु के आगे (तृणम्) तिनका (निदधौ) रख दिया । (एतत्) इसको (आदत्स्व) उठा ले जा या उड़ादे (इति) ऐसा । [यह सुनकर] वह (तत्) उसके (उपप्रेयाय) समीप गया (सर्वजवेन) पूर्ण शक्ति से, (न) न ही (शशाक) सका (आदातुम्) उठा । (सः) वह (ततः (वहाँ से (एव) ही (निववृते) लौट आया (न) नहीं (एतत्) इसको (अशकम्) सका (विज्ञातुम्) जान (यत्) जो (एतत्) यह (यक्षम) पूजने योग्य (इति) ऐसा ।

भावार्थ—वायु की इस गर्वोक्ति को, कि वह संसार के प्रत्येक पदार्थ को उड़ा सकती है, सुनकर ब्रह्म ने वायु के सामने एक तिनका रखा और कहा—इसे उठाओ या उड़ाओ । वायु पूरी शक्ति से, उड़ाने के लिये, उसके पास गया, किन्तु पूरा बल लगा कर भी उसे उड़ा न सका । यह अनुभव कर वायु उसके पास से हट गया और कहा मैं नहीं जान सकता कि यह क्या वस्तु है । तात्पर्य यह है कि स्पर्शेन्द्रिय पूरा बल लगाकर भी ब्रह्म को नहीं जान सकती ।।१०।।

जब ये दो प्रबल इन्द्रियां ब्रह्म को जानने में असफल हुईं, और दूसरी कोई भौतिक वस्तु ब्रह्म को जानने योग्य प्रतीत ही न हुई, तब इन्द्रियों ने मिलकर अपने राजा इन्द्र=जीवात्मा से कहा—हम तो इस पूजने योग्य को नहीं जान सकते—

अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति, तदभ्यद्रवत्, तस्मात् तिरोदधे ।।२४।११।।

पदार्थ—(अथ) इसके बाद, अग्नि और वायु का असामर्थ्य

ज्ञात होने के पश्चात् (इन्द्रम्) इन्द्रियों के राजा, जीवात्मा इन्द्र को (अब्रुवन्) हा (मघवन्) हे ऐश्वर्यसंपन्न ! तेज और ज्ञान के स्वामिन् ! (एतत्) इसको (विजानीहि) जान (किम्) क्या (एतत्) यह (यक्षम्) तेजःस्वरूप पूजनीय है (इति) ऐसा [इन्द्र ने कहा] (तथा + इति) बहुत अच्छा । इन्द्र = जीवात्मा (तत्) उसके (अभि + अद्रवत्) सामने गया किन्तु वह ब्रह्म (तस्मात्) उससे (तिरोदधे) ओट में हो गया, छिप गया ।

भावार्थ—जब आंख और त्वचा की अशक्ति का ज्ञान होने पर इन्द्रियों ने जीवात्मा से कहा कि हम तो इसे नहीं जान सकते, तू इसे मालूम कर, तब जीवात्मा इन्द्रियों से पृथक् होकर ब्रह्म को देखने गया । किन्तु वह यक्ष अर्थात् पूजनीय तेजः स्वरूप इस जीवात्मा से, अत्यन्त समीप होता हुआ भी, छिप गया । जैसे आँख प्रत्येक पदार्थ को देखती है किन्तु उसके अत्यन्त समीप रहने वाला अञ्जन=सुरमा उससे ओझल ही रहता है अर्थात् आँख उसे नहीं देख पाती, ऐसे ही सुषुप्ति की दशा में सब इन्द्रियों को छोड़ कर भी जीव ब्रह्म के जानने में असफल ही रहा ॥११॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमाना-मुमां हैमवतीं, ताँ होवाच किमेतद्यक्षमिति ।२५।१२।

पदार्थ—(सः) वह इन्द्र=जीवात्मा (तस्मिन्) उस (एव) ही (आकाशे) आकाश में अर्थात् हृदय में, जहां ब्रह्म छिप गया था (स्त्रियम्) एक स्त्री को (आजगाम) मिला (बहुशोभमानाम्) अत्यन्त सजी हुई (उमाम्) बुद्धि (हैमवतीम्) सुवर्ण के आभूषणों से कहा, पूछा (किम्) क्या (एतत् यह (यक्षम्) पूजनीय (इति) ऐसा ।

भावार्थ—जब सुषुप्ति दशा के समान जीव इन्द्रियों से पृथक् होकर ब्रह्म की खोज करने लगा, तब समाधि की दशा में सबका ज्ञान कराने वाली बुद्धि उसे मिली, वह ब्रह्म ज्ञान रूपी आभूषणों से आभूषित होने के कारण बहुत ही शोभासौन्दर्य प्राप्त कर चुकी थी और प्रत्येक प्रकार की सिद्धियों के अलङ्कारों से वह अलंकृत थी। जीवात्मा=इन्द्र ने इसको देखकर उसी से प्रश्न किया—यह पूज्य तेजः स्वरूप यक्ष क्या वस्तु थी? जिसको जानने में सारी इन्द्रियाँ अपना पूरा बल लगा कर भी असफल रहीं, जिसको मैं भी न जान सका ? यह क्या है ?

भाव यह है कि परमात्मा का ज्ञान न तो इन्द्रियों को ही हो सकता है। और न ही साधन-विहीन जीवात्मा परमात्मा को जान सकता है। समाधि के निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न होने वाली या तीव्रतम वैराग्य से उत्पन्न होने वाली सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है। इसका वर्णन अगले खण्ड में किया जायेगा ॥ १२ ॥

केनोपनिषत् का यह तृतीय खण्ड समाप्त हुआ।

चतुर्थ खण्ड

अब जैसे बुद्धि ने ब्रह्म सुझाया, उसका उपदेश करते हैं—

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीय-
ध्वमिति ततो विदां चकार ब्रह्मेति ॥ २६।१ ॥

पदार्थ—(सा) उस बुद्धि ने (ब्रह्म) वह ब्रह्म है (इति) ऐसा (उवाच) कहा। (ब्रह्मणः) ब्रह्म के (वै) ही (एतद्विजये) इस विजय में (महीयध्वम्) तुम महत्त्व प्राप्त करते हो (इति)

ऐसा। (ततः) उससे (विदां चकार) जीव ने जाना कि वह यक्ष (ब्रह्म) ब्रह्म है (इति) इति।

भावार्थ–ब्रह्मविद्या मे जो शुद्ध बुद्धि का फल है जीवात्मा को सुझाया कि सब देवों अर्थात् इन्द्रियों की जो सफलता है, वह ब्रह्म की सफलता है, और कि ब्रह्म के कारण ही सब इन्द्रियों की यह महिमा हुई है। इन्द्रियां जड़ अर्थात् ज्ञान से शून्य हैं और ज्ञान के बिना किसी को सफलता नहीं मिल सकती। अतः ब्रह्म जब तक इनकी सहायता न करे तब तक ज्ञान किसी को नहीं हो सकता। ब्रह्म जब सहायता करते हैं तो जीव को मेधा नामक बुद्धि देते हैं, जिसके द्वारा जीव अपने स्वरूप तथा ब्रह्म को जानकर मुक्ति प्राप्त करता है। जब तक मेधा बुद्धि प्राप्त न हो तब तक किसी दूसरे उपाय से ब्रह्म को हम नहीं जान सकते। अतः जहां तक हम यत्न कर सकते हैं हमें वेदों के अभ्यास अर्थात् बार-बार विचार और परमात्मा की उपासना से वह बुद्धि प्राप्त करनी चाहिये ॥ १ ॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥ २७।२॥

पदार्थ—(तस्मात्) इस कारण (वै) ही (एते) ये (देवाः) देव=इन्द्रियां, अग्नि आदि भूत (अतितराम्) श्रेष्ठ हैं (इव) इस तरह (अन्यान्) दूसरे (देवान्) देवों की अपेक्षा (यत्) जो (अग्नि) अग्नि, आंख, (वायुः) वायु, त्वगिन्द्रिय (इन्द्रः) जीवात्मा हैं (ते) इन्होंने (हि) ही (एनत्) इस पूजनीय ब्रह्म को (नेदिष्ठम्) अत्यन्त समीप होकर (पस्पर्शुः) मानों स्पर्श करके ज्ञात किया। (ते) इन्होंने (हि) ही (एनत्)

इसको (प्रथमः) पहले (विदांचकार) जाना कि वह (ब्रह्म + इति) ब्रह्म है ।

भावार्थ—आँख, त्वचा और जीवात्मा सबसे पहले उस ब्रह्म को अत्यन्त समीपता से स्पर्श करते अर्थात् उसके गुणों को ज्ञात करते हैं । उनके द्वारा ही दूसरी इन्द्रियां भी ब्रह्म के गुणों से परिचित होती हैं । आँख और त्वचा दूसरी इन्द्रियों से इसी कारण श्रेष्ठ हैं कि वह अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा पहले सृष्टि में ईश्वर के गुणों को मालूम करती हैं । इन्द्रियां स्वयं तो ब्रह्म के जानने के समर्थ नहीं हैं और न ही जीवात्मा परनिरपेक्ष, स्वतः जान सकता है, वरन् शुद्ध बुद्धि से—जो मल=मन की अपवित्रता, विक्षेप=चञ्चलता, आवरण=अज्ञानजन्य परदा-इन दोषों के दूर होने से समाधि के अभ्यास से प्राप्त होती है, ब्रह्म का ज्ञान होता है। अन्य अवस्थाओं में ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता ।। २ ।।

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान्, स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ।। २८।३।।

पदार्थ—(तस्मात्) इस कारण से (वै) ही (इन्द्रः) जीवात्मा (अतितराम् श्रेष्ठता प्राप्त करता है (अन्यान्) दूसरे (देवान्) देवों से, (सः) वह जीवात्मा (हि) सचमुच (एनत) इस ब्रह्म को (नेदिष्ठम्) बहुत समीप से (पस्पर्श) अनुभव किया (सः)) उसने (हि) ही (एनत्) इस ब्रह्म को (प्रथमः) सब से पूर्व (विदांचकार) जाना कि वह पूजनीय यक्ष (ब्रह्म + इति) ब्रह्म है ।

भावार्थ—चूंकि इन्द्रियाँ जीवात्मा के बिना ब्रह्म को

अनुभव नहीं कर सकतीं; केवल जीवात्मा ही शुद्ध बुद्धि की सहायता से परमात्मा के रचित पदार्थों को जानकर उनसे लाभ उठाता है। अतः जीवात्मा सब इन्द्रियों से श्रेष्ठ है। एक-एक इन्द्रियके शरीरसे पृथक् हो जाने पर शरीर सर्वथा हेय=निकम्मा नहीं हो जाता, अन्धा या अन्य किसी इन्द्रिय से विकल होता हुआ भी अपने कार्य को करता चला जाता है, किन्तु जीवात्मा के पृथक् हो जाने पर, समस्त इन्द्रियों के होते भी कार्य नहीं हो सकता। कई लोगों को सन्देह हो सकता है कि इन्द्रियों के बिना जीवात्मा क्या कार्यकर सकता है? किन्तु विचारशील मनुष्य अच्छी तरह जानते हैं कि जीवात्मा का जो अपना कार्य है, वह इन्द्रियों के बिना भी पूरा हो सकता है। शेष कार्य शरीर के हैं, उनको सम्पादन करने के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता है। अर्थात् जीवात्मा अपने कार्य में परनिरपेक्ष है।

प्रश्न—जीवात्मा का कौनसा कार्य है जो इन्द्रियों के बिना पूरा हो सकता है, हम तो कोई कार्य भी इन्द्रियों के बिना होता नहीं देखते।

उत्तर—जीवात्मा का काम आनन्द भोगना है, सो वह उसी अवस्था में हो सकता है, जब जीवात्मा का इन्द्रियों से सम्बन्ध न हो। अतः समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति तीनों अवस्थाओं में जब कि जीवात्मा परमात्मा के मिलाप से आनन्द भोगता है, तब उसका इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं रहता। जिस दशा में जीवात्मा का इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है उस दशा में उसे ब्रह्मानंद नहीं मिलता।

प्रश्न—क्या कारण है क जीव को, इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने की दशा में आनन्द नहीं मिलता?

उत्तर—चूंकि इन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों का ज्ञान

होता है। और वाह्य पदार्थ सभी प्राकृतिक हैं, प्रकृति में आनन्द है ही नहीं, अतः इन्द्रियों के द्वारा आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

प्रश्न—जब इन्द्रियों के द्वारा विषयों के सम्बन्ध से जीव को आनन्द नहीं आता, तो क्यों इन्द्रियाँ जीव को विषयों में लगाती हैं ?

उत्तर—चूंकि इन्द्रियां प्राकृतिक (भौतिक) हैं, अतः वे अपने समान भौतिक पदार्थों से ही सम्बन्ध करती हैं।

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीति न्यमीमिषदा ३ इत्यधि दैवतम् ॥ २९ । ४ ॥

पदार्थ—(तस्य) उस ब्रह्म का (एषः) यह बाह्य (आदेशः) उपदेश है (यत्) जो (एतत) यह (विद्युतः) बिजलियां (व्यद्युतत्) चमकती और छिपती हैं (आ + इति) यथा, (न्यनीमिषत्) आँख बन्द और खुलती है (आ) यथा (इति) यह (अधिदैवतम्) आधिदैविक है, ब्रह्म इसी प्रकार प्रकट होता और छिप जाता है।

भावार्थ—पूर्वोक्त विषय को सिद्ध करने के लिये कहते हैं, वह परमात्मा ज्ञानी अर्थात् कर्मनिष्ठ विद्वान् मनुष्यों को सर्वत्र दिखाई देता है। मूर्ख कर्मशून्य लोग उसे मालूम नहीं कर सकते। इस वास्ते वह उनसे गुप्त है। इस ब्रह्म का उपदेश ऐसा ही है जैसे विद्युत् चमक कर छिप जाती है, या जिस प्रकार आंख का बन्द होना और खुलना (निवेष, उन्मेष) है इसी तरह ब्रह्म के प्रकट होने और छिप जाने को अलङ्कार के द्वारा वर्णन किया गया है।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्म को न तो अज्ञानी ही समझ पाते हैं क्योंकि वे उसे इन्द्रियों से देखना चाहते हैं। और न ही

अकर्माज्ञानी उसे अनुभव कर सकते हैं, क्योंकि उनके पास केवल वाचिक ज्ञान है। कथनी है, करनी नहीं हैं। कथनी के अनुसार उनकी करनी नहीं होती, विद्या के अनुसार क्रिया नहीं होती। केवल कर्म्मठ ज्ञानी ही उसे प्राप्त करते हैं। संसार में ब्रह्मशक्ति विद्युत् की भांति चमककर छिप जाती है। अर्थात् जिस समय मनुष्य एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय में लगता है तो दोनों विषयों के बीच के समय में उसका ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होता है ॥ ४ ॥

अथाध्यात्मम्, यदेतग्दच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः ॥ ३० । ५ ॥

पदार्थ—(अथ) अब (अध्यात्मम्) आत्मा के संबन्ध में सुनिये। (यत्) जो (एतत्) यह (गच्छति+इव) चलती सा है (च) और (मन) मन को (अनेन) इससे (च) और (एतत्) यह (उपस्मरति) समीप होकर स्मरण करे (अभीक्ष्णम्) बार बार, हर क्षण (संकल्प) मानसिक विचार।

भावार्थ —इन्द्रियों और उनके सहायक देवों को जानने के बाद, मनुष्य को आध्यात्मिक कर्तव्य की पूर्ति के लिये सबसे महान् विद्वान् भगवान् की ओर मन को प्रतिक्षण भगवान् के ध्यान में लगाना और उसका सामीप्य प्राप्त करके आनन्द प्राप्त करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि बाह्य विषयों को जो इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात होते हैं, पृथक करके, मन में व्यापक भगवान् के ध्यान में लीन हो जाये, और मल विक्षेप और आवरण—इन तीन दोषों को—जो अत्यन्त समीप होते हुए ब्रह्म को जीव से मानो दूर किये हुए हैं, कर्म उपासना और ज्ञान के द्वारा दूर करके आत्मा

को आत्मिक परम धाम तक पहुँचावे। अर्थात् मनुष्य को यह दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिये कि मेरा मन सदा ब्रह्म की ओर चले, और ब्रह्म को त्याग कर, संसारिक वासनाओं में जो मनुष्य को लक्ष्य से दूर करने वाली है, न जाये वरन् हर समय ब्रह्म-ध्यान में बिताये ॥ ५ ॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि संवाञ्छन्ति ॥ ३१ । ६ ॥

पदार्थ—(तत्) वह (ह) सचमुच (तत्) वह ब्रह्म (वनम्) चाहने योग्य (नाम) प्रसिद्ध है (तत्) वह (वनम्) चाहने योग्य है (इति) ऐसा मान कर (उपासितव्यम्) उपासना करनी चाहिये अथवा (तत्) वह परमात्मा (वनम्) चाहने, भक्ति और पूजा के योग्य है। केवल परमात्मा ही दुःख दूर कर सकता है और उसकी उपासना करने और चाहने से, विचारों के उसकी ओर प्रवृत होने से दुःख दूर हो जाते हैं, अतः परमात्मा चाहने योग्य है। इसी कारण परमात्मा का एक नाम 'वन' है (इति) इसलिये (उपासितव्यम्) उपासना के योग्य हैं अर्थात् उसका सामीप्य प्राप्त करना चाहिये। (सः) वह (यः) जो (ह) सचमुच (एतत्) इसको (एवं) ऐसा (वेद) जानता है (अभि) सब ओर से, सब प्रकार से, (ह) ही (एनम्) इसको (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी या भूत (संवांछन्ति) चाहते हैं।

भावार्थ—पूर्वोक्त विशेषण विशिष्ट ब्रह्म, जिसका वर्णन इस उपनिषत् में हुआ है, दुःख दूर करने के अभिलाषियों से उपासना करने योग्य प्रसिद्ध है। प्रकृति सत् है, जीवात्मा सत्+चित्=सच्चित् है, केवल ब्रह्म ही सत्+चित्+आनन्द=सच्चिदानन्द है। जिसको आनन्द की अभिलाषा हो, उसकी

यह अभिलाषा ब्रह्म की उपासना से ही पूरी हो सकती है। ब्रह्म से भिन्न जीव और प्रकृति की उपासना करने से मनुष्य दुःखों से सर्वथा कदापि नहीं छूट सकता। जो मनुष्य उचित विधि से ब्रह्म की उपासना करना जानता है, अर्थात् ब्रह्मोपासना की सत्य विधि योग को क्रियात्मक रूप से अनुष्ठान करके ब्रह्म की उपासना करता है, संसार के समस्त ज्ञानी, मन से ऐसे मनुष्य का आदर करते हैं। जिस प्रकार संसार में धनाभिलाषी धनी के पास जाते हैं, ऐसे ही ईश्वर भक्ति के अभिलाषी नियमानुसार योगाभ्यासी के पास जाते हैं ॥ ६ ॥

यहां तक गुरु का उपदेश था। अब शिष्य पुनः प्रश्न करता है। और गुरु उसका समाधान करता है :—

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ३२ । ७ ॥

पदार्थ—(उपनिषदम्) उपनिषद् अर्थात् गुप्त रहस्य=ब्रह्मविद्या=यथार्थ ज्ञान का (भोः) हे गुरू जी (ब्रूहि) कहिये, बतलाइये। (इति) इति। (उक्ता) कह दिया गया (ते) तुझे (उपनिषत्) गुप्त रहस्य, परोक्ष पदार्थों का ज्ञान। (ब्राह्मीं) ब्रह्मसम्बन्धी (वाव) ही (ते) तुझे (उपनिषदम्) गुप्तदान (अब्रूम) हमने कह दिया (इति) इति।

भावार्थ—शिष्य ने गुरु से प्रार्थना की, हे गुरु जी ! आप मुझे ब्रह्मविद्या=यथार्थ ज्ञान का रहस्य बतला दीजिये। गुरु ने उत्तर दिया—ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में जितना ज्ञान मनुष्य धारण कर सकता है, उतना मैं तुमको बतला चुका हूँ। शिष्य ने प्रार्थना की—यदि इसमें कुछ शेष रह गया हो, तो कृपया वह बतला दीजिये। गुरु ने कहा कि मैं ब्रह्मविषयक पूरा पूरा उप-

देश तुझे कर चुका, अब कुछ बतलाना शेष नहीं है। सचमुच संसार में जितनी ब्रह्मविद्या है, उतनी तुम्हें बतला चुका। अब इसमें कुछ भी कहना शेष नहीं है।

प्रश्न—जब शिष्य को गुरु ने संपूर्ण ब्रह्मविद्या का उपदेश कर दिया था तब शिष्य को ब्रह्मविद्या में संदेह क्यों रहा, जिससे विवश होकर उसने कहा कि जो कुछ शेष हो उसका भी उपदेश कर दीजिये।

उत्तर—चूंकि यथार्थ ज्ञान श्रवण अर्थात् गुरु का उपदेश सुनने, मनन=उसकी युक्तियों को रात दिन विचारने और निदिध्यासन=उस पर नियम पूर्वक आचरण करने से होता है, गुरु का उपदेश सुनना तो केवल श्रवण है, मनन और निदिध्या-सन अभी नहीं हुआ था, अतः शिष्य को ब्रह्मविद्या का स्पष्ट ज्ञान नहीं हुआ, इसी लिये उसने गुरु से प्रश्न किया ॥ ७ ॥

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। वेदाः सर्वाङ्गाणि सत्यमायतनम् ॥ ३३। ८ ॥

पदार्थ—(तस्यै) उसमें प्रवेश पाने के लिये (तपः) तप करना अर्थात् भूख प्यास, सरदी, गरमी को सहन करना (दमः) मन को वश में करना (कर्म) वेदानुसार आचरण करना (इति) यह (प्रतिष्ठा) आधार हैं (वेदाः) ऋग्, यजुः, साम और अथर्व चारों वेद (सर्वाङ्गाणि) वेद के सब अङ्ग उपाङ्ग [शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्दः, ज्योतिष और निरुक्त ये वेदाङ्ग हैं, और न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त—ये छः दर्शन वेद के उपांग हैं] (सत्यम्) सत्य बोलना, सत्य करना और सत्यस्वरूप परमात्मा के सहारे रहना (आयतनम्) रहने का स्थान है।

भावार्थ—ब्रह्मविद्या का पूरा उपदेश करके उसके प्राप्त करने के लिये आवश्यक साधनों का उपदेश करते हैं। ब्रह्म को जानने के लिये मल दोष को दूर करने के साधन 'तप' और 'दम' की आवश्यकता है। अर्थात् जब तक साधक इन्द्रियों की वासनाओं को नहीं दबा सकता और जब तक वेदानुसार आचरण नहीं मानता तब तक मन को पाप कर्म्मों की वासना से पृथक् नहीं कर सकता। अतः प्रथम साधन तप और दम है। इसके पश्चात् विक्षेप दोष को दूर करने के लिये मन को रोकने की आवश्यकता है, जिससे वह चंचल न रह कर एकाग्र हो जाये इसके लिये कर्म्म=ईश्वरोपासना के उपाय भोग के अनुष्ठान करने की आवश्यकता है। तत्पश्चात् आवरण दोष को दूर करने के निमित्त वेद ज्ञान की आवश्यकता है। वेदों का अभिप्राय ठीक ठीक समझने के लिये अङ्गों और उपाङ्गों के ज्ञान की आवश्यकता है। जब तक मनुष्य वेदाङ्गों और वेद के उपाङ्गों का अच्छी तरह अभ्यास नहीं कर लेता तब तक वह वेदों को यथार्थ रूप में नहीं समझ सकता। और जब तक वेद को ठीक तौर पर न समझ ले तब तक उसको ब्रह्म का ज्ञान नही हो सकता। किन्तु यह ज्ञान तभी उपयोगी हो सकता है, जब इसके साथ सत्याचरण का सहयोग हो, क्योंकि सत्य ही इन साधनों के रहने का आयतन=स्थान है, जब तक सत्य न हो, तब तक तप, दम, कर्म्म और वेदों का यथार्थ ज्ञान हो नहीं सकता। अतः सत्य सब साधनों से श्रेष्ठ है॥ ८॥

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते।
स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति॥ ३४। ९॥

पदार्थ—(यः) जो मनुष्य (वै) सचमुच (एताम्) इस

ब्रह्मविद्या को (एवम्) इस विधि से (वेद) जानता है (अपहत्य) नाश करके (पाप्मानम्) अनेक जन्मों के घोर पापों को अर्थात् चिरकाल से संचित संस्कारों या वासनाओं को, (अनन्ते) अनन्त (स्वर्गे) सुख धाम (लोके) जानने योग्य (ज्येये) सबसे श्रेष्ठ परमात्मा में (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है, अर्थात् अन्य इच्छाओं से बचकर केवल परमात्मा में रत हो जाता है (प्रतितिष्ठति) अवश्य स्थित होता है। [यहाँ 'प्रतितिष्ठति' शब्द के दोहराने से तात्पर्य निश्चय और समाप्ति है]।

भावार्थ—जो मनुष्य इस उपनिषत्में ब्रह्मविद्या को ठीक-ठीक जानता है अर्थात् इस बात को निश्चय की सीमा तक ले जाता है, वह मनुष्य चिरकाल से संचित घोर पापों की वासनाओं से हटकर सब सुखों के भण्डार परमात्मा में स्थित होकर आनन्द भोगता है। और जब तक मनुष्य ब्रह्मज्ञान को अनियमितता से जानने का यत्न करता है, तब तक उसे ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता। जब तक ब्रह्म का ज्ञान न हो तव तक सुख प्राप्त नहीं होता।

॥ केनोपनिषत् का यह चौथा खण्ड समाप्त हुआ ॥

इति श्रीमदर्शनानन्द सरस्वती स्वामि कृतस्य केनोपनिषद्भाष्यस्य स्वामिवेदानन्दतीर्थ कृतं भाषान्तरं सटिप्पण पूर्त्तिमगात् ॥

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

—❀—

ओ३म्

अथ केनोपनिषत्सार

ईशोपनिषत्सार में बतलाया जा चुका है कि ईशोपनिषत् सब उपनिषदों का मूल है, शेष सब उपनिषदें इसकी व्याख्या सी हैं। ब्रह्मविद्या का सार ब्रह्मज्ञान है और उसमें भी मुख्य बात ब्रह्म की सर्वव्यापकता का निश्चयात्मक भान होना है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता अनेक उपायों से ईशोपनिषत् में समझाई गई है। उसमें प्रसङ्ग कहा है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्द आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपोमातरिश्वा दधाति ॥

केनोपनिषत् एक प्रकार से इस मन्त्र का विस्तृत भाष्य है। केनोपनिषत् चार खण्डों में है। इनमें दूसरा खण्ड सबसे छोटा किन्तु गहन है।

पहले खण्ड में संसार के निमित्त कारण—परमात्मा का बोध एक विचित्र प्रकार से कराया गया है। साधारण जन प्रत्यक्षवादी होते हैं, वे उसे ही मानते हैं, जिसका उन्हें अपनी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान हो, वे उस वस्तु को स्वीकार करने को तैयार नहीं होते, जो उनकी इन्द्रियों का विषय न हो सके। उनका कथन है कि आँख, नाक, कान आदि ज्ञानेन्द्रियाँ मनुष्य को ज्ञान कराने के लिये हैं। यह कैसे हो सकता है कि ऐसे विषय भी हों जिनको मनुष्य इन ज्ञान के साधनों से न जान सके। निःस्सन्देह, इन्द्रियों की शक्ति अल्प है किन्तु मनुष्य ने अपनी बुद्धि बल से इनकी शक्ति बढ़ाने वाले साधन तैयार कर

लिए हैं। कल तो जो पदार्थ अदृश्य=न देखने योग्य माने जाते थे। आज इन साधनों की सहायता से वे स्पष्ट दीखने लग गये हैं। अतः आजकल की पदार्थविद्या=सायंस science से उत्तेजना पाकर साधारण मनुष्य बलपूर्वक कहता है कि हम ऐसे किसी पदार्थ को मानने को तय्यार नहीं जो इन इन्द्रियों या चर्मचक्षुओं से दिखाई न दे: तुम्हारा कल्पित ईश्वर परमात्मा तथा आत्मा न तो इन्द्रियों से दिखाई देते हैं और न ही पदार्थविद्या के आविष्कृत सूक्ष्म यन्त्रों से देखने में आते हैं, अतः हम उनकी सत्ता को स्वीकार नहीं करते। तलवकार ऋषि जिनकी यह केनोपनिषत् रचना है. ऐसे ढङ्ग से इसका समाधान करते हैं कि मानते ही बनता है। मानों उनके मन में हैं कि हे प्रत्यक्षवादिन् परोक्षद्वेषिन्! सुन, और बता—यानि हि इन्द्रियाणि प्रत्यक्षसाधनानि, तानि हि नो प्रत्यक्षाणि=जो इन्द्रियां प्रत्यक्ष का साधन है, वे स्वयं ही प्रत्यक्ष नहीं है। क्या तूने कभी आँख को, जो सब रूपवान् और रूपों को दिखाती है, देखा है। सच कहना, क्या सब शब्दों का ज्ञान कराने वाले कान को तूने कहीं देखा है। सुगन्ध-दुर्गन्ध का बोध कराने वाली नाक को तूने कभी सूंघा है। सब स्वादों का पता देने वाली रसना का रस तूने कभी लिया है। शीत-उष्ण का भान कराने वाली त्वगिन्द्रिय को तूने कभी छूके देखा है। अरे भैया, जिनको तू देख रहा है वह तो इन्द्रियों के गोलक हैं, इन्द्रियों के रहने का ठिकाना है, इन्द्रियां नहीं है। बता, तेरे प्रत्यक्ष को कैसे प्रमाण मानें? तू पदार्थ विद्या के सहारे बताता है सूर्य्य पृथ्वी से बहुत बड़ा है, किन्तु आँख से तू सूर्य्य पृथिवी की अपेक्षा अत्यन्त छोटा दीखता है। तेरे प्रत्यक्ष का तो यह हाल है, उसे ही केवल प्रमाण कैसे मानें।

ऋषियों ने ठीक कहा है—'**परोक्षप्रिया इव हि देवा, प्रत्यक्ष-द्विषः**' देव=ज्ञानी लोग परोक्ष से प्रेम करते हैं, प्रत्यक्ष के चक्कर में नहीं फंसते। क्योंकि प्रत्यक्ष तो बहुधा भ्रामक होता है। ऋषि मानो चोट करते हुए पूछता है—तू सुख से सुखी, दुःख से दुःखी होता है, कहां है सुख-दुःख ? या तो सुख दुःख की सत्ता का अपलाप करो या प्रत्यक्ष के अतिरिक्त और प्रमाणों की सत्ता मानो। सुख दुःख की सत्ता का तुम अपलाप कर नहीं सकते, क्योंकि सुख-प्राप्त और दुःखनाश के लिये ही तुम्हारी सब चेष्टायें हैं। अतः सुख दुःख की सत्ता मानने के लिये दूसरे प्रमाणों का मानना अनिवार्य्य हैं।

अच्छा, देखो, संसार में कार्य्य कारण की शृंखला कार्य्य कर रही है। घड़ा कार्य्य है, मिट्टी उसका कारण है। मिट्टी के अवयवों के अवयव करते चले जाओ, अर्थात् स्थूल कार्य्य को सूक्ष्म कारण में परिणित करते चले जाओ, अन्त में ऐसी अवस्था आजायेगी, जिसके आगे अवयव नहीं हो सकते। वह मिट्टी का अति सूक्ष्म अवयव न तो आंखों से दिखाई देता है और न किसी यन्त्र से। क्या उसकी सत्ता से इन्कार करोगे ? करो इन्कार ! फिर तुम्हारा यह संसार कहाँ से आया ? कार्य्य कारण की शृङ्खला बलात् प्रत्यक्ष से अतिरिक्त प्रमाणों को ममवा देती है। न मानो तो मिट्टी के सूक्ष्म कारण की सत्ता का क्या प्रमाण ?

और देखिये—मिट्टी से घड़ा क्या अपने आप बन जाता है। कट्टर से कट्टर प्रत्यक्षवादी ऐसा कहने का साहस नहीं कर सकता है। मिट्टी से घड़ा बनाने के लिये पानी, आग, हवा की सहायता चाहिये। कुम्हार के उपकरण, चाक, चीकर, सूत्र ठप्पी आदि न हों तो घड़ा कैसे बनेगा। मिट्टी है, पानी है, हवा है, आग है और हैं कुम्हार के उपकरण, किन्तु नहीं है कुम्हार।

क्या घड़ा बन जायेगा ? कभी नहीं। जब घड़े जैसी तुच्छ वस्तु के बनाने के लिये उपकरणों और चेतन कर्त्ता की आवश्यकता है, तो इस विशाल ब्रह्मांड की रचना चेतनकर्त्ता के बिना कैसे हो सकेगी।

प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमान प्रमाण ने कार्य्य कारण व्यवस्था के सहारे हमें चेतन कर्त्ता का ज्ञान करा दिया।

इस सारे तत्त्व को सामने रख कर गुरु ने शिष्य को समझाया कि हे शिष्य ! यह इन्द्रियां, मन आदि किसी के नियम में बँधी कार्य्य कर रही हैं। वह शक्ति ऐसी है जिसे इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। वह इन्द्रियागोचर है। मन की गति से भी वह परे है। इन्द्रियों और मन की वहाँ तक पहुँच नहीं है। साधारण लोग भ्रम में पड़ कर भगवान् के स्थान में जहान् की पूजा कर रहे हैं। प्रभु के सम्बन्ध में इतना तुम्हें बताया जा सकता है इन्द्रियाँ उसको ग्रहण नहीं कर सकती, किन्तु इन्द्रियों में देखने सुनने, छूने, सूंघने, चखने का जो सामर्थ्य है, मन में मनन की जो शक्ति है, वह सब उस जगन्नियन्ता की देन है।

प्रथम खण्ड में इतना बताकर द्वितीय खण्ड में एक सूक्ष्म बात समझाई गई है। कई लोग पोथियां पढ़कर या व्याख्यान सुन कर मानने लग जाते हैं कि वे ब्रह्म को जान चुके हैं ! गुरु शिष्य को सावधान करता है कि हमारा उपदेशमात्र श्रवण करके तू इस अभिमान में न आजाना। श्रवण तो प्रथम सोपान है, पहली सीढ़ी है।

जो लोग यह समझते हैं कि उन्हें ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान हो गया है, वे अज्ञान में फंसे हैं। उनसे ब्रह्मविद्या की शिक्षा लेना व्यर्थ है। जो यह कहते हैं कि हमें ब्रह्म का सर्व ज्ञान नहीं है वे भी उपदेश करने के योग्य नहीं। ब्रह्मविद्या का उपदेश तो वह कर सकता है जिसको यह निश्चय हो चुका हो कि न तो वह

ब्रह्म को सर्वथा नहीं जानता है, और नहीं पूरी तरह जानता है। कार्य्य कारण के द्वारा रचना के लिये चेतन सत्ता का होना उसे ज्ञात हो चुका है, अतः ब्रह्म है, उसका उसे पूरा निश्चय है, ब्रह्म सत्ता के निश्चय के साथ उसे भी यह भी ज्ञान हो चुका है कि ब्रह्म सर्वतो महान् है, वह सर्वज्ञ और सर्व शक्तिवान् है, वह सर्वव्यापक है। आज तक कोई भी ऐसा ज्ञानो नही हुआ, जिसने यह कहने का साहस किया हो कि वह सर्व=सब को जानता है जो सर्वव्याप्य को नहीं जानता, वह सर्वव्यापक को पूरी तरह कैसे जान सकता है। अतः उसका यह ज्ञान कि ब्रह्म है किन्तु पूरी तरह वह अज्ञेय है यथार्थ ज्ञान है।

तनिक थोड़ा सा विचारें तो यह दूसरा खण्ड एक प्रकार से मनन का विधान कर रहा है। मनन तर्क और युक्तियों से होता है। यहां भी उसी का सहारा लेकर कहा गया है—'नाह मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति च।

भला उस अनन्त को यह सान्त कैसे जान सकता है। अतः ब्रह्मज्ञानी सदा अपनी अज्ञता=अल्पज्ञता को स्वीकार करता रहता है। ज्ञानी की पहचान ही यह है कि उसे अपने अज्ञान का ज्ञान है।

अन्त में प्रतिबोध मनन से जानने पर मुक्ति का होना बताकर कहा—

इह चदवदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। श्रवण और मनन से ब्रह्म का निश्चय करके जो साधक अनुष्ठान को कल पर छोड़ता है, उससे बढ़कर मूर्ख और कौन हो सकता है। 'न श्वः श्व उपासीत्' कल का भरोसा मत करो। जानें,कल आये भी या नहीं। इसी कारण ऋषि ने इस जन्म=इसी क्षण में जानने पर बल दिया है। ज्ञानी की पहिचान यह है कि वह सब पदार्थों में उस का दर्शन करके उससे प्रीति लगा जीवन्मुक्ति

प्राप्त करले, ताकि मरने के पीछे जन्ममरण के चक्कर में उसे फिर न पड़ना पड़े।

यहां 'भूतेषु भूतेषु—' कहकर एक सुन्दर उपदेश किया है। प्रभु को पाने के लिये किसी स्थान विशेष—मक्का, काशी, आदि—में जाने की आवश्यकता नहीं है। वह सब में है, सब जगह है, तुम में भी है। बाहर क्यों खोजते हो ?

पहले दो खण्डों में श्रवण मनन तथा निदिध्यासन का निरूपण कर साक्षात् दर्शन का वर्णन करने की भावना से रूपकालङ्कार के द्वारा भगवान् की उत्कृष्टता, सबसे श्रेष्ठता तथा इन्द्रियों से अज्ञेयता, ऋतं भरा प्रज्ञायुक्त आत्मा का ही उसको जान सकना वर्णन करते हैं।

आग, हवा, या आंख और स्पर्श ने ब्रह्म को देखा, किन्तु पहचाना। इन्द्र=आत्मा गया, तो उससे वह छिप गया। इसका अभिप्राय यह है कि विचारशील साधक आंख से सृष्टि के पदार्थ देखकर उसके रचने वाले का विचार कर लिया करता है। जब उसे ब्रह्म के जानने में इन्द्रियों का असामर्थ्य ज्ञात होता है, तब वह आंख, नाक, कान आदि को मूंदकर स्वयं अकेला उसका अनुसन्धान करने लगता है, उस दशा में उसे कुछ दिखाई नहीं देता, मानो अन्धकार छा जाता है। परन्तु यदि वह निराश नहीं होता, वरन् अभ्यास को और दृढ़ और स्थिर करने का प्रयत्न करता है तो उसे 'उमा'=नेति-नेति बुद्धि जिसे योगदर्शन में 'ऋतं' भरा 'प्रज्ञा' कहते हैं, प्राप्त होती है, वह उसे सुझाती है कि यह सब ब्रह्म की महिमा है। भूतों या इन्द्रियों का क्या सामर्थ्य, जो इतनी भारी रचना रच सकें और संभाल सके। ऋतंभरा प्रज्ञा के होने पर विषय सम्बन्धी सब संस्कार और वासनायें नष्ट हो जाती हैं।

ब्रह्म के प्रकट होने और छिपने को विद्युत् के चमकने

और छिपने के द्वारा समझाया गया है। वास्तव में साधन की प्रथमावस्था में स्वयं साधक को प्रतीत होता है कि आंखें बन्द रहने पर विद्युत् के समान कोई तेजः पुंज उसके सामने कौंध गया है।

मन मनुष्य का अन्तःकरण है किन्तु वह भी संकल्प विकल्प के चक्कर के कारण हमारे पास से भागता ही प्रतीत होता है, अपितु अनेक बार वह विचार में लीन होता है और हमें प्रतीत ही नहीं होता कि किस विचार में वह निमग्न है। जब मन हमारा होता हुआ, हमारे पास रहता हुआ हम से छिप जाता है, तो उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म भगवान् का हमसे छिप जाना कैसे आश्चर्य की बात हो सकती है। इस प्रकार चौथे खण्ड में 'ऋतं भरा प्रज्ञा' के द्वारा आत्मा को ब्रह्म का साक्षात् होना वर्णन करके, ब्रह्म को सब चाहने और उपासने कहके ऋषि ने एक ऐसी बात कही है जो वैदिक धर्म्म की जान है। वह यह है कि ब्रह्मविद्या थोथे ज्ञान का नाम नहीं है, वरन् ब्रह्मविद्या की बुनियाद=आधार प्रतिष्ठा, तप=द्वन्दों का सहना, दम=मन और इन्द्रियों को वश में करना तथा कर्म्म है। जो कर्म्म को ब्रह्मविद्या का विरोधी मानते हैं वे कृपा करके 'तस्यै तपो दमः कर्म्मेति प्रतिष्ठा' वचन को ध्यान से पढ़ें। तपः दम और कर्म्म सदाचार हैं। इस सदाचार के साथ अङ्गोंपांगों सहित सत्यविद्या के मूल वेद का ज्ञान भी आवश्यक है। तपः, दम, कर्म्म और वेद-ज्ञान व्यर्थ हैं, यदि 'सत्य' का आचरण न हो, अतः अन्त में सत्य पर बल देकर आर्य्य जाति की सत्यप्रियता पर मोहर लगा दी है। आर्यों के वेद और शास्त्र सत्य की महिमा से भरे पड़े हैं। मनु महाराज का यह वचन अत्यन्त प्रसिद्ध है—

'नहि सत्यात् परो धर्म्मः।' सत्य से बढ़कर कोई धर्म्म नहीं।

इति श्रीमद्वेदानन्दतीर्थापराभिधान दयानन्दतीर्थस्वामिना रचितः केनोपनिषत्सारः समाप्तिं गतः। शुभं भूयात्

ओ३म्

कठोपनिषद्भाष्य

प्रथमवल्ली

उशन् हवै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

पदार्थ—(उशन्) मुक्ति की अभिलाषा (ह+व) पुराने समय में (वाजश्रवसः) वाजश्रवा नामक विद्वान् के पुत्र ने (सर्ववेदसम्) सम्पूर्ण भौतिक ऐश्वर्य (ददौ) दान कर दिया। (तस्य) उसका (नचिकेता+नाम) नचिकेता नामक, (ह) प्रसिद्ध (पुत्रः) पुत्र (आस) था।

भावार्थ—वाजश्रवा के पुत्र ने मुक्ति की कामना से अपना सारा धन, गौ आदि पशु जो कुछ था—इस विचार से कि जब तक सब वस्तुएँ त्यागी न जायें मुक्ति नहीं होती, दान कर दिया। उसका एक नचिकेता नामक पुत्र था। इस पुरानी कथा को लोगों को मुक्ति के साधनों का उपदेश करने के लिये, यहाँ कहते हैं ॥ १ ॥

तँ ह कुमारँ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु
श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

पदार्थ—(तम्) उस (ह) सचमुच (कुमारम् सन्तम्) कुमार होते हुए को (दक्षिणासु) दक्षिणा के निमित्त (नीयमानासु) ले जाती हुई गौओं में (श्रद्धा) सत्य का विचार

(आविवेश) घुसा, उत्पन्न हुआ, कि मेरा पिता ऐसा कार्य्य करने लगा है। (सः) उस नचिकेता ने (अमन्यत) अपने चित्त में विचारा।

भावार्थ—अप्रौढ़ बालक होते हुए भी नचिकेता के चित्त में धर्म के लिये श्रद्धा उत्पन्न हो गई कि मेरा पिता धर्म के बदले क्या अधर्म करने लगा है। क्योंकि यज्ञ की दक्षिणा के लिए जो गौएं लाई गई थीं वे बूढ़ी थीं और बूढ़ी गौओं के दान देने से धर्म के स्थान में उलटा अधर्म होता है। दान इसलिये दिया जाता है कि लेने वाले को लाभ हो। जिस दान से लेने वाले को लाभ के स्थान में हानि पहुंचे और देने वाले को ज्ञात हो कि लेने वाले को इससे कोई लाभ नहीं पहुँचेगा वरन् हानि होगी, तो वह दान पापकारक है, जैसा कि आगे प्रकट होगा ॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ;
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥३॥

पदार्थ—(पीतोदकाः) जो पानी पी चुकी हैं, वे [अर्थात् अब स्वयं जल नहीं पी सकतीं] (जग्धतृणाः) जो घास खा चुकी हैं वे [अर्थात् वे स्वयं घास खाने में भी असमर्थ हैं] (दुग्ध-दोहाः) दोह लिया गया है दूध जिनका, ऐसी [अर्थात् अब वे दूध नहीं देती हैं] (निरिन्द्रियाः) इन्द्रिय रहित, सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ अत्यन्त वृद्ध हों; (अनन्दाः+नाम) सुख और आनन्द से रहित, जिन में किसी प्रकार की उन्नति की संभावना न हो (ते) वे (लोकः) शरीर, जन्म, योनियाँ है (तान्) उनको [सः) वह मनुष्य (गच्छति) जाता है, प्राप्त होता है [अर्थात् उस मनुष्य को इस प्रकार के जन्म मिलते हैं,

जिनमें सुख का नाम न हो] (ताः) ऐसी बूढ़ी गौओं को (ददत्) देने वाला।

भावार्थ—जो गौएं अब न तो स्वयं जल पी सकती हैं न ही चारा चर सकती हैं, और अत्यन्त वृद्ध होने के कारण दूध देने योग्य भी नहीं रहीं, उनको किसी पुरोहित या पण्डे को दान दे दिया जाता है। ऐसा दान देने वाले लोग उन योनियों को प्राप्त करते हैं, जिनमें आनन्द प्राप्ति तो दूर रही, आनन्द का नाम भी सुनने को नहीं मिलता।

प्रश्न—क्या दान करने से भी नरक मिलता है ? हम तो गोदान का बड़ा माहात्म्य सुनते हैं।

उत्तर—यह दान है या कृतघ्नता ? जब तक उससे लाभ मिला, स्वयं लिया। जब उससे लाभ की आशा न रही, तब उसे दूसरे के गले मढ़ दिया। यह बहुत बड़ा पाप है। कृतघ्नता से बड़ा पाप कोई नहीं है।

प्रश्न—कृतघ्नता को इतना पाप क्यों माना जाता है ?

उत्तर—क्योंकि इस पाप से मूर्खों के चित्तों में भलाई= शुभ कर्म्मों के प्रति घृणा पैदा होती है। ये देखते हैं कि अमुक जन ने उपकार किया था, उसको ऐसा फल मिला। यदि हम उपकार करेंगे, तो हमारी भी ऐसी दशा होगी, अतः वे शुभ कर्म्मों से उदासीन हो जाते हैं। इससे संसार में भलाई को बहुत हानि पहुँचती है। संसार से नेकी का दूर करना महापाप है ॥३॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयँ होवाच, मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥

पदार्थ—(सः) उस नचिकेता ने (ह) कहते हैं कि (उवाच) कहा (पितरम्) अपने पिता को, (तत) हे पिता जी (कस्मै)

किस के प्रति (माम्) मुझे (दास्यसि+इति) दोगे। (द्वितीयम्) दूसरी बार (तृतीयम्) तीसरी बार (ह) भी । (उवाच) उस बालक के पिता ने कहा (मृत्यवे) मृत्यु के प्रति (त्वा) तुझे (ददामि) देता हूँ (इति) इति ।

भावार्थ—इस विचार से नचिकेता ने अपने पिता से दो तीन वार कहा कि तुम मुझे किस के प्रति दोगे । उसके पिता ने कहा—तुझे मृत्यु के प्रति दूंगा । इसके दो अर्थ हो सकते हैं—
१. चूंकि तूने धृष्टता की है अतः तुझे जान से मार डालूंगा ।
२. या मृत्यु किसी ऋषि का नाम होगा, उसके प्रति दूंगा । यदि पहला अर्थ लिया जाये तो उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि नचिकेता ने कोई ऐसा अपराध नहीं किया था जिसका दण्ड मृत्यु हो । नचिकेता ने तो यह विचारा था कि पिता जिस भूल को करने लगा है, उसका फल पिताजी को दुःख होगा । अतः उसने कहा था कि मुझे किसके प्रति दोगे, पुत्र से अधिक मूल्यवान् और कोई पदार्थ नहीं हो सकता । पुत्र को दक्षिणा में देने सें निकम्मी गौओं के दान देने का पाप न होगा, क्योंकि भला बुरा जो पास था, सब दे दिया । यदि अच्छा न दिया जाये और बुरा ही बुरा दिया जाये तो पाप लगेगा । जब नचिकेता शुद्ध भावना से कह रहा था, तो उसके बाप को बुरा किस तरह लग सकता था । जब कोई विशेष दोष न हो, तो साधारण मनुष्य भी ऐसे कठोर दण्ड का विधान नहीं करता, ऋषि तो कैसे करता ? अतः पहला अर्थ सङ्गत नहीं है । दूसरी बात यह है कि 'मृत्यु के प्रति देता हूँ' ऐसा किस प्रकार कहते । मृत्यु के बाद शरीर और आत्मा पृथक् हो जाते हैं । शरीर यही आग में जला दिया जाता है । यदि जायेगा, तो जीव जायेगा । जीव का नाम नचिकेता नहीं है, और न जीव का देना उसके वश में है । अतः

ऋषि के कहने से और अगले वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषि ने ऐसे शब्द कहे कि जिससे नचिकेता को दण्ड भी मिले अर्थात् वह भयभीत भी हो जाये और ऋषि का वाक्य भी पूरा हो जाये ॥४॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किँ स्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥५॥

पदार्थ—(बहूनाम्) बहुत से शिष्यों में से (एमि) आता हूँ (प्रथमः) प्रथम (बहूनाम्) बहुत से विद्यार्थियों में से (एमि) आता हूँ (मध्यमः) मध्यम, अर्थात् अधम नहीं हूं । (किं+स्वित्) कौन सा (यमस्य) मौतका (कर्त्तव्यम) कार्य्य है (यत) जो (मया) मेरे द्वारा (अद्य) आज (करिष्यति) वह करेगा ।

भावार्थ—पिता की इस बात को सुन कर नचिकेता सोचने लगा, कि पिता ने यह आदेश क्यों दिया ? मेरे साथ जो विद्यार्थी पढ़ते हैं, उन में से अनेकों में मैं प्रथम हूँ, अनेकों में मध्यम हूँ । अधम तो मैं किसी भी दशा में नहीं हूँ । फिर मृत्यु का कौनसा ऐसा कार्य है जो मेरे द्वारा सिद्ध होगा ? जिसके लिये मुझे पिता जी ने यह आदेश किया है । ऐसा कठोर दण्ड तो उसे दिया जाता है जो बहुत ही दुष्ट हो, ताकि अन्य लोग उसके दोषों से होने वाली हानि से बच जायें । मैं ऐसा दुष्ट तो हूँ नहीं कि जिसकी मृत्यु से दूसरों का उपकार हो । फिर मृत्यु का ऐसा कौन सा कार्य्य है जो आज मेरे मरने से सिद्ध होगा । इससे वह सोच में पड़ गया, और पिता को क्रोध में देख कर बोला—॥५॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥

पदार्थ—(अनुपश्य) मन में विचार कर देखो (यथा) जैसा चलते थे (पूर्व) पूर्वज (प्रतिपश्य) विचार कर देखो (तथा) वैसे ही (परे) बाद में आने वाले [अर्थात् अतीत और वर्त्तमान के ज्ञानियों को देखो, वे जैसा कुछ कहते हैं, वैसा कर दिखाते हैं, आप अपनी इस प्रतिज्ञा को, कि मुझे मृत्यु के प्रति दोगे, पूर्ण करो।] (सस्यम+इव) खेती की भाँति (मर्त्यः) मरणशील प्राणी (पच्यते) पकता है, अर्थात् मरने वाला शरीर खेती की भाँति पक कर नष्ट हो जाता है (सस्यम+इव) खेती की तरह ही (आजायते) आजाता है, उत्पन्न होता है (पुनः) फिर, दूसरी बार।

भावार्थ—पिता को क्रोध की दशा में देखकर नचिकेता के मन में विचार आया कि पिता क्रोध के आवेश में आकर मुझे मृत्यु के प्रति देने की बात तो कह बैठे हैं, किन्तु अब उससे सकुचाते हैं। यह सोचकर नचिकेता ने अपने पिता से कहा—हे पिताजी ! आप अपने पिता पितामह आदि पूर्वजों की ओर देखिये। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को कभी नहीं तोड़ा। स्वधर्मस्थ वर्त्तमान विद्वानों का ध्यान कीजिये, वे भी प्रतिज्ञा भङ्ग नहीं करते। वे जो कह देते हैं, उसे पूरा करते हैं। अतः आप किसी चिन्ता के बिना मुझे मृत्यु के प्रति दे दो। अपने बचन का पूरा न करना आपके लिये योग्य नहीं है। जिस प्रकार खेती जब पैदा होती है, हरी भरी दीखती है, समय पाकर वह सूख जाती है, नष्ट होकर पुनः उत्पन्न हो जाती है, इस प्रकार शरीर है। इसमें उत्पत्ति और नाश दोनों लगे रहते हैं। कोई उत्पन्न पदार्थ नाश से रहित नहीं है। अतः मेरी मौत की चिन्ता न करो। यह शरीर अनित्य है, सदा रहने वाला नहीं है। धनादि भी स्थायी नहीं, ये भी विनाशी हैं। एक दिन मृत्यु अवश्य आयेगी अतः

धर्मसंग्रह का यत्न करो। अपने वचन का पालन न करना उचित नहीं है, तुम मुझे मृत्यु के प्रति दे दो।

नचिकेता की इस दृढ़ता से पुराने काल के ब्रह्मचारियों की अवस्था का परिचय मिलता है ॥६॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥

पदार्थ—(वैश्वानरः) अग्नि की भाँति देदीप्यमान तेजस्वी ब्रह्मचारी (प्रविशत) प्रविष्ट हुआ है (अतिथिः) नेक सदाचारी महात्मा, जिसके आने की कोई तिथि नियत न हो, ऐसा (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (गृहान्) घरों में, (तस्य) उसकी (एताम्) ऐसी (शान्तिम्) शान्ति, निश्चिन्तता (कुर्वन्ति) करते हैं। (हर) ले जाओ (वैवस्वत) हे विवस्वान् के पुत्र (उदकम्) जल आदि।

भावार्थ—नचिकेता के पूर्वोक्त शब्दों को सुनकर उसके पिता ने उसे मृत्यु नामक आचार्य्य के पास भेज दिया। ब्रह्मचर्य के ठीक विधि से पालन करने के कारण अग्नि समान तेजस्वी और ब्रह्मवर्चस्वी ब्रह्मचारी नचिकेता जिस समय मृत्यु नामक आचार्य्य के घर में प्रविष्ट हुआ। [यमाचार्य्य (मृत्यु) के घर में नचिकेता के पहुँचने की कोई तिथि नियत न थी अतः उसे अतिथि कहा गया है] उस अतिथि को घर में घुसते देख आचार्य्य मृत्यु के परिवार परिजन के लोगों ने जल आदि के द्वारा नचिकेता की शान्ति करनी चाही, किन्तु नचिकेता, इस विचार से कि पिता ने मृत्यु के पास भेजा है और मृत्यु यहाँ पर नहीं है, मृत्यु से मिले बिना अन्य कार्य्य करने से पिता की आज्ञा पूरी नहीं होगी, तीन दिन रात जब तक कि आचार्य्य घर लौट-कर नहीं आये, खानपान के बिना उसके घर पर रहा। सबके

कहने पर भी पिताजी की आज्ञा के विरुद्ध करना उचित नहीं समझा ।

प्रश्न–बहुत लोग यहाँ मृत्यु से अभिप्राय मौत ही लेते हैं ।

उत्तर–यहाँ मृत्यु को वैवस्वत=विवस्वान् का पुत्र कहा है, अर्थात् उसके पिता का नाम विवस्वान् था, वह मौत का निशान क्योंकर हो सकता है ? मृत्यु कोई द्रव्य नहीं है, वरन् शरीर और आत्मा के वियोग का नाम मृत्यु है । इस उपनिषत् में वर्णित इतिहास से स्पष्ट सिद्ध होता है कि मृत्यु नामक कोई आचार्य्य था । मौत का कौनसा घर है जहाँ नचिकेता गया ? उसकी स्त्री आदि कौन थे ? अतः मृत्यु से अभिप्राय मृत्यु नामक आचार्य से है ।।७।।

आशाप्रतीक्षे संगत ँ सूनृताञ्चेष्टापूर्त्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान् । एतद्वृङ्क्ते पुरुष्यात्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ।।८।।

पदार्थ—(आशाप्रतीक्षे) जो वस्तु लाभदायक हो, उसकी कामना करने का नाम आशा है, जिस वस्तु का पूरा पूरा तत्त्व ज्ञात न हो, उसकी प्राप्ति की कामना का नाम प्रतीक्षा है । इन दोनों को (सङ्गतम्) सत्सङ्ग से प्राप्त होने वाले फल को (सूनृताम्) दया से प्रीतिपूर्वक जो कहा जाये उसको (इष्टापूर्त्ते) इष्ट=यज्ञादि कर्म्मों के फल को और आपूर्त्त=बावली, कुंआँ, तालाव, अनाथरक्षा, बाग लगवाना आदि धर्म्म कार्य्यों के फल को (पुत्रपशून) पुत्रों, शिष्यों, गौ भैंस, बैल आदि पशुओं को (च) और (सर्वान्) सबको (एतत् । इस सब के फल को (वृङ्क्ते) नाश कर देता है, दूर भगाता है (पुरुषस्य) पुरुष का, मनुष्य का (अल्पमेधसः) अल्पबुद्धि वाले

(यस्य) जिस (अनश्नन्) भोजन बिना (वसति) वास करता है (ब्राह्मणः) ब्रह्मनिष्ठ, वेदवेत्ता (गृहे) घर में ।

भावार्थ—लाभप्रद पदार्थों की कामना से जो प्रार्थना की है, अज्ञात पदार्थों की जो प्रतीक्षा की है, सत्सङ्ग से जो फल प्राप्त किया है, जितने अग्निहोत्र आदि यज्ञ किये हैं, जितनी बावली लगवाईं, कुँएं खुदवाये, तालाब बनवाये, और जो शुभ कार्य्य किये हैं, सन्तान और पशु आदि जितने घर में हैं, ये सब पदार्थ उस पुरुष के नष्ट हो जाते हैं, जिस मन्दमति के घर पर आया हुआ वेदवेत्ता अतिथि भोजन पान के बिना वापस जाये, अर्थात् जिसके घर में खाये पिये बिना रात बिताये, उसे महापाप होता है। जिस प्रकार की अतिथि सेवा का वेदादि सत्य शास्त्रों ने विधान किया है, यदि लोग उसके अनुसार व्यवहार करें, तो संसार से सब दोष दूर हो जायें, और कोई भी अज्ञान से लिप्त न रहे ।

प्रश्न—ब्राह्मण के भूखा प्यासा रहने से इतनी हानि का कारण क्या है ?

उत्तर—ब्राह्मणों का जीवन विद्या प्रचार और परोपकार के लिये है। जब तक विद्वानों और परोपकारियों का सत्कार होता रहता है, तब तक वे जीवन सामग्री के संग्रह करने से निश्चिन्त होकर परोपकार, उपदेश, विद्यादान के कार्य्य में लगे रहते हैं। ज्योंही उनके मान में न्यूनता हुई कि त्योंही उपदेश के कार्य्य में विघ्न पड़ा। उपदेश का कार्य्य बिगड़ने से सारे दोष फैलते हैं। संसार को सच्चरित्र बनाये रखने वाले ब्राह्मण होते हैं।

प्रश्न—आजकल तो ब्राह्मण कहलाने वाले अनेक कुकर्म करते हैं ?

उत्तर—ब्राह्मण आदि गुण कर्म्म स्वभाव से होते हैं, जिनमें ब्राह्मणों के गुण कर्म्म स्वभाव नहीं, वे ब्राह्मण कहलाने के अधिकारी नहीं।

प्रश्न--कई लोग ब्राह्मण की संतान को ब्राह्मण कहते हैं।

उत्तर—ब्रह्मचर्य्याश्रम के अन्दर यदि किसी ब्रह्मचारी को ब्राह्मण कहा जाये, तो वैसा माता पिता के कारण से समझना चाहिये। अन्य आश्रमों में तो गुण कर्म्म से ही होगा।

तिस्रो ह रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ९ ॥

पदार्थ—(तिस्रः) तीन (रात्रीः) रात्रियां (यत्) जो (अवात्सीः) तूने वास किया है (गृहे) घर में (मे) मेरे (अनश्नन्) खाये पिये बिना (ब्रह्मन्) हे ब्राह्मण ! (अतिथिः) पूजने योग्य अनियत तिथि वाला (नमस्य) नमस्कार, सत्कार करने योग्य है (ते+नमः+अस्तु) तुझे नमस्कार हो (ब्रह्मन्) हे ब्राह्मण गुणों से युक्त ! (मे+स्वस्ति+अस्तु) मेरा कल्याण हो (तस्मात्+प्रति) उसके बदले (त्रीन्) तीन (वरान्) वरों को (वृणीष्व) वरण कर, मांग ले ॥

भावार्थ—जब यमाचार्य्य ने घर पर एक ब्राह्मण का तीन दिन तक भूखा प्यासा रहने का वृतान्त सुना। तब उसने उससे कहा—हे ब्राह्मण ! तू तीन दिन तक खाने पीने के बिना मेरे घर में रहा है, और अतिथि का भूखा रहना गृहस्थ के लिये पाप है। इस वास्ते हे पूजनीय ! मैं आपका आदर करता हूँ, आपको नमस्ते करता हूँ। मुझे इस पाप से बचाने के लिये तीन वर माँगो जिससे मेरा कल्याण हो। अज्ञात पाप का प्रायश्चित होता

है। मेरे अनुपस्थित रहने से तुम्हें कष्ट हुआ है, उसका मुझे जो पाप लगा, प्रायश्चित के बिना मेरा कल्याण नहीं होगा, अतः तुम मुझ से तीन वर मांगो, जिससे तुम्हारे चित्त को जो क्लेश हुआ है, वह नष्ट हो जाये, और मेरा पाप दूर हो। जब तक तुम प्रसन्न होकर मेरा अपराध क्षमा नहीं करते, तब तक गृहस्थ-धर्मानुसार मेरा कल्याण होना कठिन है। एक-एक रात के कष्ट के बदले एक एक वार मांगो। मृत्यु के इस वचन को सुनकर नचिकेता उससे तीन वार मांगने पर उद्यत हुआ ॥६॥

उसने पहला वार यह मांगा—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद् वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

पदार्थ—(शान्तसंकल्पः) जिसके मन की गति रुक गई है, जो मन की तरङ्गों से पृथक् हो गया हो ऐसा (सुमनाः) प्रसन्न मन वाला (यथा) जिस भांति (स्यात्) होवे (वीतमन्युः) हट गया जिसका क्रोध वह, क्रोधरहित (गौतमः) गौतम गोत्र में उत्पन्न मेरा पिता (मा+अभि) मुझको संबोधन कर (वदेत्) बोले (प्रतीतः) प्रसन्न होकर (एतत्) यह (त्रयाणाम्) तीन वरों में से (प्रथमं) पहला (वरम्) वर (वृणे) मांगता हूँ।

भावार्थ—नचिकेता ने यमाचार्य्य से कहा—हे गुरो ! गोतमगोत्रोत्पन्न मेरा पिता मानस विकारों से रहित हो जाये, उसके भीतर जो चिन्तायें हैं, सब दूर हो जायें। और बाहर से भी प्रसन्न प्रतीत हो। जब तुम्हारे भेजने से मैं जाऊँ, तो मुझसे कुशलक्षेम के समाचार पूछे, क्रोध के कारण चुप न रहे। मुझ को देख कर कि यह वही नचिकेता है, जिसे मृत्यु के पास भेजा था, संबो-

धन करके बुलाए। तीनों में यह सबसे पहला वर मुझे चाहिये।

नचिकेता के मन में आरम्भ से पिता की मङ्गलकामना थी, इस वास्ते वरों में भी पहला वर वही मांगा, जिससे उसका पिता क्रोध से बच जाये, जिस क्रोध के आवेश में आकर पिता ने पुत्र को मृत्यु के प्रति देने का प्रण किया था, साथ ही पिता की शान्ति भी चाही, जिस शान्ति की प्राप्ति के लिये पिता ने इतना पुरुषार्थ किया था कि सब कुछ दान दे डाला था, और यह चाहा कि वह मुझ से रुष्ट न हो।

भारत के पुत्रों की पितृभक्ति अनुपम है। भारत में ऐसा अयोग्य पुत्र विरला ही मिलेगा, जो पिता को दुःख देना चाहता हो या जिसके चित्त में उसको सुख देने का विचार न हो ॥१०॥

नचिकेता के इस वर मांगने पर मृत्यु आचार्य्य कहते हैं—

यथापुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः। सुखं ँ रात्रीः शयितावीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्यु मुखात् प्रमुक्तम् ॥११॥

पदार्थ—(यथा पुरस्तात्) पहले की भांति (भविता) हो जायेगा (प्रतीतः) प्रसन्न [यह जानकर कि यह वही नचिकेता है] (औदद्दालिकः) उददालक की सन्तान (आरुणिः) अरुण पुत्र तेरा पिता (मत्प्रसृष्टः) मुझसे सूचना पाकर (सुखम्) सुखपूर्वक, इच्छानुसार (रात्रीः) रात्री को (शयिता) सोयेगा (वीतमन्युः) क्रोधरहित होकर (त्वाम्) तुझ अपने पुत्र को (ददृशिवान्) देखता हुआ (मृत्यु मुखात्) मृत्यु के मुख से (प्रमुक्तम्) छूटा हुआ।

भावार्थ—नचिकेता को मृत्यु आचार्य ने वर दिया कि जिस भांति तेरा पिता पहले प्रसन्न था, ऐसे ही अब भी तुझको पहचान कर कि यह वही नचिकेता है, प्रसन्न होगा और रात को पहले

की तरह सुख से सोएगा। उसका सब क्रोध दूर हो जायेगा और यह देखकर कि तू मृत्यु के मुख से छूटकर फिर आगया है, उसका सब दुःख नष्ट हो जायेगा। जितनी बातें नचिकेता ने माँगी थीं, उतनी यमाचार्य्य ने स्वीकार कर पूरी कर दीं ॥११॥

नचिकेता ने दूसरा वर यह मांगा—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्ग लोके ॥१२॥

पदार्थ—(स्वर्गे) सब से उत्तम सुख जहां मिले उसे स्वर्ग कहते हैं, उस स्वर्ग (लोके) यज्ञादि कर्म्मों के फल से देखने योग्य जन्म या स्थान में (न) नहीं (भयम्) भय (किंचन) किसी प्रकार का (अस्ति) है (न) न (तत्र) वहां (त्वम्) तू=मौत (न) नहीं (जरया) बुढ़ापे के कारण (बिभेति) जीव डरता है। (उभे) दोनों (तीर्त्वा) तर कर (अशनायापिपासे) भूख प्यास को (शोकातिगः) शोकरहित होकर (मोदते) आनन्द भोगता है (स्वर्गलोके) स्वर्गलोक में।

भावार्थ—स्वर्ग लोक में किसी प्रकार का भय नहीं है, क्योंकि न तो वहां मृत्यु है और न बुढ़ापा। जहां सुख तो है, किन्तु दुःख का कोई सामान नहीं। भय का प्रधान कारण मृत्यु है, यदि मृत्यु न हो तो भय किस बात का? बुढ़ापे को देख कर भी भय होने लगता है, जहां दुर्बलता का चिह्न नहीं, बुढ़ापे का निशान नहीं, वहां डर काहे का? बुढ़ापा देखकर विचार होता है, मैं भी बूढ़ा होकर मृत्यु का ग्रास बनूंगा, जहां मृत्यु का निशान ही न हो, वहां यह विचार भी क्यों कर हो सकता है? भूख प्यास से दुःख होता है, दुःख से भय होता है, किन्तु स्वर्ग

में न भूख है न प्यास; न शीत है, न उष्ण; न शोक है न चिन्ता; मान है, न अपमान; सारांश यह कि वहां किसी प्रकार के दु:ख का सामान नहीं है कि जिससे भय हो। इस कारण शोक, मोह, चिन्ता से रहित, आनन्द प्रसन्नता में विभोर लोग स्वर्ग में रहते हैं। विद्वानों से सुना है स्वर्ग का सुख मुक्ति से न्यून है। अत: आप बताइये कि स्वर्ग और मुक्ति का तत्त्व क्या है? यदि स्वर्ग में कोई दु:ख नहीं, प्रत्येक प्रकार का सुख विद्यमान है, तो मुक्ति में स्वर्ग से क्या विशेषता है? क्या विलक्षणता है जिससे शास्त्रकार मुक्ति को सब सुखों से श्रेष्ठ बतलाते हैं। आप इस रहस्य को जानते हैं इस वास्ते जो तत्व हो मुझे बतलाइये ॥१२॥

स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तँ श्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥

पदार्थ—(सः) वह (त्वम्) तू (अग्निम्) अग्नि को (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग प्राप्त कराने वाले (अध्येषि) जानता है (मृत्यो) हे मृत्यो! (प्रब्रूहि) भलीभाँति बतला (तम्) उस अग्नि को (श्रद्दधानाय) श्रद्धा करने वाले (मह्यम्) मेरे प्रति। (स्वर्गलोकः) जिन यज्ञ करने वालों को स्वर्गलोक प्राप्त हुआ है वे या स्वर्ग में रहने वाले (अमृतत्वम्) मृत्यु से रहित अवस्था, [जो लोग शरीर के अभिमान से रहित हैं, मानो वे कभी मरते नहीं, क्योंकि मृत्यु शरीर और आत्मा का वियोग है, उन्होंने ज्ञान द्वारा शरीर और जीव को पहले ही भिन्न भिन्न जाना हुआ है] (भजन्ते) सेवन करते हैं (एतत्) यह (द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर के द्वारा (वृणे) मांगता हूँ।

भावार्थ—नचिकेता ने फिर कहा—हे आचार्य्य! जिन

अग्निहोत्रादि यज्ञों से स्वर्ग मिलता है, उन्हें आप जानते हैं [यज्ञों में प्रधान अग्नि है, इस वास्ते यहां अग्निहोत्रादि न कह कर 'अग्नि' के जानने की इच्छा की है] मैं श्रद्धापूर्वक आप से पूछता हूँ, कृपा करके आप मुझ श्रद्धालु को वह बतलाइये। कर्मफल के बल से जो स्वर्गलोक में जाते हैं, उनको बहुत काल तक सुखमय जीवन मिलता है, वे सब प्रकार का आनन्द भोगते हैं। [यहां स्वर्गीय जीवन को अमृत कहा है, थोड़े जीवन की अपेक्षा दीर्घ जीवन को अमृत कहते हैं। जैसे चिरस्थायी पदार्थ को लक्षण से नित्य कह देते हैं यद्यपि कोई दृश्यमान पदार्थ नित्य नहीं है।] इस दूसरे वर के द्वारा मैं स्वर्गकारक अग्निहोत्रादि के प्रधान साधन अग्नि को जानना चाहता हूँ।

पहले वर से नचिकेता ने पिता के सुख की कामना की जो धर्म्म का सबसे मुख्य अङ्ग है, देव कार्य्यों में माता-पिता तथा आचार्य को देव माना गया है। दूसरे वर में स्वर्ग के साधन अग्निहोत्रादि के जानने की इच्छा की। इस क्रमपूर्वक प्रश्न करने से नचिकेता की बुद्धि का पता लगता है कि वह कितना उत्तम ब्रह्मचारी था। ज्ञान का प्रमाण, क्रम को ठीक बनाये रखना है। यह सुनकर मनुष्य तो क्या पशु भी कार्य्य कर लेते हैं ॥१३॥

नचिकेता के इस प्रश्न का उत्तर यमाचार्य देते हैं—

प्रते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्। अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥१४॥

पदार्थ—(प्र) अच्छी तरह (ते) तुझे (ब्रवीमि) बताता हूँ (तत्) उस (उ) ठीक ठीक (मे) मेरे वचन को (निबोध) समझ। (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग का साधन (अग्निम्) अग्नि को (नचि-

केतः) हे नचिकेतः (प्रजानन्) अच्छी तरह समझता हुआ । (अनन्तलोकाप्तिम्) दीर्घ जीवन प्राप्त करने का साधन । यहां अनन्त शब्द 'बहुत बड़े' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है] (अथो) और (प्रतिष्ठाम्) समस्त संसार की स्थिति का साधन अग्नि [सूर्य्य के कारण पृथ्वी, तारों, नक्षत्रादिकों की स्थिति है, जठराग्नि के कारण शरीर की स्थिति है] (विद्धि) जान (त्वम्) तू (एतत्) इसको (निहितम्) पड़ा हुआ (गुहायाम्) बुद्धिरूपी गुफा में ।

भावार्थ—यमाचार्य्य कहते हैं—हे नचिकेता ! स्वर्ग के साधन अग्नि के सम्बन्ध में जो कुछ मैं जानता हूँ तुझे बताता हूँ । यह अग्नि अनन्त अर्थात् चिरस्थायी जीवन का हेतु है । जीवन प्राणों का नाम है, प्राण अग्नि के सहारे काम करते हैं । समस्त संसार की स्थिति का साधन भी यह अग्नि है । इस सौर ब्रह्माण्ड के समस्त लोग जिस केन्द्र के चारों ओर घूम रहे हैं, वह सूर्य है । सूर्य न हो, तो यह समस्त सौर मण्डल नष्टभ्रष्ट हो जाय । और सूर्य अग्नि का एक अति महान् पिण्ड है । नचिकेता ! तू मेरे इस कथन को स्थिर मति और सावधान मन से सुन । सूक्ष्म और कठिन विषय को चंचल चित्त ग्रहण नहीं कर सकता ।

प्रश्न—आचार्य्य ने जो यह कहा, कि मैं उस स्वर्ग्य अग्नि को जानता हूँ, तुझे बताता हूँ, तू उसको सुन, बुद्धि को स्थिर करके समझ । इससे प्रतीत होता है कि आचार्य्य को अभिमान था, अन्यथा वह ऐसा न कहता ।

उत्तर—आचार्य्य को अभिमान नहीं था, वरन् इस विद्या में शिष्य की श्रद्धा स्थिर करने के लिये उसने ऐसा कहा ॥१४॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा

यथा वा। स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥१५॥

पदार्थ—(लोकादिम्) लोक=प्रकाश का प्रथम कारण भूत (अग्निम्) अग्नि को (तम्) उस (उवाच) युक्तियों और दृष्टान्तों से समझाया (तस्मै) उस नचिकेता के प्रति (या) जो (इष्टकाः) ईंटें, [जिनको चिनकर अग्निहोत्रादि के लिये वेदी या कुण्ड बनाया जाता है] (यावतीः) जितनी (वा) या (यथा) जिस प्रकार की (वा) अथवा। (सः) उस नचिकेता ने (च) और (अपि) भी (प्रत्यवदत्) दोहरा दिया। (यथोक्तम्) कहे अनुसार [अर्थात् जिस प्रकार आचार्य्यमृत्यु ने बतलाया, जो शब्द जिस अवसर पर और प्रकरण में कहे, वैसा सुना दिया] (अथ) इसके वाद (अस्य) इस नचिकेता को (मृत्युः) यमाचार्य्य ने (पुनः) फिर (आह) कहा (तुष्टः) प्रसन्न होकर।

भावार्थ—लोक का कारण अग्नि है। लोक=प्रकाश समस्त वस्तुओं के रूप दिखाता है। प्रकाश=अग्नि के बिना कोई पदार्थ लोक नहीं हो सकता। पृथिवी लोक है। कब से ? जब से तेज द्वारा रूप इसमें प्रविष्ट हुआ। यदि पृथिवी में अग्नि न हो, तो पृथिवी कभी दिखाई ही न दे। सूर्य्य, चन्द्र, तारे आदि जितने पदार्थ संसार में दिखाई देते हैं उन सब में अग्नि है। अतः लोक का कारण अग्नि है। यमाचार्य्य ने अग्नि के भेद और कार्य्य सब बतला दिये और जितनी ईंटों का जितना बड़ा जिस यज्ञ के लिये कुण्ड बनाना चाहिये और यज्ञ की विधि—यह सब भी समझा दिया। इस बात के सिद्ध करने के लिये कि नचिकेता इस विद्या को ग्रहण करने के योग्य है, और कि जो कुछ यमाचार्य ने कहा है, उसे उसने ठीक ठीक समझ लिया है,

नचिकेता ने आचार्य के कथन को शब्दशः दोहरा दिया। इससे यमाचार्य्य को नचिकेता के पूर्ण अधिकारी होने का दृढ़ विश्वास हो गया और उन्होंने प्रसन्न होकर फिर कहना आरम्भ किया।

पाठकवृन्द ! इस लेख से ज्ञात होता है कि ब्रह्मविद्या के अधिकारी ऐसे मनुष्य होने चाहिये जिनकी बुद्धि इतनी स्वच्छ हो कि उनको कैसा ही कठिन विषय बताया जाये, वे एक ही वार सुनने से उसे ग्रहण कर सकें। नचिकेता ने इस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर यमाचार्य्य को सन्तुष्ट कर लिया। नचिकेता की बुद्धिमत्ता, धैर्य्यं, दृढ़ता तथा बुद्धि की सूक्ष्मता बता रही है कि गुण कर्म्म स्वभाव से ब्राह्मण कैसा होना चाहिये ॥१५॥

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरन्तवेहाद्य ददामि भूयः। तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥

पदार्थ—(तम्) उस नचिकेता को (अब्रवीत) बोला (प्रीयमाणः) उसकी बुद्धि और योग्यता से प्रसन्न होता हुआ (महात्मा) जिसका आत्मा अतीव उच्च विचारों वाला है ऐसा यमाचार्य्य। (वरम्) वर (तव) तुझे (इह) इसमें (अद्य) आज (ददामि) देता हूँ (भूयः) और भी, (तव) तेरे (एव) ही (नाम्ना) नाम से (भविता) होगा, प्रसिद्ध होगा (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि, अग्निविद्या (सृङ्काम्) माला को [जो मान का निशान है, जिस का सभा में मान करते हैं, उसके गले में माला डाल देते हैं] (च) और (इमाम्) इस (अनेक रूपाम्) अनेक रूपों वाली [अनेक रंगों के कारण जो सुन्दर प्रतीत हो रही है] (गृहाण) ले।

भावार्थ—नचिकेता की बुद्धि को देखकर यमाचार्य्य बहुत प्रसन्न हुए। वे महात्मा प्रेम से नचिकेता को कहने लगे—नचिकेता ! आज मैं तुम से बहुत प्रसन्न हूँ और तुझे और भी वर देता हूँ, यह अग्निविद्या तेरे नाम से प्रसिद्ध होगी। अर्थात् आज से लोग इस विद्या को नचिकेता अग्निविद्या नाम से पुकारेंगे। सफलता का चिन्ह यह माला, जिसमें अनेक रंगों के मनके हैं, जो तुझे सुख देगी, ग्रहण कर।

प्रश्न—महात्मा किस को कहते हैं ? जीवात्मा परिच्छिन्न है, परिच्छिन्न के लिये महान् शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता।

उत्तर—निस्सन्देह जीवात्मा परिच्छिन्न है। किन्तु महात्मा शब्द का प्रयोग बुद्धि के व्यवहार पर निर्भर करता है। जिसकी बुद्धि प्राकृतिक वस्तुओं के साथ संबन्ध रखती है, उसका ज्ञान, अपना तथा पराया दो प्रकार का होने से, परिमित होता है। जिसकी बुद्धि परमात्मा की ओर लग जाती है उसका आत्मा समस्त संसार में परमात्मा के गुणों को देखने से सबको समदृष्टि से देखता है, उसका विचार महान् हो जाता है, अतः वह महात्मा है।

प्रश्न—जिन के विचार में अपना पराया हो, क्या वे महात्मा नहीं कहला सकते ?

उत्तर—गुण कर्म्म से तो नहीं कहला सकते। लेकिन किसी का नाम महात्मा हो सकता है, जैसे दरिद्र का नाम कहीं कहीं धनपति सुनने में आता है ॥ १६ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्म्मकृत्तरति जन्ममृत्यू। ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमा शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

पदार्थ—(त्रिणाचिकेतः) नचिकेत अग्नि का [जिसका अभी अभी यम ने नचिकेता को उपदेश किया है] को तीन बार अर्थात् ब्रह्मचर्य्याश्रम, गृहस्थाश्रम, और वानप्रस्थाश्रम में जिसने अनुष्ठान किया हो वह (त्रिभिः) माता पिता और आचार्य्य* इन तीन के साथ (एत्य) प्राप्त होकर (सन्धिम्) सत्संग को, मेल को (त्रिकर्म्मकृत्) तीन कर्म्म करने वाला अर्थात् धर्म्म के तीन स्कन्धों—यज्ञ, अध्ययन और दान को पालन करने वाला (तरति) तर जाता है (जन्ममृत्यू) जन्म मरण को (ब्रह्मजज्ञम्) वेदों को उत्पन्न करने वाले (देवम्) प्रकाश स्वरूप परमात्मा को (ईड्यम्) पूजने योग्य, स्तुति करने योग्य (विदित्वा) जानकर (निचाय्य) शास्त्र द्वारा निश्चय करके (इमाम्) इस (शान्तिम्) सर्वदुःखों से शून्य अवस्था को (अत्यन्तम्) अवश्य, बहुत ही (एति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—यम द्वारा नचिकेता को कही विधि के अनुसार, जिस मनुष्य ने तीन आश्रमों अर्थात् ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ तथा वान-प्रस्थ—में अग्निहोत्र किया है, जिसने माता पिता तथा आचार्य इन तीन शिक्षकों से शिक्षा ग्रहण की है, जिसने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थाश्रम में धर्म के तीन स्कन्धों—यज्ञ, अध्ययन और दान—को विधिवत् पालन किया हो, वह तर जाता है अर्थात् जन्म मरण के चक्कर से छूटकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जिसने परमात्मा को जो वेदों का रचयिता है, सबका प्रकाशक है, सब का स्तोतव्य है, जान लिया, वह इस शास्त्र के अनुसार आचरण करने से बहुत बड़ी शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

---

*यथा मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो ब्रूयात् (शतपथ ब्रा०) उत्तम माता, पिता और आचार्य्य से शिक्षा प्राप्त करके ही मनुष्य कुछ कर सकता है।

प्रश्न—नचिकेता को बतलाई तीन प्रकार की अग्नि कौन सी हैं ?

उत्तर—ब्रह्मचर्याश्रम में आहवनीय, गृहस्थाश्रम में गार्हपत्य, और वानप्रस्थाश्रम में दक्षिणाग्नि नामक तीन प्रकार की अग्नि होती है। प्रत्येक आश्रम में इसके अनुसार यज्ञ करना चाहिये॥ ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्। स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥

पदार्थ—(त्रिणाचिकेतः) नचिकेता को बतलाई विधि से तीन आश्रमों में तीन वार जिसने अग्नि की स्थापना की, माता, पिता और आचार्य इन तीन—से जिसने शिक्षा प्राप्त की, और तीन कर्म्म जिसने किये हों ऐसा (त्रयम्) तीन को (एतत्) उपर्युक्त (विदित्वा) जान कर (यः) जो (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानने वाला (चिनुते) चयन करता है, स्थापना करता है (नाचिकेतम्) नचिकेता के नाम पर प्रसिद्ध अग्नि को (सः) वह (मृत्युपाशान्) मौत के फंदों को (पुरतः) आत्मा और शरीर के वियोग से पूर्व (प्रणोद्य) हटाकर (शोकातिगः) शोक से हटकर (मोदते) आनन्द भोगता है । स्वर्गलोके) स्वर्गलोक में, दुःख से रहित जन्म या स्थान में ।

भावार्थ—जिसने तीन आश्रमों में अग्निहोत्र किया है, जिसने यज्ञ, अध्ययन और दान ये तीन कर्म किये हैं, जिसने माता पिता तथा आचार्य से सुशिक्षा प्राप्त करके परमात्मा को जान लिया है, और जो विद्वान् इस प्रकार तीन आश्रमों में अग्निहोत्रादि यज्ञों के लिये तीन अग्नियों को स्थापित करता है,

---

 इन तीन अग्नियों का स्वरूप आगे समझायेंगे।

वह अपने जीवनकाल में ही मृत्यु के बन्धनों से छूटकर, सब प्रकार के क्लेशों से रहित होकर स्वर्गलोक में सुख से जीवन व्यतीत करता है ॥१८॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण। एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

पदार्थ—(एषः) यह जिसकी ऊपर चर्चा हुई हैं (ते) तेरा पूछा (अग्निः) अग्नि (नचिकेतः) हे नचिकेता (स्वर्ग्य) स्वर्गसाधन (यम्) जिसको (अवृणीथाः) तूने मांगा था (द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर के द्वारा। (एतम्) इस (अग्निम्) अग्नि को (तव) तेरा (एव) ही (प्रवक्ष्यन्ति) कहेंगे (जनासः) लोग [विद्वान् लोग किसी वस्तु का जो नाम धरदें, साधारण जन उसी नाम से पुकारने लगते हैं] (तृतीयम्) तीसरा (वरम्) वर (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (वृणीष्व) मांग।

भावार्थ—यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता ! यह अग्नि-विद्या है जिसके विषय में स्वर्गसाधन समझकर तूने दूसरे वर के द्वारा पूछा था। यह अग्नि अब तेरे नाम से प्रसिद्ध होगी। जिसका जो नाम आरम्भ में रख दिया जाये, वही नाम उसका संसार में प्रसिद्ध हो जाता है। अब यह अग्नि नाचिकेताग्नि कहलाएगी। अब तीसरा वर मांग !

कई लोगों को यह शङ्का हो सकती है कि यमाचार्य के कहने मात्र से वह विद्या नाचिकेतविद्या के नाम से कैसे प्रसिद्ध हो सकती है ? इसका समाधान यह है, कि आचार्य्य जब किसी वस्तु का कोई नाम रख देते हैं तो लोग उसे उसी नाम से व्यवहार करने लग जाते हैं ॥ १९ ॥

अब नचिकेता यमाचार्य से तीसरा वर मांगता है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

पदार्थ—(य) जो (इयम्) यह (प्रेते) मरे हुए (चिकित्सा) शङ्का (मनुष्ये) मनुष्य के सम्बन्ध में (अस्ति) मृत्यु के पीछे भी रहता है (इति) ऐसा (एके) कई लोग कहते हैं (न) नहीं (अयम्) यह आत्मा (अस्ति) मृत्यु के पीछे रहता है (इति) ऐसा (च) और (एके) कई विद्वान् कहते हैं । (एतत्) इस रहस्य को (विद्याम्) जानूँ, मैं जानना चाहता हूँ (अनुशिष्टः) सिखाया जाकर (त्वया) तुझ से (अहम्) मैं। (वराणाम्) वरों में से (एषः) यह वर (तृतीयः) तीसरा है ।

भावार्थ—नचिकेता ने कहा—हे गुरु महाराज ! मृत्यु के पीछे जीवात्मा के सम्बन्ध में शङ्का है। कई लोग कहते हैं, मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा रहता है, अर्थात् जीव शरीर से पृथक् कोई पदार्थ है । दूसरे पक्ष वाले कहते हैं, कि मृत्यु के पीछे जीवात्मा नहीं रहता अर्थात् शरीर से भिन्न कोई जीवात्मा नहीं है । यह तत्त्व कि शरीर से भिन्न जीवात्मा है या नहीं आप मुझे सिखलाइये, आप की शिक्षा से निश्चित रूप से मैं जान सकूं । तीन वरों में मेरा यह तीसरा वर है ।

नचिकेता का यह प्रश्न कई प्रश्नों का समुदाय है—पुनर्जन्म है या नहीं ? जीवात्मा शरीर से भिन्न है तो मौत के बाद भी रहता है या शरीर का ही गुण है अर्थात् मृत्यु के साथ जीव का भी नाश हो जाता है ? शरीर और आत्मा का वियोग करने वाला परमात्मा है या नहीं ? ॥ २० ॥

ब्रह्मविद्या सम्बन्धी इस प्रश्न के सम्बन्ध में यमाचार्य कहते हैं—

देवैरत्रापि विचिकित्सितंपुरा नहि सुविज्ञेयमणु-रेष धर्मः । अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरो-त्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

पदार्थ—(देवैः) बड़ी बड़ी विद्याओं के प्रकाशक विद्वानों ने (अत्र) इस आत्मज्ञान=ब्रह्म विद्या के विषय में (अपि) भी (विचिकित्सितम्) सन्देह किया है [आत्मा है या नहीं है ? यदि है तो दीखता क्यों नहीं है ? यदि नहीं है तो वेदों और शास्त्रों में क्यों इसका प्रतिपादन है ? इस प्रकार के अनेक संशय किये हैं] (पुरा) पुराने समय में (न) नहीं (हि) सचमुच (सुविज्ञेयम्) सरलता से जानने योग्य, (अणुः) अत्यन्त सूक्ष्म, [जिसको सूक्ष्म बुद्धि से नहीं जान सकते] (एषः) यह (धर्मः) धर्म (अन्यम्) दूसरा (वरम्) वर (नचिकेतः) हे नचिकेतः ! (वृणीष्व) तू मांग । (मा) मुझ को (मा) मत (उपरोत्सीः) दबा [जैसे उत्तमर्ण अधमर्ण को दबाता है] (अति) बहुत (मा) मुझ पर (सृज) छोड़ दे (एनम्) इस वर को ।

भावार्थ—आत्मविद्या सम्बन्धी नचिकेता का प्रश्न सुन कर, अधिकारि-परीक्षा के लिये यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता ! पुराने समय में इस आत्मविद्या के सम्बन्ध में बड़े बड़े विद्वानों ने अनेक शङ्कायें की हैं। कोई कहता है आत्मा तथा परमात्मा हैं। दूसरा कहता है—इनके होने का क्या प्रमाण है ? क्योंकि जो पदार्थ होता है, उसकी सत्ता के लिये भी कोई प्रमाण होता है। आत्मा की सत्ता में प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो ही नहीं सकता। क्योंकि वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है, और प्रत्यक्ष के

बिना अनुमान आदि हो नहीं सकते। एक ओर जगत्कर्त्ता होने से परमात्मा की सत्ता का अनुमान किया जाता है। दूसरी ओर योगियों का मानस प्रत्यक्ष भी माना जाता है। सारांश यह कि इसके विषय में बहुत वादविवाद, तर्कवितर्क हुआ है। आत्मविद्या बहुत सूक्ष्म विषय है, यह आसानी से नहीं जाना जा सकता और न ही हर एक इसे जान सकता है, इसलिये, हे नचिकेता! इस वर को छोड़कर दूसरा वर माँगले। मुझको बहुत न दबा ॥२१॥

इस पर नचिकेता कहता है—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ। वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

पदार्थ—(देवैः) पण्डितों और ज्ञानियों ने (अत्र) इस ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में (अपि) भी (विचिकित्सितम्) विचार किया है, अर्थात् इस विषय को स्पष्ट करने का बहुत यत्न किया है (किल) सचमुच। (त्वम्) तू (च) भी (यत्) जिसको (न) नहीं (सुविज्ञेयम्) सरलता से जानने योग्य (आत्थ) कहता है। (वक्ता) बतलाने वाला (च) भी (अस्य) इसका (त्वादृग्) तेरे जैसा (अन्यः) दूसरा (न) नहीं (लभ्यः) मिल सकता (न) नहीं (अन्यः) दूसरा (वरः) वर (तुल्यः) बराबर, समान (एतस्य) इसके (कश्चित्) कोई।

भावार्थ—नचिकेता ने कहा-हे गुरुदेव! आप यह आदेश करते हैं कि इस विषय पर विद्वानों ने बहुत ऊहापोह किया है, और आपने भी विचार किया है। इससे प्रतीत होता है, कि यह अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि विद्वान् जन किसी व्यर्थ विषय पर

पर माथापच्ची नहीं करते। उन्हें ज्ञात होता है कि कौनसा विषय विचारने योग्य है और कौनसा नहीं। जिस जिस विषय की उन्होंने विवेचना की है वह विषय प्रत्येक के जानने योग्य भी नहीं यह आवश्यक नहीं कि हर एक मनुष्य की बुद्धि उसको ग्रहण कर सके। जब आप यह सब बातें कह रहे हैं, तो मुझे निश्चय होता है, कि इसका समझाने वाला आपसे अधिक योग्य मिलना कठिन है। जब आपसे अधिक इस ब्रह्मविद्या का जानने वाला मिल नहीं सकता और यह भी ज्ञात हो चुका है कि विद्या सबसे श्रेष्ठ है, तब इसके समान दूसरा कोई वर नहीं हो सकता। भला, इन बातों को जानकर इसके बदले दूसरा वर मैं किस तरह माँगूं ? या तो आप मुझे यह समझायें कि ब्रह्मविद्या कोई अच्छी विद्या नहीं है, ताकि मैं इसे जानने का यत्न छोड़ दूँ; या मुझे यह विश्वास हो जाये कि आप यह विद्या मुझे दे नहीं सकते। किन्तु इन दोनों बातों पर मेरा विश्वास होना असंभव है। संसार में, साधारण लोग पदार्थों के तीन भेद करते हैं एक वे पदार्थ जो प्राप्त करने योग्य हैं, जिनकी प्राप्ति की इच्छा होती है, जो किसी न्यूनता या त्रुटि को दूर करने के लिये आवश्यक माने जाते हैं[1] दूसरे वे पदार्थ, जो नाश करने योग्य होते हैं, जो त्रुटि या दोष उत्पन्न करते हैं, जिनसे द्वेष होता है[2] तीसरे वे पदार्थ जो हेय और उपादेय दोनों से भिन्न हैं, न जिनके प्राप्त करने की आवश्यकता है और न नाश करने की। जिनकी हमें कोई परवा नहीं होती, जिनसे हम उदासीन रहते हैं[3] ।

(१) इन्हें 'उपादेय' कहते हैं।

(२) इन्हें 'हेय' कहा जाता है।

(३) इनकी संज्ञा 'उपेक्ष्य' है।

प्रश्न—जिनसे दोष दूर होते हैं, या त्रुटि की पूर्ति होती है, ऐसे पदार्थ कौनसे हैं ?

उत्तर—जीवात्मा में अल्पज्ञता और आनन्द का अभाव है। सच्चिदानन्द परमात्मा की उपासना से यह त्रुटि और न्यूनता दूर हो जाती है। परमात्मा की उपासना के विना न तो यथार्थ ज्ञान हो सकता है। और न आनन्द ही प्राप्त हो सकता है।

प्रश्न—परमात्मा जब प्रत्येक जीव के अन्दर हर समय विद्यमान है तो उसकी उपासना हर समय हो रही हैं, फिर उसकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—देश काल की दृष्टि से परमात्मा की उपासना अभिमत नहीं है, वरन् ज्ञान की दृष्टि से। जो जीव परमात्मा को आनन्द और ज्ञान का भण्डार समझ कर उसका भरोसा करता है, वह ईश्वर का उपासक है। जो प्रकृति पर निर्भर करता है, वह प्रकृति का उपासक है।

प्रश्न—न्यूनता और दोष बढ़ाने वाले पदार्थ कौन से हैं, जिनसे द्वेष होता है ?

उत्तर—प्राकृतिक पदार्थ ज्ञान की न्यूनता अर्थात् अल्पज्ञतादोष को बढ़ाने वाले और आनन्दभाव को उत्पन्न करने वाले हैं। यदि मनुष्य प्रकृति का उपासक न हो तो उसके अन्दर शान्ति बनी रहती है, आनन्द भले ही न हो। प्रकृति की उपासना से अल्पज्ञता, अविद्या=मिथ्याज्ञान=उलटा ज्ञान होता है, और आनन्द नहीं मिलता, वरन् अशान्ति बढ़ जाती है। अतः प्रकृति की उपासना हेय है, इसको दूर करना अनिवार्य है।

प्रश्न—इस समय तो समस्त संसार कह रहा रहा है, कि

भौतिक विज्ञान Material science के द्वारा धनसंपत्ति प्राप्त किये विना सुख नहीं हो सकता। आप उससे विरुद्ध कह रहे हैं?

उत्तर—यदि इस समय की प्रकृत्युपासक जातियाँ शान्त और सुखी हैं, तो आप का कहना यथार्थ है। किन्तु यदि प्रकृति पूजक जातियाँ दुःख से अनुविद्ध हैं, तो आप के कथन के सर्वथा अशुद्ध होने में क्या सन्देह है? जहाँ तक पश्चिमी देशों के, जहाँ विज्ञान का दौरदौरा है, समाचार ज्ञात हैं, उनसे तो यही प्रतीत होता है कि वे अत्यन्त अशान्त हैं। कोई राजा भी दो चार मील अकेला नहीं घूम सकता। जहाँ के राजा अकेले न घूम सकें, उन्हें हर समय शत्रुओं का भय लगा रहता हो, वहाँ शान्ति के होने की बात कहनी सर्वथा अविद्या की बात है।

प्रश्न—अशान्ति तो भारतवर्ष में भी है।

उत्तर—भारतवर्ष में अशान्ति प्रकृति-उपासना की शिक्षा का परिणाम है। जब तक वैदिक शिक्षा की प्रधानता रही, तब तक यहाँ अशान्ति का नाम भी न था। जब से पश्चिमी शिक्षा का यहाँ प्रचार हुआ है, तब से यहाँ भी अशान्ति आगई है। अशान्ति के जितने साधन हैं, वे सब प्रकृत्युपासकों की संगति और शिक्षा से आये हैं।

प्रश्न—जो न हेय हैं और न उपादेय, ऐसे औदासीन्य वृत्ति पैदा करने वाले 'उपेक्ष्य' पदार्थ कौन से हैं?

उत्तर—जीवात्मा के लिये दूसरे जीव न उपादेय हैं न हेय हैं। उनसे उदासीन रहना ही अच्छा है।

प्रश्न—यदि पशु आदि प्राणी जीव न हों तो मनुष्यों का जीवित रहना ही कठिन हो जाये, आप उन्हें हेय, उपादेय दोनों से भिन्न बतला रहे हैं।

उत्तर—पशु आदि प्राणियों की आवश्यकता शरीर की

सहायता के लिये है न कि आत्मा की सहायता के लिये। ब्रह्म-विद्या में जीव के विषय में विचार होता है ॥२२॥

नचिकेता की और अधिक परीक्षा करने के भाव से यमाचार्य कहते हैं—

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्ति-हिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥

पदार्थ—(शतायुषः) सौ वर्ष आयु वाले (पुत्रपौत्रान्) बेटों पोतों को (वृणीष्व) मांग ले (बहून्) बहुत से (पशून्) पशुओं को (हस्तिहिरण्यम्) हाथियों और सोना को (अश्वान्) घोड़ों को (भूमेः) भूमि की (महदायतनम्) बहुत बड़ा भाग या ठिकाना (वृणीश्व) वर ले (स्वयं) स्वयं (च) भी (जीव) जी (शरद) वर्ष (यावत्) जितने (इच्छसि) तू चाहता है।

भावार्थ—यमाचार्य ने नचिकेता से कहा कि ब्रह्मविद्या के स्थान में तू यह मांग ले कि मेरे बेटे पोते सौ वर्ष की आयु वाले हों, और कि मेरे घर में गौ, बैल, भैंस, हाथी, घोड़ा आदि पशु बहुतायत से हों, जिनके सब अलङ्कार सोने के हों। जितनी भूमि तू चाहे माँगले। बड़े बड़े महल, दुर्ग, अट्टालिकायें और हर्म्य जितने चाहे माँग ले। अपने लिये सुखपूर्वक इच्छानुकूल दीर्घजीवन भी चाहे मांग ले। यमाचार्य के कथन से ऐसा भासता है कि वे नचिकेता को उन कामनाओं और प्रलोभनों का ज्ञान करा रहे हैं जो ब्रह्मविद्या के मार्ग में प्रतिबन्धक हैं। क्योंकि परीक्षा के समय प्रायः ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं जो परीक्षार्थी की सफलता में बाधक समझे जाते हैं। आत्मा के लिये,

जिन सांसारिक पदार्थों की आवश्यकता होती है, परमात्मा बिन मांगे, भोगानुसार स्वयं दे देता है। उनकी कामना करना अध्यात्ममार्ग में बड़ी रुकावट है। जिस तरह जिस मन में शीत की कामना है, उसी समय उसमें गरमी की इच्छा नहीं हो सकती, क्योंकि यह दोनों इच्छायें परस्पर विरोधी हैं, इसी प्रकार जिस चित्त में सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति की कामना है, उसमें परमात्म-प्राप्ति की, उस समय, भावना नहीं हो सकती, जिस चित्त में परमात्म-प्राप्ति की कामना है, उस समय उसमें सांसारिक धन की कामना नहीं हो सकती है। क्योंकि परस्पर विरोधी भावों का एक समय में एक पदार्थ में होना असम्भव है। यह तो सम्भव है कि धनिक भी हो और उसमें परमात्मा की प्राप्ति की कामना भी हो। किन्तु यह सर्वथा सम्भव नहीं है कि धन की कामना भी हो और परमात्मा की प्राप्ति की कामना भी हो। धनिकपन के साथ तो परमात्म-प्राप्ति की कामना का विरोध नहीं है, धनप्राप्ति की कामना और परमात्म-प्राप्ति की कामना अवश्य परस्पर विरुद्ध हैं। परमात्म-प्राप्ति की कामना वाले को भी पूर्व कर्मों के अनुसार धन-सम्पत्ति मिलती है। धन की कामना वाले को भी भोग से अधिक धन सम्पत्ति नहीं मिलती है। ईश्वर प्राप्ति की कामना वाले को न धन सम्पत्ति की प्राप्ति पर हर्ष होता है और न उसके विनाश पर शोक होता है। यही ईश्वर प्राप्ति के अभिलाषियों की पहचान है। राजा जनक और रामचन्द्र धन सम्पन्न राजा थे किन्तु उनके चित्त में धन की चाह न थी। अतः रामचन्द्र जी को जब यह कहा गया कि कल तुम्हें राज्य मिलेगा, तब वे प्रसन्न न हुए और जब यह कहा गया कि चौदह वर्ष के लिये वन को जाओ तब वे अप्रसन्न न हुए। क्योंकि वे इस तत्त्व को जानते थे, कि जो भोग में है,

अवश्य होकर रहेगा, फिर हर्ष और शोक किस बात का। राजा जनक के विषय में प्रसिद्ध है यदि उनके शरीर पर इतर (वास) लगा दिया तो भी उन्हें कोई हर्ष न होता था और न ही शरीर के जलने पर अप्रसन्नता होती थी।

प्रश्न—क्या कारण है कि शरीर जलने पर भी जनक को कष्ट नहीं होता था ? हम तो यह असम्भव समझते हैं।

उत्तर—मूर्खों के विचार से यह असम्भव है क्योंकि वे आत्मा और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध से अपरिचित हैं। और कई तो यहां तक अज्ञान में फसे हैं कि कर्मों में शरीर को आत्मा का सहकारी मानते हैं और फल भोगते समय इस शरीर का आत्मा के साथ होना आवश्यक समझते हैं और इसके सहारे पुनर्जन्म का अपलाप करते हैं। किन्तु जो लोग जानते हैं कि शरीर आत्मा के लिये किराये की गाड़ी है, जिसकी उसी समय तक आवश्यकता रहती है, जब तक लक्ष्य स्थान पर पहुँच न जाये। या जो यह समझते हैं कि शरीर एक कारागार है जो कर्मों के फल में मिला है। ऐसे लोग शरीर की बहुत परवाह नहीं करते, क्योंकि लक्ष्य पर पहुँचने पर किराये की गाड़ी छोड़नी पड़ती है या समय समाप्त होने पर जेलघर से निकलना ही पड़ता है। आत्मिक लक्ष्य तो यही है कि हम भौतिक बन्धनों से पृथक् होकर और शरीर के अहङ्कार का संहार करके परमात्मा की उपासना में लग जायें। परमात्मा के ज्ञान ध्यान में लग जाने की अवस्था में फिर शरीर की आवश्यकता ही क्या है कि उसके विनाश से भय हो ॥२३॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्त चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामनां त्वा

कामभाजं करोमि ॥२४॥

पदार्थ—(एतत्तुल्यम्) इसके बराबर (यदि) यदि (मन्यसे) तू मानता है (वरम्) वर को, तो (वृणीष्व) मांग ले (वित्तम्) धन को, सुखसंभोग-साधन को (चिरजीविकाम्) चिर जीवन को (च) और (महाभूमौ) भूमि के बहुत बड़े भाग पर (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (त्वम्) तू (एधि) शासक हो। (कामनाम्) कामनाओं का (त्वा) तुझे (कामभाजम्) इच्छापूर्वक प्राप्त करने वाला (करोमि) करता हूँ। अर्थात् प्रत्येक सांसारिक सुख तुझे देता हूँ।

भावार्थ—यमाचार्य ने कहा हे नचिकेता ! इसके समान सांसारिक सुख के साधन जो तू चाहे मांग ले। जितना धन तुझे चाहिये मैं दे सकता हूँ। तू नियत आय–मासिक या वार्षिक–जितनी तुझे चाहिये मांगले। यदि तू पृथिवी का महाराज्य चाहता है, तो वह भी तुझे मिल सकता है। हे नचिकेता ! जो, जो तेरी इच्छा हो, तू बतला दे, मैं तेरी ये समस्त इच्छायें पूरी कर दूंगा। ब्रह्म-विद्या के विचार को छोड़ कर सांसारिक सुख मांग ले। तेरी कोई ऐसी इच्छा न होगी जो परी न की जायेगी ॥ २४ ॥

इतने प्रलोभन एक युवक को लक्ष्य से पतित करने के लिये पर्याप्त हैं, किन्तु यमाचार्य नचिकेता को और भी प्रलोभन देता है—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमाः रामः सरथाः सतूर्याः नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरण मानुप्राक्षीः ॥२५॥

पदार्थ—(ये+ये) जो जो (कामाः) इच्छायें (दुर्लभाः) दुर्लभ हैं (मर्त्यलोके) मनुष्य लोक में (सर्वान्) उन सब (कामान्) कामनाओं को (छन्दतः) अपनी इच्छानुसार (प्रार्थयस्व) मांगले। (इमाः) ये (रामाः) रमण करने योग्य स्त्रियां (सरथाः) रथों समेत (सतूर्य्याः) गाने बजाने के समान के साथ। (नहि) सचमुच नहीं (ईदृशाः) ऐसी (लम्भनीयाः) प्राप्त हो सकतीं (मनुष्यैः) मनुष्यों को। (आभिः) इन (मत्प्रत्ताभिः) मेरी दी हुइयों से (परिचारयस्व) सेवा करा, सुख भोग। (मरणम्+अनु) मृत्यु के बाद का ज्ञान (म) मत (प्राक्षीः) पूछ।

भावार्थ—यमाचार्य कहते हैं हे नचिकेता! इस भूमण्डल पर जो पदार्थ अत्यन्त दुर्लभ हैं जिनके लिये मनुष्य लालायित रहते हैं, उन सब वस्तुओं को इच्छापूर्वक मांगले। यह मत विचारना कि मेरे पास कुछ नहीं है। ये स्त्रियां जो बहुत ही सुन्दर हैं और रथों पर सवार हैं जिनके साथ बाजे गाजे और गाने का दूसरा सामान भी है, जिनकी तुल्यता की मनुष्यों को स्त्रियाँ किसी भांति नहीं मिल सकतीं, समस्त मनुष्य जिनकी कामना करते हैं किंतु उन्हें वे प्राप्त नहीं होतीं, तू इन मेरी दी हुई पतिव्रता और सुन्दर स्त्रियों के साथ सांसारिक सुखों को भोग, किन्तु मृत्यु के बाद आत्मा की अवस्था के सम्बन्ध में मत प्रश्न कर ॥२५॥

नचिकेता, जिसको ब्रह्मचर्य के संस्कारों ने बलवान् बना दिया था, जिसके चित्त में इस प्रकार की कामनाओं का उत्पन्न होना लगभग असम्भव था, जो सांसारिक सुखों की तात्विकता को भलीभांति जानता था, जिसे ज्ञात था कि ये ही मोक्षमार्ग में प्रतिबन्धक हैं, उत्तर देता है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जर-

यन्तिः तेजः । अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥२६॥

पदार्थ—(श्वोभावाः) आज हैं और कल नहीं ऐसे उत्पत्ति-विनाश वाले अनित्य (मर्त्यस्य) मरणधर्म्मा मनुष्य के (यत्) जो (अन्तक) हे यमाचार्य्य ! (एतत्) ये सब विषय (सर्वेन्द्रियाणाम्) सब इन्द्रियों के (जरयन्ति) नाश कर देते हैं (तेजः) तेज को (अपि) और (सर्वम्) सब, अनन्त (जीवितम्) जीवन (अल्प) थोड़ा (एव) ही है । (तव) तेरे (एव) ही रहें (वाहाः) रथादि यान और स्त्रियां (तव) तेरे ही (नृत्यगीते) नाच गान ।

भावार्थ—यमाचार्य की बात सुन कर नचिकेता ने कहा कि—महाराज ! संसार के जितने विषय हैं, वे सब अनित्य हैं, स्थिर नहीं हैं । और मरणधर्मा मनुष्य की सब इन्द्रियों के तेज को परमात्मा के विधानानुसार, यह नष्ट करते रहते हैं । इस से सब इन्द्रियाँ क्षीण और दुर्बल हो जाती हैं । यदि आप कहें कि सम्पूर्ण जीवन तक यह सुख सुविधा भोगने को मिलती रहेगी, तो यह सारा जीवन भी तो अत्यन्त थोड़ा है । यदि इस जीवन को बढ़ा भी लिया जाये और बढ़ाया भी इतना जाये कि जब तक सृष्टि है तब तक यह जीवन बना रहे तो भी यह बहुत थोड़ा है क्योंकि मुक्तिकाल के बहत्तर हजारवां भाग से भी यह कम है* । अतः रथों पर आरूढ़ स्त्रियाँ आपकी ही रहें, मुझे उनकी आवश्यकता नहीं है । न ही गाने बजाने में मेरी रुचि है, उसे भी आप अपने पास रखें । मुझे तो ब्रह्मविद्या और मृत्यु के बाद

---

* चार अरब बीस करोड़ वर्ष सृष्टि का काल है, उतना काल प्रलय का है । यह एक दिन रात है । इस दिन रात से छत्तीस हजार गुणा काल मुक्ति का है, उसे एक कल्प भी कहते हैं ।

आत्मा की अवस्था के ज्ञान के अतिरिक्त और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है ।।२६।।

नचिकेता पुनः कहता है—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा । जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ।।२७।।

पदार्थ—(न) नहीं (वित्तेन) धन से (तर्पणीयः) तृप्त हो सकता (मनुष्यः) मनुष्य । (लप्स्यामहे) प्राप्त कर लेंगे (वित्तम्) धन को (अद्राक्ष्म) दर्शन कर लिया । (चेत्) यदि (त्वा) तेरा, अर्थात् मृत्यु का ज्ञान यदि प्राप्त कर लिया । (जीविष्यामः) हम जियेंगे तब तक (यावत्) जब तक (त्वम्+ईशिष्यसि) तेरी इच्छा होगी अर्थात् जितना जीवन भोगानुसार है उतना जियेंगे ही । (वरः) वर (तु) तो (वरणीयः) मांगना है (सः) वह (एव) ही ।

भावार्थ—नचिकेता ने कहा, महाराज ! कोई मनुष्य चाहे कितना ही धन क्यों न प्राप्त करले, उससे वह कभी तृप्त नहीं हो सकता, अर्थात् धनैषणा कभी समाप्त नहीं होती । जैसे भोजन से पेट भर जाता है, फिर भोजन की इच्छा, उस समय नहीं रहती, किन्तु धनप्राप्ति की दशा में ऐसा नहीं होता । वरन् जितना धन मिलता जाये, उतनी ही कामना और बढ़ती जाती है । सौ वाला हजार में सुख समझ कर सहस्र की कामना करता है । सहस्र वाला लाख की कामना करता है, लाख वाला करोड़ की, इस प्रकार आगे आगे कामना बढ़ती ही जाती है । धन क्योंकि मनुष्य की अनिवार्य्य आवश्यकता में से नहीं है, वरन् इसकी वासना हुआ करती है, अतः इसकी समाप्ति नहीं हो सकती । यदि मनुष्य धन प्राप्त भी कर लेता है, तो भी उसकी रक्षादि की चिन्ता के

कारण उसे यथेष्ठ सुख नही मिलता है। जितना धन भोग में है, वह मिल ही जायेगा। कर्म्मानुसार परमात्मा ने जितना जीवन निश्चित किया है, वह भी मिल जायेगा, तब तक मैं अवश्य जीवित रहूँगा। मुझे उससे अधिक जीवन की आकांक्षा नहीं है। अतः न तो आप मुझे धन दीजिये क्योंकि इससे धनैषणा बढ़कर व्याकुलता और दुःख होता है, सुख इससे नहीं हो सकता; न ही चिरजीवन दीजिये, जितना जीवन परमात्मा ने मेरे भोग के लिये नियत किया है, उतना पर्य्याप्त है। आप तो केवल मुझे वही वर अर्थात् मरने के बाद आत्मा की दशा और जीव और ब्रह्म को बोध कराने वाली ब्रह्मविद्या दीजिये ॥२७॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन्। अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानति दीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥

पदार्थ—(अजीर्यताम्) जिन में जीर्णता न हो, ऐसे (अमृताम्) मृत्यु और नाश से रहित, जिन में वृद्धि-ह्रास न हो, ऐसों की अवस्था को (उपेत्य) प्राप्त करके (जीर्यन्) जीर्ण होने वाला वृद्ध (मर्त्यः) मरणधर्म्मा मनुष्य (क्वधः स्थः) कुत्सित अधोगति को प्राप्त हुआ (प्रजानन्) सत्यासत्य का विवेक करने वाला (अभिध्यायन्) चिन्तन करता हुआ (वर्णरतिप्रमोदान्) सौन्दर्य्य और स्त्री-प्रेम से उत्पन्न होने वाले सुखों को (अतिदीर्घे) बहुत लम्बे (जीविते) जीवन पर (कः) कौन (रमेत) चित्त लगाये।

भावार्थ—नचिकेता ने कहा—महाराज! दुरवस्थाग्रस्त मनुष्य का वृद्धि-ह्रास से रहित अविनाशी, विकृत न होने वाले पदार्थों को प्राप्त करना, इस विनश्वर संसार में तुच्छ है, क्योंकि वह मोक्षसुख की अपेक्षा अत्यन्त हीन है। विवेकशील मनुष्य,

जिसने सांसारिक सुखों को विचारद्वारा दुःखरूप समझा है, जिसे यह ज्ञात है कि इनसे हानि के अतिरिक्त लाभ कुछ भी नहीं है, इन में कैसे फंस सकता है ? विषयवान् जीवन में थोड़ा सा समय भी रहना बुद्धिमान् को रुचिकर नहीं है, तो केवल विषय भोग के लिये अत्यन्त दीर्घ जीवन चाहना किस बुद्धिमान् को पसन्द आ सकता है।

प्रश्न—क्या विषय दुःखरूप है ? संसार के समस्त लोग तो इन में सुख मानते हैं।

उत्तर—जो लोग सुखदुःख के रहस्य से, तत्त्व से अनभिज्ञ हैं वे विषयों में सुख मानते हैं। जो लोग इनके तत्त्व को जानते हैं, वे इन में सुख मानने के स्थान में इन्हें सर्वथा दुःखरूप मानते हैं क्योंकि ये परमानन्द की प्राप्ति में बहुत बड़े विघ्न हैं।

प्रश्न—तुलसीदास जी जैसे भक्त ने भी कहा है कि इस संसार में कोई ऐसा मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ जिसे कामिनी और कनक की कामना न हो।

उत्तर—तुलसीदास जी ने यह नहीं कहा, कि ये सुखरूप हैं, वरन् वे समझाना चाहते हैं कि ये दो पदार्थ इतने प्रबल हैं कि बड़े-बड़े ज्ञानी भी इनसे धोखा खा बैठते हैं। अतः नचिकेता की परीक्षा के लिये यमाचार्य्य ने संसार के सब पदार्थ उसके समक्ष प्रस्तुत किये। नचिकेता बुद्धिमान् था, वह इन वस्तुओं के प्रलोभन में न फंसा, और अपने लक्ष्य से न गिरा॥२८॥

नचिकेता फिर कहता है—

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्। योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यन्तस्मान्नचिकेतो वृणीते। २९॥

पदार्थ—(यस्मिन्) जिस आत्मज्ञान के विषय में (इदम्) यह पूर्वोक्त (विचिकित्सन्ति) संशय करते हैं [कि वह है या नहीं, है तो कहाँ है और कैसे है ?] (मृत्यो) हे यमाचार्य्य ! (यत्) जो (साम्प्राये) मोक्षदशा सम्बन्धी [अर्थात् मोक्षावस्था में जीव के साथ क्या क्या रहता है] (महति) बड़ी में (ब्रूहि) बतला (नः) हमें, मुझे (तत्) वह । (यः) जो (अयम्) यह (गूढम्+अनुप्रविष्टः) गहराई में छिपा है (न) नहीं (अन्यम्) दूसरे को (तस्मात्) उससे भिन्न (नचिकेतः) नचिकेता (वृणीते) मांगता ।

भावार्थ—नचिकेता ने कहा—हे यमाचार्य ! परमात्मा है या नहीं ? है तो कहाँ है ? किस प्रमाण से जाना जाता है ? नहीं तो क्यों सारा संसार उसे मानता है ? यदि है तो कैसा है? संयोगजन्य है या अजन्य ? परिछिन्न है या अपरिछिन्न ? इच्छापूर्वक कर्त्ता है अथवा स्वभाव से कर्त्ता है ?' इत्यादि सन्देह जिस विद्या से नष्ट होते हैं उसका ज्ञान मुझे कराइये । इसके अतिरिक्त मुक्ति के सम्बन्ध में भी महान् सन्देह है । कोई कहता है मुक्ति होती है । कोई कहता है नहीं होती है । कोई कहता है मुक्ति नित्य है । कोई कहता है मुक्ति अनित्य है । कोई कहता है मुक्ति में सूक्ष्म शरीर रहता है, कोई कहता है नहीं रहता है । आप इन सबके समाधान मुझे दीजिये । यह वर बहुत गूढ़ है, बुद्धि बहुत कठिनता से इस में प्रवेश पा सकती है । आप ध्यान से ऐसा प्रबन्ध कीजिये कि मुझे कोई सन्देह न रह जाये । नचिकेता इससे अन्य कोई वर नहीं मांगता । यद्यपि यह प्रश्न अन्तिम लक्ष्य विषयक है, तथापि मेरा वर भी अन्तिम है । यदि इसके वदले कोई वर मांगलूं, तो इसका समाधान कैसे करूंगा । अतः नचिकेता दूसरा वर नहीं मांग सकता । कृपया इसका समाधान कीजिये ॥२९॥

कठोनिषत् की प्रथमा वल्ली समाप्त हुई ।

अथ द्वितीय वल्ली प्रारम्भः

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधुभवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥

पदार्थ—(अन्यत्) अन्य है (श्रेयः) मोक्ष प्राप्ति का साधन, कल्याणकारी कर्म (अन्यत्) भिन्न है (उत) और (एव) ही (प्रेयः) अति प्रिय प्रतीत होने वाला कर्म्म, धन दारादि सांसारिक सुखों का साधन। (ते+उभे) ये दोनों (नानार्थे) भिन्न-भिन्न प्रयोजनों वाले होते हुए (पुरुषम्) जीवात्मा को (सिनीतः) वासना के पाशों में बाँधते हैं। (तयोः) उनमें से (श्रेयः+आददानस्य) श्रेयोमार्ग को ग्रहण करने वाले अर्थात् मोक्ष साधन को ग्रहण करने वाले का (साधु) भला (भवति) होता है, अर्थात् मोक्ष मिल जाता है। (हीयते) छूट जाता है (अर्थात्) लक्ष्य से (यः) जो (उ) तो (प्रेयः) प्रेय को (वृणीते) ग्रहण करता है, स्वीकार करता है।

भावार्थ—संसार में दो प्रकार के कर्म्म हैं, एक वे जिनके करने में कोई कष्ट प्रतीत नहीं होता, वरन् अत्यन्त लुभावने प्रतीत होते हैं, किन्तु परिणाम अच्छा नहीं होता, इसको प्रेय-मार्ग अर्थात् सांसारिक सुखों का मार्ग कहते हैं, इस पर आज-कल पाश्चात्य संसार चल रहा है। दूसरा वह मार्ग, जिसके आरम्भ में कोई सुख सुविधा नहीं, वरन् अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं, परन्तु अन्त में सब से बड़ा सुख जिसको मोक्ष कहते हैं मिलता है, इसका नाम श्रेयमार्ग है, जिस पर चलने वाले श्रेष्ठ कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मों की इच्छा जीवात्मा को

वासना की रस्सी से बांध देती है। इनमें से जो श्रेय मार्ग पर चलने के साधनों का अनुष्ठान करता है, वह सफल हो जाता है, अर्थात् दुःखों से छूटकर महाकल्प तक रहने वाले मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। और जो प्रेयमार्ग को अङ्गीकार करता है, वह इसमें सफल नहीं होता। संसार में बोना और खाना दो प्रकार के कर्म हैं। खाने वाला वर्त्तमान पदार्थों को खाकर खो देता है। और बोने वाला बोकर उसे सैंकड़ों गुना कर लेता है। एक का प्रारम्भ अच्छा और अन्त बुरा है, दूसरे का प्रारम्भ वैसा भला नहीं प्रतीत होता किन्तु अन्त अत्यन्त शुभ होता है। इस प्रकार गिरना और चढ़ना दो प्रकार की गतियां हैं। जो गिरता है उसको आरम्भ में कोई कष्ट प्रतीत नहीं होता, किन्तु जिस समय गिरने की सीमा तक पहुँचता है तो बहुत प्रबल चोट लगती है, कई वार तो गिरने वाला मृत्यु का ग्रास बन जाता है। जो ऊपर को चढ़ता है, उसको आरम्भ में बहुत श्रम करना पड़ता है, क्योंकि उसे भूमि के आकर्षण के विरुद्ध प्रयत्न करना होता है, बहुत शक्ति लगानी पड़ती है जिससे थकावट होती है, किन्तु लक्ष्य पर पहुँचते ही बहुत आनन्द मिलता है। इस प्रकार के प्रेयमार्ग और श्रेयमार्ग हैं। इन दोनों मार्गों पर मनुष्य अपने साहस और उत्साह के अनुसार चलते हैं। जो मनुष्य दुर्बल हृदय वाले हैं वे पहले सुख को ही चाहते हैं, इससे वे चरम सुख के लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहते हैं। जो दूरदर्शी हैं, जिनका उत्साह और साहस प्रबल है, वे आरम्भ के कष्टों की गणना न करके उस मार्ग पर चलते हैं, जिसका अन्त अत्यन्त उत्तम है, जिसमें बहुत ही सुख मिलता है। जैसा कि एक कवि ने कहा है—

भद्रो हि स मनुष्यो स्तिस्वन्तान् यः साधु पश्यति।

[वह मनुष्य सचमुच भला है, जो उत्तम परिणामों को भली प्रकार देख लेता है ।] ॥१॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः । श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥२॥

पदार्थ—(श्रेय) श्रेयोमार्ग, कल्याणपथ (च) और (प्रेयः) प्रेयोमार्ग, सांसारिक सुख (च) भी (मनुष्यः) मननशील प्राणी को (एतः) प्राप्त होते हैं, अर्थात् मनुष्य को इन दोनों मार्गों से सम्बन्ध होता है । (तौ) उन दोनों को (सम्परीत्य) भली प्रकार परीक्षा करके (विविनक्ति) छानबीन करता है (धीरः) धैर्यशील बुद्धिमान् मनुष्य । (श्रेयः) कल्याणमार्ग को, परिणाम में सुख देने वाले मार्ग को (हि) ही (धीरः) विवेकी मनुष्य (प्रेयसः+अभि) प्रेयोमार्ग की अपेक्षा (वृणीते) स्वीकार करता है । (प्रेयः) प्रेयोमार्ग को (मन्दः) अज्ञानी (योगक्षेमात्) योगक्षेम से=संसारिक अभावों से बचने और विषय सुखों की प्राप्ति का साधन मान कर (वृणीते) अङ्गीकार करता है ।

भावार्थ—पूर्वोक्त दोनों प्रकार के मार्ग मनुष्य के सामने आते हैं । उनमें से जो बुद्धिमान् मनुष्य हैं, जिसको सत्यासत्य के विवेक का सामर्थ्य है, जिनको संकीर्ण हृदयता, प्रमाद, आलस्य, सुखलिप्सा ने नहीं घेरा हुआ जिनके विचार उदार हैं, वह तो प्रेयोमार्ग को छोड़कर श्रेयोमार्ग=कष्टसाध्य मार्ग का अवलम्बन करते हैं । यद्यपि प्रेयोमार्ग में आरम्भ में सुख दीखता है तथापि परिणाम में उसमें दुःख ही दुःख है, अतः वे इसका अनुसरण नहीं करते । किन्तु जो लोग मन्दमति, साहसहीन हैं, जिनमें इतना विवेक और उत्साह नहीं कि वे धैर्य से इस मार्ग

पर चल सकें कि जिसका फल बिलम्ब से मिलता है, वे बाह्य कष्टों से बचने के विचार से, और बाह्य सुख का साधन जानकर सांसारिक सुखों-धनदारा—की वासना में जा गिरते हैं।

प्रश्न—क्या धन सम्पत्ति आदि की कामना करना मूर्खों और कायरों का कार्य है, हम तो बड़े बड़े योग्य मनुष्यों को इसमें ग्रस्त हुआ देखते है, जिनकी विद्वत्ता की जगत् में धाक है।

उत्तर—निस्सन्देह जो लोग अपने स्वरूप से अपरिचित हैं, जिनको 'मैं कौन हूँ मेरा क्या है ?' का यथार्थ ज्ञान नहीं है, जो यह भी नहीं जानते कि उनके लिये क्या लाभदायक और क्या हानिकारक है, उनको लोग भले ही महाविद्वान् या योग्य कहें वास्तव में वे विवेकशून्य हैं। क्योंकि संसारिक धनादि शरीर के लिये उपयोगी हैं न कि आत्मा के लिये। उनके संसर्ग से आत्मा को हानि पहुँचती है, अतः ऐसे लोगों को योग्य और बुद्धिमान् कहना ऐसा ही है, जैसे नाई का नाम राजा रखना है॥ २॥

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामानभिध्यायन्न-चिकेतोऽत्यस्त्राक्षीः। नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥३॥

पदार्थ—(सः) उस (त्वम्) तू ने [मेरे बहुत लोभ दिखलाने पर भी] (प्रियान्) प्रिय [पुत्र पौत्र आदि] (प्रियरूपान्) प्यारी लगने वाली स्त्रियों (च) और (कामान्) इच्छाओं को (अभिध्यान्) विचार करके [दुःखरूप समझ कर] (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (अत्यस्त्राक्षीः) त्याग दिया है। (न) नहीं (एताम्) इस (सृङ्काम्) माला को शृंखला को (वित्तमयीम्) जो भोगसाधन धन-धान्य से पूर्ण हैं (अवाप्तः) प्राप्त किया (यस्याम्) जिसमें

(मज्जन्ति डूब जाते हैं, फंस जाते हैं (बहवः) बहुत से (मनुष्याः) मनुष्य ।

भावार्थ—यमाचार्य्य ने कहा—हे नचिकेता ! मैंने तुमको सन्तान अर्थात् पुत्र पौत्रों का प्रलोभन दिया, और सुन्दर रूपवती स्त्रियों का प्रलोभन भी दिया, संसार की समस्त कामनाओं की पूर्ति का प्रबल प्रलोभन भी दिया, किन्तु तूने इस में से किसो को भी अङ्गीकार नहीं किया। मैं तुम्हें इस संसारिक धन का, जिसमें अनेक मनुष्य फंसे हुये हैं प्रलोभन दिया, किन्तु तूने इनमें से किसी को लेना स्वीकार नहीं किया। राज्य और धन का लोभ भी दिया, अर्थात् लोकेषणा की सारी सामग्री तेरे सामने प्रस्तुत की, किन्तु तूने इसमें से किसी को भी न चाहा। सारांश यह कि आत्मज्ञान की सभी रुकावटें तुम्हारे मार्ग में ला खड़ी कीं किन्तु कोई भी रुकावट तुमको रोक नहीं सकीं, अभीष्ट लक्ष्य से हटा नहीं सकी। तू किसी भी कामना में न फंसा। अतः तेरी यह स्थिर मति सचमुच स्तुति के योग्य है ॥३॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥४॥

पदार्थ—(दूरम्) अत्यन्त (एते) ये दोनों (विपरीते) एक दूसरे के विपरीत (विषूची) दो विरुद्ध भावों को प्रकट करने वाली (अविद्या) अविद्या=प्रेयोमार्ग जिसका आरम्भ भला और अन्त बुरा है (या) जो (च) और (विद्या) श्रेयोमार्ग, जिसका आरम्भ शुष्क, अप्रिय किन्तु परिणाम कल्याणकारी है (इति) इस प्रकार (ज्ञाता) जानी गई है। (विद्याभीप्सिनम्) विद्या का=श्रेयोमार्ग का अभिलाषी (नचिकेतसम्) नचिकेता को (मन्ये) मैं मानता हूं। (न) नहीं

(त्वा) तुझको (कामाः) कमनीय वस्तुओं या कामनाओं ने (बहवः) बहुत सी (अलोलुपन्त) लुभाया अपने जाल में फंसाया।

भावार्थ—हे नचिकेता ! यह मैंने भलीभाँति जान लिया है कि अविद्या जिसका आरम्भ लुभावना और मनोमोहक है किन्तु परिणाम अमङ्गल है, और विद्या जिसका प्रारम्भ शुष्क, नीरस है किन्तु परिणाम परमानन्द देने वाला है, ये दोनों परस्पर विपरीत फलों वाली हैं। तू अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञान के विरुद्ध विद्या को जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप का जैसा जो वस्तु है, उसको अवैसा जानना यथार्थ ज्ञान कराती है, चाहने वाला है। हे नचिकेता ! तुझको संसार की धनसंपत्ति, मान प्रतिष्ठा और विषय भोग लालसा अपने फंदे में नहीं फंसा सकते। वास्तव में तू अविद्या के चंगुल से बहुत दूर निकल गया है। अब तू अविद्या में नहीं फंस सकता, तू ने विवेक प्राप्त कर लिया है। जिसको विवेक प्राप्त हो जाता है वह भले को त्याग कर बुरे की प्राप्ति का विचार भी नहीं कर सकता।

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥५॥

पदार्थ—(अविद्यायाम्) अविद्या=मिथ्याज्ञान=प्रेयोमार्ग के [जो आरम्भ में मनोमोहक होता है] (अन्तरे) बीच में (वर्त्तमानाः) रहते हुए, काम करते हुए, फंसे हुए (स्वयं+धीराः) अपने को धीर=ज्ञानी समझने वाले (पण्डितंमन्यमानाः) अपने आप को पण्डित=सत्यासत्य का विचार करने वाला मानने वाले (दन्द्रम्यमाणाः) कुटिलमार्गगामी, छल कपट के व्यवहार करने वाले (परियन्ति) नीच गति को प्राप्त होते हैं (मूढाः) मूढ जन (अन्धेन) अन्धे से (एव)

ही (नियमानाः) ले जाये जाते हुए (यथा) जैसे (अन्धाः) अन्धे।

भावार्थ—अविद्या में ग्रस्त लोग अर्थात् लुभावने पदार्थों को प्राप्त करने में लगे हुए लोग अपने आपको धीर और पण्डित मानने वाले नीच गति=दुरवास्था को प्राप्त करते हैं, जैसे किसी अन्धे के पीछे लगकर अन्धा कूप में जा गिरता है। अहो! कितना सुन्दर उपदेश है। जो प्रेयोमार्ग में प्रवृत्त होकर विषय-वासनाओं में फंसकर अपने आत्मिक पतन के साधन जुटा रहे हैं, जो किसी समय भी नहीं सोचते कि 'मैं क्या हूँ ? मेरे लिये क्या लाभदायक और क्या हानिकारक है, वरन् ऐसा विचारने वालों को नव्यज्ञानशून्य अविवेकी कह कर, उनके ज्ञान को जो यथार्थ और सुखकारक है, भ्रम बतला कर अपने भ्रान्तज्ञान को निर्भ्रान्त बतलाते हैं, ऐसे लोगों की वही हालत होती है, जैसे एक अन्धे की दूसरे अन्धे के पीछे लगकर कुँएं में गिरने से होती है। विषयवासना में फंसे हुए लोगों का अनुसरण करने से लोग अत्यन्त नीच दशा को पहुँच चुके हैं। उनका अपने स्वरूप तथा सत्ता का ज्ञान तो है नहीं किन्तु अभिमान करते हैं विज्ञान (पदार्थविद्या) के जानने का। ये लोग स्वयं भी कष्ट पाते हैं, और अपने अनुकरण से हजारों मनुष्यों को वैदिक धर्म के स्थान में इन्द्रियासक्त बनाकर पाप में फंसाते हैं। संसार के जितने पदार्थ हैं उनका सम्बन्ध शरीर से है, जो उत्पत्ति और विनाश वाला है, सहस्रों प्रयत्न करने पर भी जो अवश्य नाश को प्राप्त होगा, जो किसी भी अवस्था में सदा नहीं बना रहेगा, अजर अमर अविनाशी आत्मा की उपेक्षा करके उस अवश्य नष्ट होने वाले शरीर का दास बनना मूर्खता नहीं तो क्या है ? संसारिक (भौतिक) पदार्थ कोई भी ऐसा नहीं जो आत्मा के लिये हितकर हो। नित्य आत्मा के लिये अनित्य विषयभोग कैसे

हितकर हो सकते हैं ? नित्य के लिये अनित्य किसी दशा में भी लाभदायक नहीं हो सकता। आत्मा के लिये विद्या और तप ये दोनों कार्य ही हितकर और लाभदायक हैं। विद्या पवित्र आत्मा की सत्ता से इल्हाम के द्वारा (वेद के द्वारा) प्रकट होती है, और सदा एकरस रहती है कभी विकृत नहीं होती है। इसके द्वारा मनुष्य श्रेयोमार्ग के लक्ष्य तक पहुँच पाता है कोई प्रेयोमार्ग गामी इसे नहीं जान सकता। जो श्रेयोमार्ग पर चलते हैं जो अविद्या के पाशों को काट कर विद्यामृत का स्वाद लेते हैं, जिनको चारों ओर अमृत का भंडार दिखाई देता है वे किसी एक पाश में बन्धे हुए नहीं होते, वरन् संसार के उपकार को ही अपने जीवन का उद्देश्य मानते हैं। तप कहते हैं ननुनच किये बिना शीत उष्ण, क्षुधा तृष्णा आदि विरुद्ध द्वन्दों को सहन करना, तप का अनुष्ठान वही कर सकते हैं जिन्हें आत्मा और शरीर के भेद का ज्ञान हो चुका है। जो अपने आप को आत्मा समझते हैं, वेही शारीरिक कष्टों से नहीं घबराते, क्योंकि आत्मा इनसे परे है॥ ५॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥६॥

पदार्थ—(न) नहीं (साम्परायः) मुक्ति के साधन, ब्रह्म ज्ञान के साधन, ब्रह्मचर्य्य ईश्वरविश्वास आदि (प्रतिभाति) प्रतीत होता है, चित्त को खींचता है (बालम्) अज्ञानी अविवेकी मनुष्य को, (प्रमाद्यन्तम्) प्रमादी को, मुक्ति से उपेक्षा करने वाले को (वित्तमोहेन) धन के मोह से अर्थात् संसारिक विषयों की आसक्ति के कारण (मूढम्) सर्वथा अन्धकार से ढके हुए को। (अयम्) यही प्रत्यक्ष दीखने वाला

(लोकाः) संसार, शरीर या संसारिक विषय ही सत्य हैं, (न) नहीं (अस्ति) है (परः) दूसरा जन्म या परमार्थ (इति मानी) ऐसा मानने वाला (पुनः पुनः) वार वार (वशम्) वश में (आपद्यते) आ पड़ता है (मे) मेरे अर्थात् मौत के।

भावार्थ—आचार्य्य ने कहा—हे नचिकेता ! ओ अज्ञानी मनुष्य जिन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है, जो यह नहीं जानते कि 'हम क्या हैं' धनमोह से अन्धा होने के कारण मुक्ति के साधनों पर चित्त को नहीं लगा सकते। वे दूसरों को मरता हुआ देखते हैं, धनियों के धन का नाश देखते हैं और उनकी सन्तान को मरता और राजाओं को विपद् आपद् में पड़ता देखते हैं, बड़े बड़े शूरवीरों को रोग के कारण दुर्बल और क्षीण होता देखते हैं—ये सब देखते हुए भी बुद्धि पर अज्ञान का आवरण आने के कारण, मुक्ति के साधनों की ओर उनकी रुचि नहीं होती। जैसा निश्चित ज्ञान होता है, वैसा आचरण संसार में देखने में आता है। किन्तु जब निश्चयात्मक ज्ञान न हो, तब आचरण भी नहीं हो सकता। निश्चयात्मक ज्ञान मेधा बुद्धि के द्वारा होता है। जैसे रूप का ज्ञान चक्षु से होता है, जब तक चक्षु निर्दोष होता है तब तक उसके द्वारा होने वाला ज्ञान भी यथार्थ और निर्दोष होता है, यदि आंख में कामला रोग (पीलिया) हो जाय तो वस्तुओं के यथार्थ रूप के स्थान में, आंख को सभी पीला दिखाई देता है, ऐसे ही जिसकी मेधा बुद्धि होती है, उसको ये सांसारिक विषय आत्मा के लक्ष्य में प्रतिबन्धक=रुकावट प्रतीत होते हैं। इससे वह वैराग्य प्राप्त करता है। संसार के सब पदार्थ शरीर के लिये हैं, कोई सांसारिक पदार्थ ऐसा नहीं, जिसका सम्बन्ध शरीर के बिना, आत्मा से हो। शरीर के भीतर से जो कुछ निकलता है, वह सब अपवित्र

तथा घिनौना है। आंख से जो कुछ निकलता है, वह गन्दा है, कान से मल निकलता है वह भी अपवित्र है, नाक से जो निकलता है, वह भी मैला है, मुख से थूक निकलता है, वह भी दूषित है, मलमूत्र तो है ही अपवित्र, पसीने से भी दुर्गन्ध आती है। सारांश यह है कि शरीर के भीतर से जो कुछ निकलता है, वह सब दुर्गन्धमय है, इसमें कोई भी पवित्र नहीं है। किन्तु जब तक ये मलिन पदार्थ शरीर के भीतर रहते हैं तब तक उनसे दुर्गन्ध नहीं आती, क्योंकि भीतर शुद्ध करने वाली शक्ति आत्मा विद्यमान है। जब तक शरीर में आत्मा विद्यमान है तब तक शरीर मैला नहीं प्रतीत होता। किंतु ज्योंही आत्मा शरीर से पृथक् हुआ, त्यों ही यह शरीर ऐसा गन्दा प्रतीत होने लगता है कि जिस मकान में एक दिन मृतक शरीर पड़ा रहे, वहाँ ही नहीं, वरन् पास पड़ोस के मकानों के वायु को भी दूषित कर देता हैं, कई दिनों तक वायु शुद्धि के लिये हवन करने की आवश्यकता अनुभव होती है। ब्राह्मण पातक समझकर उस घर में बना भोजन खाने से इन्कार कर देते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शरीर तो वास्तव में है ही अपवित्र किन्तु यह तब तक अपवित्र प्रतीत नहीं होता, जब तक पवित्र करने वाला आत्मा इसके भीतर विद्यमान है, और आत्मा अवश्यमेव एक दिन इस शरीर को त्याग देगा। चाहे कुछ खायें, केसर खायें, कस्तूरी खायें तो भी मृतक शरीर दुर्गन्ध ही फैलायेगा, सुगन्ध कभी नहीं देगा। हम जो कुछ खाते हैं वह शुद्ध होता है, किन्तु शरीर के संसर्ग से वह सब अपवित्र हो जाता है। जो मेधाबुद्धि वाले हैं वे इस मलिन देह की अपेक्षा शुद्ध आतमा से अधिक प्यार करते हैं जिनकी बुद्धि पर अज्ञान का आवरण चढ़ा हुआ है, वे आत्मा को न जानने या आत्म-विस्मृति के कारण यह मानते हुए प्रतीत

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञा-नाय प्रेष्ठ। यान्त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ६ ॥

पदार्थ—(न) नहीं (एषा) यह, मेरी दी हुई (तर्केण) तर्क के द्वारा (आपनेया) हटाई जा सकती (मतिः) मति, बुद्धि, ब्रह्म विद्या (प्रोक्ता) कही हुई (अन्येन) दूसरे से अर्थात् तार्किक से भिन्न वेदवेत्ता आचार्य्य से (एव) ही (सुज्ञानाय) उत्तमज्ञान के लिये (प्रेष्ठ) हे सबसे अधिक प्रिय ! । (याम्) जिसको (त्वम्) तूने (आपः) प्राप्त किया है (सत्यधृतिः) सच्चे धैर्य वाला (बत) सचमुच (असि) तू है (त्वादृग्) तेरे जैसा (नो) नहीं है (भूयान्) दूसरा (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (प्रष्टा) पूछने वाला शिष्य, जिज्ञासु ।

भावार्थ—यमाचार्य्य ने कहा—हे नचिकेता ! तू मेरी इस दी हुई विद्या को तर्क वितर्क से नष्ट मतकर देना । यह तर्क से भी प्रबलतर वेदवेत्ता आचार्य्य का उपदेश है । तर्क में भ्रम की संभावना है, क्योंकि बहुधा हेतु के स्थान में हेत्वाभास* का प्रयोग हो जाता है । किन्तु वेद का उपदेश तो यथार्थ ज्ञान कराने के लिये होता है । हे प्रिय शिष्य ! जिस ब्रह्म विद्या को तू ने प्राप्त किया है, उसको सत्य और धृति के साथ व्यवहार में ला । कृपा से पूर्ण होकर आचार्य्य ने कहा—हे नचिकेता ! मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ, तेरे जैसा अनुपम शिष्य मिले, ऐसे अधिकारी विद्यार्थी को पढ़ाने से ऋषि-ऋण पूरा होता है । तात्पर्य यह है

---

*हेत्वाभास=जो हेतु की तरह प्रतीत हो किन्तु हेतु न हो ॥ हेतु और हेत्वाभास का भेद न्याय दर्शन के अभ्यास से जाना जा सकता है ।

कि जिस समय किसी गुरु को अधिकारी विद्यार्थी मिल जाता है, उस समय उसको असीम प्रसन्नता होती है।

प्रश्न—मनु ने कहा है कि जो तर्क से जाना जाये, वही धर्म्म है*। यहाँ यमाचार्य्य तर्क का निषेध कर रहे हैं।

उत्तर—इस स्थिति पर पहुँचने पर तर्क कार्य्य नहीं देता, क्योंकि इस सूक्ष्म पदार्थ को प्राप्त के लिये जिन साधनों की आवश्यकता है वे तर्क से नहीं मिल सकते। मनु ने धर्म्म=कर्त्तव्य के संबन्ध में तर्क का उपदेश किया है। और यह विज्ञान का स्थान है। अतः इन दोनों में विरोध नहीं है, जैसे ब्रह्मचर्य्याश्रम गृहस्थाश्रम तथा वानप्रस्थाश्रम में यज्ञोपवीत धारण करते हैं और संन्यास में उतार देते हैं। आश्रम भेद के कारण इस उपदेश भेद में कोई विरोध नहीं है ॥ ९ ॥

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवन्तत् । ततो मया नाचिकेतश्चितोग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥

पदार्थ—(जानामि) जानता हूँ (अहम्) मैं (शेवधिः+इति) धन संपत्ति को (अनित्यम्) अनित्य, स्थिर न रहने वाला (हि) सचमुच (अध्रुवैः) स्थिर न रहने वाले धनादि पदार्थों के द्वारा (प्राप्यते) प्राप्त किया जाता है (ध्रुवम्) अचल, नित्य (तत्) वह (ततः) इस कारण मैंने (नाचिकेतः) नाचिकेत (चितः) चयन किया है (अग्निः) अग्नि। (अनित्यैः) अस्थिर (द्रव्यैः) द्रव्यों अर्थात् मन इन्द्रिय और शरीर के द्वारा (प्राप्तवान्+अस्मि) प्राप्त किया है (नित्यम्) नित्य ब्रह्म को।

---

*यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः (मनु०) जो तर्क के द्वारा जांच करता है, वही धर्म्म को जान सकता है, दूसरा नहीं।

भावार्थ—यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता ! इसमें जो धन संपत्ति, मान प्रतिष्ठा तथा ऐश्वर्य्य एवं प्रभुता है, उसको अनित्य अस्थिर मानता हूँ । मुझे यह भी पूर्णतया ज्ञात है कि इस अनित्य, विनश्वर धनादि से वह नित्य अविनाशी ब्रह्म नहीं मिल सकता । इसी कारण,हे नचिकेता ! मैंने उस नाचिकेत अग्निका जिसका तुझे मैंने उपदेश किया हैं, फल की कामना छोड़ कर, चयन किया है, इससे मैं अनित्य द्रव्यों—मन, इन्द्रिय, एवं शरीर के द्वारा उस नित्य ब्रह्म को प्राप्त हुआ हूँ । तात्पर्य्य यह है कि यदि कोई धनादि के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने की कामना करे, तो उसकी यह कामना सफल नहीं हो सकती । किन्तु यदि वह इस धन संपत्ति को निष्काम होकर परोपकार यज्ञ में लगा दे तो इस से उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा, अन्तःकरण की शुद्धि से इन्द्रियाँ वश में हो जायेंगी, इन्द्रियों को वश में करने पर उस शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान हो सकता हैं । अतः हे नचिकेता, मैंने इन अनित्य पदार्थों के त्याग से उस नित्य ब्रह्म को प्राप्त किया है।।१०

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम् । स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।।११।।

पदार्थ—(कामस्य) इच्छानुसार भोग की (आप्तिम्) प्राप्ति को (जगतः) जगत् की, प्राणिमात्र की (प्रतिष्ठाम्) स्थिति को, मान को (क्रतोः) अश्वमेध आदि यज्ञ की (आनन्त्यस्य) अनन्त के, अखण्ड के (अभयस्य) निर्भयता के स्वतन्त्रता के (पारम्) सीमा को (स्तोमम्) संसार की स्तुति को (महत्) बड़ी (उरुगायम्) अनेकों से गाई जाती हुई (प्रतिष्ठाम्) मानमर्यादा को (दृष्ट्वा) देख कर जान कर (धृत्य) धैर्य्य पूर्वक (धीरः) ध्यानवान् होकर,

(नाचिकेतः) हे नचिकेता ! तू ने (अत्यस्त्राक्षीः) त्याग कर दिया है।

भावार्थ—हे नचिकेता ! यद्यपि संसार की स्थिति स्त्री पुरुष के संयोग से होती है, तथापि तेरे चित्त में उसकी इच्छा नहीं है। यद्यपि अग्निहोत्र से अश्वमेध तक यज्ञ अत्यन्त या अखण्ड हैं, यद्यपि निर्भयता और स्वतन्त्रता की चरम सीमा की जा सकती है, यद्यपि संसार के साधारण जन बहुत प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि यह उत्कृष्ट अवस्था है, कवि लोग भी इसकी प्रशंसा के गीत गाते हैं, तथापि हे नचिकेता ! तू ने इन सब को तुच्छ समझ कर, ध्यान के द्वारा पदार्थों के तत्त्व को जानकर धैर्य्य से इनका त्याग किया है। इससे तेरे ज्ञान का मान करना पड़ता है।

क्या इस कथा को पढ़कर कोई कह सकता है कि प्राचीन भारत के वासी असभ्य थे ॥ ११ ॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्टं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

पदार्थ—(तत्) जो बहुत सुनने वालों को भी दुर्लभ है, उस परमात्मा को (दुदर्शम्) कठिनता से जिसके दर्शन होते हैं उस (गूढम्) गूढ=इन्द्रियागोचर होने से कुप्त (अनुप्रविष्टम्) शरीर के भीतर रहने वाले जीव के भीतर प्रविष्ट (गुहाहितम्) मेधाबुद्धि रूपी गुफा में स्थित (चह्वरेष्ठम्) दुर्गम स्थानों में स्थित (पुराणम्) अनादिकाल से वर्त्तमान् (अध्यात्मयोगाधिगमेन) अध्यात्मयोग की प्राप्ति से [ब्राह्य इन्द्रियों का निरोध करके, चित्त को एकाग्र करके योग के द्वारा] (देवम्) प्रकाश स्वरूप को (मत्वा) जानकर (धीरः) ध्यानाभ्यासी अथवा धैर्यशाली विद्वान् (हर्षशोकौ) हर्ष शोक को

होते हैं कि यह प्रत्यक्ष जगत् तो है किन्तु इसके आगे दूसरा जन्म कोई नहीं। यद्यपि मृत्यु का भय उन्हें प्रतिदिन स्मरण कराता है कि मृत्यु को उन्होने पहले अनुभव किया हुआ है, क्योंकि जिस वस्तु का अनुभव किया हो या इन्द्रियों द्वारा प्रतीत न किया हो, उसके विषय में प्रीति या द्वेष का होना असम्भव है। मृत्यु से द्वेष है, अतः मृत्यु का अवश्य इससे पूर्व भी अनुभव हो चुका है, तथापि मृत्यु से द्वेष करते हुए भी ये अज्ञानी नहीं मानते, कि मौत का अनुभव पहले हो चुका है। ऐसे लोग जो अज्ञान के कारण केवल बाह्य पदार्थों में रत हैं, जिनको आत्म-ज्ञान से प्रीति नहीं है बार-बार मृत्यु के वश में आते हैं अर्थात् जन्मते और मरते रहते हैं। वास्तव में उस मनुष्य से अधिक अभागा कोई नहीं जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान न हो। किन्तु अविद्या=मिथ्याज्ञान की महिमा कुछ विचित्र ही है कि लाखों मनुष्य जो अपने स्वरूप, सत्ता तथा गुणों से सर्वथा अनभिज्ञ हैं अपने को अनुपम मान रहे हैं। जिस प्रकार अन्धा सूर्य्य को नहीं देख पाता, यदि वह घोषण करे कि सूर्य्य नहीं है, तो उसका यह कथन उसके अन्धेपन के प्रमाण के अतिरिक्त और क्या सिद्ध कर सकता है ? ऐसे ही कई लोग अपने अज्ञान और आत्मविस्मरण से पुनर्जन्म और ईश्वर को न मानते हुए, परमात्मप्राप्ति के साधनों से वञ्चित रह कर संसार के राग में रत होकर दूसरों के जीवनों का नाश कर रहे हैं, उनके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वे आप तो डूब रहे हैं साथ ही दूसरों को भी डुबा रहे हैं ॥६॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोपि बहवो यन्न विद्युः। आश्चर्य्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्य्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥७॥

पदार्थ—(श्रवणाय) सुनने के लिये (अपि) भी (बहुभिः) बहुत से मनुष्यों को (यः) जो नहीं (लभ्यः) मिलता (शृण्वन्तः) सुनते हुए (अपि) भी (बहवः) बहुत से लोग (यम्) जिसको (न) नहीं (विद्युः) जान सकते (आश्चर्यः) चकित करने वाला, अर्थात् दुर्लभ (अस्य) इस परमात्मा का (वक्ता) उपदेश करने वाला; [अर्थात् इस ब्रह्मविद्या का उपदेश करने वाला बहुत कठिनता से मिलता है, इसका प्राप्त होना आश्चर्यकारी है ।] (कुशलः) अत्यन्त चतुर है (अस्य) इस ब्रह्मज्ञान का (लब्धा) प्राप्त करने वाला, [अर्थात् बहुत बड़ा बुद्धिमान् ही इस ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर सकता है ।] (आश्चर्यः) अत्यन्त दुर्लभ है (ज्ञाता) जानने वाला ब्रह्मचारी (कुशलानुशिष्टः) अत्यन्त योग्य चतुर आचार्य्य से शिक्षित हुआ ।

भावार्थ—यमाचार्य्य कहते हैं कि ब्रह्मविद्या के सुनने का अवसर भी अनेकों को नहीं मिलता। क्योंकि न तो योग्य आचार्य्य ही मिलता है और न ही इसके जानने की तीव्र उत्कण्ठा ही होती है। और बहुत से लोग इसे पढ़ते सुनते भी इसकी वास्तविकता को यथार्थ रूप में नहीं जान सकते। संसार का नियम ही ऐसा है, प्रथम तो रत्नों की दुकानें ही कम होती हैं, दूसरे इसके ग्राहक अत्यन्त अल्प होते हैं, अतः लाखों करोड़ों दरिद्रों को रत्नों के नाम और प्रकार भी ज्ञात नहीं होते। बहुत से खरीदने का सामर्थ्य रखते हैं, उन्हें रत्नों की दुकान भी मिल जाती है किन्तु वे रत्नको पहचान नहीं सकते, उन्हें रत्नों की परीक्षा करनी नहीं आती। ऐसे ही अनेक लोग ब्रह्मविद्या प्राप्ति की कामना तो रखते हैं, किन्तु ब्रह्मविद्यावेत्ता आचार्य्य के पास जाकर भी अपनी मूढ़ता के कारण उसकी परख नहीं कर पाते। वस्तुतः ब्रह्मविद्या का ज्ञाता होकर उपदेष्टा अत्यन्त दुर्लभ है।

इस विद्या को जानना सरल नहीं है, अत्यन्त बुद्धिमान्

मेधावी ही इसको प्राप्त कर सकता है। जब तक ब्रह्मश्रोत्रिय अर्थात् वेदविद्या का ज्ञाता और ब्रह्मनिष्ठ=परमात्मा पर पूर्ण विश्वासी आचार्य उपदेश करने वाला न मिले, उसको कोई जान नहीं सकता। ऐसे आचार्य्य की खोज बहुत कठिन है, क्योंकि जो ब्रह्मविद्या को जानते हैं, वे कहते नहीं, और जो कहते हैं वे जानते नहीं। अतः उसका पता लगाना बहुत कठिन है, क्योंकि जो कहे मैं ब्रह्मविद्या का जानकार हूँ, वह वास्तव में ब्रह्मविद्या से अनभिज्ञ होता है, उससे शिक्षा लेना व्यर्थ है। और जो यह स्वीकार ही न करे कि वह ब्रह्मविद्या का ज्ञाता है, किस तरह समझा जाये कि यह ब्रह्मवेत्ता है और कि इससे उपदेश लेना चाहिये। ब्रह्मविद्या के सीखने सिखाने वाले दोनों ही दुर्लभ हैं।

यमाचार्य्य के इस कथन का तात्पर्य्य यह है कि हे नचिकेता! तू बहुत ही बुद्धिमान् है जो तू ब्रह्मविद्या सीखना चाहता है ॥७॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥८॥

पदार्थ—(न) नहीं (नरेण) मनुष्य के द्वारा (अवरेण) अश्रेष्ठ=साधारण, [जो इस लक्ष्य तक नहीं पहुँचा] (प्रोक्तः) बतलाया हुआ (एषः) यह ब्रह्मज्ञान (सुविज्ञेयः) आसानी से जाना जा सकता है (बहुधा) अनेक प्रकार से (चिन्त्यमानः) सोच विचार करने से। (अनन्यप्रोक्ते) दूसरे के बतलाये बिना अर्थात् अनुपम आचार्य्य के उपदेश के बिना (गतिः) गति, पहुँच, पहचान, ज्ञान (अत्र) इस विषय में ब्रह्मज्ञान में आत्मज्ञान में (न+अस्ति) नहीं हैं, क्योंकि (अणीयान्) यह बहुत सूक्ष्म है (हि) सचमुच (अतर्क्यम्)

तर्क से परे हैं (अणुप्रमाणात्) सूक्ष्मतम होने के कारण*।

भावार्थ—यमाचार्य्य कहते हैं, हे नचिकेता ! यह ब्रह्मज्ञान, उन मनुष्यों के उपदेश से, जो स्वयं ब्रह्मज्ञान से शून्य हैं जिन्हें केवल भौतिक पदार्थ विद्या Material science का ही ज्ञान है, नहीं जाना जा सकता। यद्यपि योगिजन और संसार के भक्तिमार्गी इसका अनेक प्रकार से विचार करते हैं, किंतु उनके उपदेश से भी इसका जानना सरल नहीं है। ब्रह्मश्रोत्रिय=वेद-वेत्ता विद्वान् और ब्रह्मनिष्ठ=ईश्वरविश्वासा आचार्य्य के उपदेश के बिना अन्य किसी प्रकार से भी इस विद्या में गति नहीं हो सकती, और न ही दूसरे के उपदेश के बिना, अपने आप ही इसको कोई जान सकता है। भाव यह है कि न तो अज्ञानी गुरु इसका उपदेश दे सकता है, और न ही गुरु के बिना इसमें गति हो सकती है। ब्रह्म के सुसूक्ष्म होने से ब्रह्मविद्या भी अति सूक्ष्म है। इसमें तर्क का विशेष अधिकार नहीं है। तर्क हेतु और उदाहरण के आश्रित होकर चलता है, यहाँ हेतु और उदाहरण दुर्लभ से हैं। जो हेतु और उदाहण मिलते हैं, वे सब इस स्थूल भौतिक जगत् से मिलते हैं, वे सब जन्य हैं। अजन्य को जन्म के दृष्टान्त से समझाना दोषयुक्त हो सकता है। अतः अतीव सूक्ष्म परमात्मा का यथार्थ बोध केवल ब्रह्मश्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के उपदेश द्वारा ही हो सकता है ॥८॥

---

* बहुत से पुस्तकों में "अनुप्रमणात्" पाठ है। उसके अनुसार अर्थ होगा—प्रमाण के विचार से यह आत्मा या आत्मज्ञान अतर्क्य=तर्क का विषय नहीं है, क्योंकि यह तो साधनानुष्ठान के बाद होने वाले साक्षात्कार का विषय है। जैसे मिठास का तर्क से ज्ञान नहीं हो सकता, मीठे पदार्थ को चखने से नहीं होता है।

(जहाति) छोड़ देता है । अर्थात् उसे कोई पदार्थ हितकर या हानिकारक प्रतीत नहीं होता, जिससे कि हर्ष शोक करे ।

भावार्थ—जिस के गुणगान सुन कर भी साधारण लोग उसे नहीं जान पाते । उस दुर्विज्ञेय परमात्मा के जानने से ध्यानाभ्यासी विद्वान् संसार के रागद्वेष और हर्ष शोक से छुटकारा पा जाता है । परमात्मा कहीं दूर नहीं है, वरन अत्यन्त समीप है किन्तु इन्द्रियों के गोचर न होने से छिपा हुआ है । जैसे अंजन (सुरमा) आँख से कहीं दूर नहीं होता, किन्तु अत्यन्त समीप होने के कारण दिखाई नहीं देता उसे देखने के लिये दर्पण की आवश्यकता हुआ करती है । इस प्रकार परमात्मा शरीर के भीतर प्रवेश किये हुए जीवात्मा के भी अन्दर प्रविष्ट है । अर्थात् अत्यन्त समीप है, केवल शुद्ध बुद्धि या मन के द्वारा उसके दर्शन हो सकते हैं या ज्ञान से उसे जान सकते हैं । आत्मा के भीतर रहने से मानो वह ऐसे स्थान पर है जहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन है । यद्यपि वह सदा से सब के भीतर विद्यमान है तथापि उसको बहुत कठिनता से जाना जा सकता है । केवल वही लोग जो मन को शुद्ध और एकाग्र कर सकते हैं उसके दर्शन पा सकते हैं । अर्थात् मन के एकाग्र होने से उसके आनन्द को प्राप्त कर उसे जान सकते हैं ।

प्रश्न—क्या भक्तों को परमात्मा का दर्शन नहीं होता ?

उत्तर—जो ज्ञान उपार्जन करके मन को निष्काम कर्म्म द्वारा शुद्ध करले, वैराग्य और अभ्यास के द्वारा मन को स्थिर (एकाग्र और निरुद्ध) कर सके अहङ्कार के आवरण को हटा सके, वही परमात्मा को जान सकता है । ज्ञानशून्य भक्ति से परमात्मा का जानना असंम्भव है ।

प्रश्न—इस समय बहुत से मनुष्य कहते हैं कि अमुक पर-

मेश्वर के पास गया, और उससे अकाल पुरुष ने यह कहा इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह किसी एक स्थान में रहता है और भक्तों से बातें भी करता है।

उत्तर-जो कोई जाता है, अपने अन्दर ही जाता है, दूसरे स्थान में जाकर देखना असंभव है। हाँ किसी महात्मा ने स्वप्न में देखा हो तो हो सकता है या भंग की तरंग में बातें भी की हों, वास्तव में ऐसा नहीं होता ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्म्यमणुमेतमाप्य। स मोदते मोदनीयँ हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥१३॥

पदार्थ—(एतत) पूर्वोक्त परमात्मा या ब्रह्मज्ञान को (श्रुत्वा) सुनकर या आश्चर्य से पढ़कर (सम्परिगृह्य) ठीक ग्रहण करके, जान करके (मर्त्यः) मरणधर्म्मा मनुष्य (प्रवृह्य) आत्मिक बल की वृद्धि करके (धर्म्मम्) धर्म्मसाधक (अणुम्) सूक्ष्म (एतम्) इस परमात्मा को (आप्य) प्राप्त करके (सः) वह (मोदनीयम्) आनन्ददायक को (लब्ध्वा) प्राप्त करके (हि) सचमुच (मोदते) आनन्दित होता है, अन्यथा नहीं। इससे (विवृतम्) खुला है द्वार जिसका [अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति के लिये जिसे कोई रुकावट नहीं है] (सद्म) स्थान, पात्र (नचिकेतसम्) नचिकेता को (मन्ये) मैं मानता हूँ, अर्थात् तुम ब्रह्म को प्राप्त करने के योग्य हो।

भावार्थ—जो मनुष्य यथोक्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन कर्म से, सब धर्म्मों के नियन्ता, अपने नियमों में अविचल परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, वही उस आनन्द सागर को प्राप्त करके आनन्दित होता है। परमात्मा से भिन्न अन्य कोई भी आनन्दमय नहीं है। अतः उसी को प्राप्त करके ही

मनुष्य आनन्दित होता है। जिसमें जो गुण न हो, उससे उस गुण का प्राप्त होना नियमविरुद्ध और असम्भव है। नचिकेता! तू आनन्दित होने योग्य है ॥१३॥

अन्यत्र धर्म्मादन्यत्राधर्म्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥१४॥

पदार्थ—(अन्यत्र) पृथक्, भिन्न (धर्म्मात्) धर्म्म से (अन्यत्र) भिन्न (अधर्म्मात्) अधर्म से (अन्यत्र) पृथक् (अस्मात्) इस (कृताकृतात्) कार्य्य कारणात्मक जगत् से (अन्यत्र) पृथक् (भूतात्) अतीत से (च) अन्यत्र पृथक् अनागत से (च) भी (यत्) उसको पश्यसि तू देखता है (तत्) उसको (वद) तू कह।

भावार्थ—हे आचार्य्य! जो धर्म्म अर्थात् कर्तव्य है और जो अधर्म्म अर्थात् करने योग्य नहीं है, उनसे अलग जिस तत्व को आप जानते हैं, उसका मुझे उपदेश कीजिये। इस कार्य्य कारणात्मक प्रत्येक जगत् से [प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है, और उपादान कारण के गुणों के अनुगुण ही कार्य्य द्रव्य के गुण होते हैं] और कार्य्य कारणस्वरूप से जो पृथक् है, जो भूत=अतीत काल, वर्तमान काल [मूल में दो बार 'च' शब्द का प्रयोग भूत और भव्य के साथ वर्तमान काल को भी सूचित करता है] और अनागत—इन तीनों कालों से पृथक् है, उस नित्य पदार्थ का मुझे उपदेश कीजिये [काल का सम्बन्ध अनित्य पदार्थों से होता है, नित्य पदार्थों में काल नहीं होता है, जिसमें किसी प्रकार का विकार, परिणाम या परिवर्त्तन नहीं होता, जिसको आप इन गुणों से सम्बद्ध समझते हैं, उसका आप उपदेश कीजिये। वेद की श्रुति से सिद्ध है कि परमात्मा को

जानकर ही शान्ति हो सकती है❀। यदि जगत् का उपादान कारण आनन्दस्वरूप परमात्मा होता तो जगत् में आनन्द मिल सकता। किन्तु संसार में आनन्द मिलता नहीं, अतः सिद्ध हुआ कि परमात्मा जगत् का उपादान कारण नहीं है। अतः आनन्द के अभिलाषियों को उस आनन्दमय की खोज आवश्यक है। यमाचार्य्य का कहना है, परमात्मा किसी का उपादान कारण नहीं है। होता तो उसकी गणना कारण=अकृत में होती। परमात्मा को कारण से भिन्न कहकर यह सिद्ध कर दिया गया कि परमात्मा जगत् का उपादान कारण नहीं है ॥१४॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥१५॥

पदार्थ—(सर्वे) सब (वेदाः) ऋग्, यजुः, साम और अथर्व—चारों वेद (यत्) जिस (पदम्) ब्रह्मवाचक शब्द को (आमनन्ति) बार बार कहते हैं (तपांसि) यम नियम आदि सब प्रकार के तप (सर्वाणि) सब (च) भी (यत्) जिसको (वदन्ति) कहते हैं (यत्) जिसको (इच्छन्तः) चाहते हुए (ब्रह्मचर्य्यम्) ब्रह्मचर्य्य व्रत का (चरन्ति) आचरण करते हैं (तत्) वह (ते) तुझे (पदम्) पद (संग्रहेण) संक्षेप से (ब्रवीमि) बतलाता हूँ (ओम्) ओम् (इति) ऐसा (एतद्) यह है। अर्थात् (ओम्) परमात्मा का सर्व श्रेष्ठ नाम है।

भावार्थ—यमाचार्य्य कहते हैं—हे नचिकेता ! जिस शब्द को सारे वेद परमात्मप्राप्ति का साधन समझाने के लिए बार-बार

❀ तमेव विदित्वाति मृत्युमति (यजुर्वेद ३१।१८) उस ही परमात्मा को जानकर मृत्यु से बचता है।

कहते हैं, जिसके जानने के लिये वेदों ने सब प्रकार के तप और साधन बतलाये हैं यथा, अध्ययन काल में अनेक प्रकार का कष्ट-साध्य परिश्रम, अनन्तर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये नाना प्रकार के व्रत, यज्ञादि की सामग्री संग्रह करना, निष्काम परोप-कार कर्म्मों के द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध करके, उसको एकाग्र करने के लिये वैराग्य और अभ्यास के साधन को ठीक-ठीक करना रूप अनेक तप, जिसकी कामना से ब्रह्मचर्य्याश्रम धारण किया जाता है, अर्थात् इन्द्रियों को वश में करके ब्रह्म अर्थात् वेद के नियमों का पूरा-पूरा अनुसरण करते हुए वेदों की शिक्षा प्राप्त की जाती है, जिससे वह अज्ञानान्धकार का प्रतिबन्ध हटता जिसके होने से अपने भीतर रहने वाले परमात्मा को नहीं जान पाते। जिस प्रकार दर्पण से ही आंख और आंख में का अंजन दिखाई देता है इसी प्रकार मन के दर्पण द्वारा जीवात्मा और परमात्मा का ज्ञान हो सकता है, शुद्ध मन के बिना उसको नहीं देख सकते। किन्तु अन्धकारपूर्ण रात्रि में कुछ दिखाई नहीं देता। अतः जैसे चाहे दर्पण से आँख का सुरमा देखना हो या आंख से किसी अन्य वस्तु को प्रकाश की आवश्यकता होती है; अतः ब्रह्म-ज्ञान के लिये मन को भी वेदविद्या के प्रकाश की अपेक्षा है। जिसको उचित रीति से प्राप्त करने का साधन ब्रह्मचर्याश्रम जिसके अनुष्ठान के बिना वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। जिस पद के जानने के लिये ये सारे साधन बतलाये जाते हैं वह साधन संक्षेप में तुझे बताता हूँ। वह पद 'ओम्' में तीन अक्षर 'अ, उ, म्, हैं 'अ' से परमात्मा की व्यापकता, 'उ' से प्रकाशक होना और 'म्' से निश्चेष्ट प्रकृति को गति देने का ज्ञान, इसी प्रकार अन्य गुणों का ज्ञान भी 'ओम्' से हो जाता है। विशेष माण्डूक्योप-निषद् में देखिये ॥१५॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥

पदार्थ—(एतत्) यह 'ओम्' (हि) सचमुच (अक्षरम्) अविनाशी (ब्रह्म) ब्रह्म, सब से महान्, सर्वव्यापक है। (एतत्) यह (एव) ही (अक्षरम्) अक्षर (परम्) सर्वश्रेष्ठ है। (एतत्) इस (हि) ही (अक्षरम्) अक्षर=ओम् को (ज्ञात्वा) जान कर (यः) जो मनुष्य (यत्) जो (इच्छति) चाहता है (तस्य) उसको (तत्) वह प्राप्त होता है।

भावार्थ—यमाचार्य्य उपदेश करते हैं कि हे नचिकेता! ओम् अक्षर ही सबसे महान् और अविनाशी ब्रह्म है, यही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य, सबसे बढ़कर जानने योग्य और ज्ञान की अन्तिम काष्ठा=सीमा है। सारे साधन इसके ज्ञान के लिये ही अनुष्ठान करने आवश्यक होते हैं। जैसे मार्गका सब सामान उद्देश्य तक पहुँचने के लिये ही होता है, ऐसे ही शरीर,मन और इन्द्रिय यह सब पदार्थ 'ओम्' को जानने के लिये ही हैं। जैसे रसोई घर की सारी सामग्री का प्रयोजन उदरपूर्ति ही है, ऐसे ही समस्त साधनों की प्राप्ति का प्रयोजन भी परमात्मज्ञान ही है। जो मनुष्य इस अक्षर को जान जाता है अर्थात् जिसको परमात्मा का ज्ञान हो जाता है, उसकी जो जो इच्छा होती है, वह सब पूरी हो जाती है। 'ओम्' को जान लेने के बाद किसी पदार्थ की इच्छा का होना असम्भव सा है, क्योंकि लक्ष्य तक पहुँचने से पूर्व ही मार्ग के सब समान दृष्टिगोचर हो चुकते हैं, कोई ऐसा पदार्थ शेष नहीं रहता जिसकी कामना बनी रहे। इसी 'ओम्' अक्षर को सृष्टि के आरम्भ से ही लोग 'परम अक्षर' =प्रभु का सर्वश्रेष्ठ नाम कहते चले आये हैं। इस 'ओम्' के

ज्ञान से सब प्रकार का कष्ट अपने आप नष्ट हो जाता है*। सब सुखों का मूल यही 'ओम्' है। जो लोग 'ओम्' के उपासक हैं, उनको कष्ट क्लेश शोक भय से कोई संसर्ग नहीं रहता। जिस प्रकार जहाँ सूर्य्य का प्रकाश हो, वहाँ किसी तरह अन्धकार हो नहीं सकता, ऐसे ही जिस किसी ने 'ओम्' को जान लिया, उसको अविद्या किसी भाँति नहीं हो सकती। जहाँ अविद्या नहीं, वहाँ दुःख कैसे हो सकता है? अविद्या से रागद्वेष में प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति अर्थात् पुण्य पाप कर्म्मों के करने से पुण्य पाप के संस्कार होते हैं, पुण्य पाप संस्कारों से जन्म मरण होता है, जो महादुःख है। जहाँ अविद्या नहीं वहाँ रागद्वेष नहीं हो सकते, जहां रागद्वेष नहीं, वहाँ प्रवृत्ति=पाप पुण्य कर्म्मों का अनुष्ठान और तज्जन्य संस्कार नहीं, जहाँ पाप पुण्य के संस्कार नहीं, वहां जन्ममरण रूप दुःख कैसे उत्पन्न हो सकता है? अतः एक 'ओम्' के स्वरूप को यथार्थ रूप से जान लेना सब दुःखों से छूटने का उपाय है॥ १६॥

एतदालम्बनँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।

एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥१७॥

पदार्थ—(एतत्) ओम् की उपासना ही (आलम्बनम्) साधन (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ, सबसे उत्तम साधन है। (एतत्) यही (आलम्बनम्) साधन (परम्) उत्कृष्ट है। (एतत्) इस (आलम्बन) साधन को (ज्ञात्वा) जान कर, ज्ञानानुसार अनुष्ठान करके (ब्रह्मलोके) ब्रह्मदर्शन में (महीयते) महिमा को प्राप्त करता है, अर्थात ब्रह्मानन्द

---

* ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च (योगदर्शन साधनपाद) 'ओम्' के ज्ञान ध्यान से आत्मसाक्षात्कार तथा विघ्नों का संहार हो जाता है।

को प्राप्त करता है ।

भावार्थ—'ओम्' की उपासना ही मुक्ति का सबसे उत्तम साधन है । अन्य जितने साधन हैं वे सब ओम् की उपासना के योग्य बनने के लिये हैं । जैसे सबसे पहले ज्ञान की आवश्यकता है । ज्ञान से अज्ञान=अविद्या का नाश होता है, उपासना के मार्ग में अविद्या सब से बड़ी रुकावट है । कर्म्म की भी आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि निष्काम कर्म्म के बिना मन शुद्ध नहीं हो सकता । और मन=अन्तःकरण की शुद्धि के बिना 'ओम्' की उपासना सम्भव ही नहीं । अतः अन्य जितने साधन हैं वे सब इससे पहले होते हैं । ब्रह्म को जानने के लिये यह सबसे अन्तिम साधन है, जिसने इस साधन को जानकर अनुष्ठान कर लिया है, वह ब्रह्मलोक अर्थात् ब्रह्मदर्शन के आनन्द को प्राप्त होता है ॥१७

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥

पदार्थ—(न) नहीं (जायते) उत्पन्न होता (म्रियते) मरता (वा) अथवा (विपश्चित्) सर्वज्ञ परमात्मा (न) नहीं (अयम्) यह सर्वज्ञ परमात्मा (कुतश्चित्) किसी कारण से, (न) नहीं (बभूव) उत्पन्न हुआ, अर्थात् इसका कारण नहीं है यह स्वभाववत् है (कश्चित्) कोई, उसकी सन्तति नहीं । (अजो) जन्म रहित (नित्यः) नित्य=विनाशरहित (शाश्वतः) अनादि (अयम्) यह (पुराणः) पुराना होता हुआ सदा नया अर्थात् सर्वदा एकरस (न) नहीं (हन्यते) मारा जाता, नष्ट होता (हन्यमाने) नाश होने वाले (शरीरे) शरीर में ।

भावार्थ—यमाचार्य्य कहते हैं—नचिकेतः ! यह जीवात्मा

और परमात्मा न उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं। ज्ञानस्वरूप परमात्मा और चेतन जीवात्मा अन्य नहीं है, अतः इनका कोई उपादान कारण नहीं है जिससे इनकी उत्पत्ति मानी जाये। न ही ये किसी द्रव्य के उपादान कारण हैं। ये दोनों उत्पत्ति से रहित हैं, और स्वभाव से सत् हैं। इनमें से एक परमात्मा राजा है, अन्य जीवात्मा प्रजा है। ये सदा एक रस रहते हैं। अर्थात् छः विकारों से रहित रहते हैं। छः विकार ये हैं—(१) उत्पत्ति, (२) सत्ता, (३) विपरिणाम=परिवर्त्तन=आकार परिवर्त्तन, (४) वृद्धि=बढ़ना, (५) अपक्षय=ह्रास=घटना और (६) विनाश। ये विकारजन्य=संयोगज और उत्पन्न पदार्थों में होते हैं। जो कुछ उत्पन्न होता है, उस सबका एक कारण कोई न कोई कर्म=क्रिया होती है, क्रिया से दो गुण उत्पन्न होते हैं एक संयोग दूसरा विभाग। दो के मिलने में संयोग होता है, अकेले में संयोग नहीं होता, जहाँ संयोग ही न हुआ हो, वहाँ विभाग भी नहीं हो सकता। संयुक्त पदार्थों में ही विभाग हो सकता है। संयोग से संयोगज पदार्थों की उत्पत्ति होती है, वियोग से संयोगज पदार्थ के अवयव एक दूसरे से विघटित हो जाते हैं। किंतु एक अखण्ड में न तो संयोग है और न विभाग। अतः उत्पत्ति और नाश शरीर का धर्म है, शरीर नाश से इसमें रहने वाले जीव और ब्रह्म का नाश नहीं होता, और न शरीर की उत्पत्ति से उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न—जब कि जीव और ब्रह्म शरीर में रहते हैं तब उनका शरीर से संयोग क्यों न माना जाय। और जब जीव शरीर को छोड़ता है तब उसमें विभाग भी क्यों न माना जाय?

उत्तर—यहाँ हम उस संयोग की चर्चा कर रहे हैं जो कर्म्म का परिणाम होता है। ब्रह्म सब ओर से पूर्णकाम है, उसे

किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये कोई कर्म्म नहीं करना पड़ता, अतः उसमें कर्म्मज संयोग मानना उचित नहीं [सर्वव्यापक होने से वह सब के साथ संयुक्त है और सभी संयोग उसके आश्रय हैं] जीव का शरीर के साथ संयोग अवश्य है किन्तु जीव और शरीर के संयोग से कोई नया पदार्थ नहीं बनता। यहाँ संयोग विभाग से तात्पर्य्य उपादान कारण में निमित्त कारण के द्वारा किये जाने वाले संयोग विभाग हैं। ब्रह्म और जीव किसी द्रव्य का उपादान कारण नहीं। अतः इनमें संयोग विभाग के न होने से उत्पत्ति आदि छः विकार भी नहीं हैं। ये विकार शरीर में ही होते हैं, ब्रह्म और जीव इन विकारों से रहित हैं। जब तक इन ब्रह्म और जीवों से अतिरिक्त कोई उपादान कारण* न हो, जिस पर इनके कर्म्म का प्रभाव हो तब तक शरीर उत्पन्न ही नहीं हो सकता।

प्रश्न—समस्त मतवादियों का तो यह मत है कि एक खुदा=परमात्मा ही स्वभावसत् है, दूसरा कोई पदार्थ स्वभावसत् है ही नहीं, तब संसार की उत्पत्ति खुदा=परमेश्वर के बिना कैसे हो सकती है ?

उत्तर—खुदा का अर्थ है स्वभावसत्, यह शब्द 'खुद और आ' का संक्षिप्त रूप है। खुदा स्वभावसत्=त्रैकालिकसत् पदार्थों में से एक है। इसका भाव यह है कि हरएक कारण खुदा अर्थात् स्वभावसत् है। क्योंकि कादाचित्क सत् [जो किसी समय हो और किसी समय न हो] तो पर-सापेक्ष होता है, परतन्त्र होता है, वह दूसरे के रचे बिना बन नहीं सकता। अतः उपादान कारण खुदा अर्थात् स्वभावसत्=तीनों कालों में रहने

* उपादान कारण आदि की व्याख्या के लिये केनोपनिषत् की टिप्पणी देखिये।

वाला है। कर्त्ता भी खुदा=स्वभावसत् है। प्रयोजक कारण= जीवात्मा भी, खुदा=स्वभाव सत् है। सर्व कार्य्यों का ज्ञान रूप कारण भी खुदा=नित्य है क्योंकि परमात्मा का ज्ञान नित्य होता है। यह त्रिकालाबाधित जाति खुदा है, अर्थात् संसार के सब कारण नित्य हैं। एक वचन का प्रयोग जाति और व्यक्ति दोनों के लिये होता है। जैसे—मनुष्य मरणधर्मा है। यहाँ 'मनुष्य' शब्द एक वचन है, किन्तु इसका अर्थ मनुष्य जाति मात्र है न कि कोई एक व्यक्ति। अतः यह चारों कारण खुदा= स्वभावसत्=तीन कालों में रहने वाले सत् पदार्थ की जाति के व्यक्ति हैं। कर्त्ता=निमित्त कारण ज्ञानस्वरूप परमात्मा है। उपादान कारण प्रकृति है। प्रयोजक कारण [जिसके लिये कार्य्य रचे जाते हैं] जीव है। सकल कार्य्य साधन भूत ज्ञान परमात्मा का ज्ञान है।

यह नियम है कि गुणी से=द्रव्य से गुण पैदा नहीं होते, और न ही गुणों से गुणी की उत्पत्ति होती है। यतः सकल कार्य्य साधन-भूत ज्ञान परमात्मा का गुण है, अतः ब्रह्म जीव और प्रकृति ये तीन अनादि तो द्रव्य हैं, शेष इनके धर्म्म। ईश्वर का ज्ञान गुण संसार का ज्ञानमय कारण है। भोले भाले लोगों ने 'खुदा' शब्द के साथ प्रयुक्त एकवचन को जो जातिपरक था, व्यक्तिपरक मान कर उसे ऐसा बना दिया, जिससे उसकी पवित्र सत्ता पर अनेक प्रकार के आक्षेप होने लगे। किसी ने उसको विकारवान् बनाया, क्योंकि यदि वह संसार का उपादान कारण है, तो किसी भी अवस्था में संयोग विभाग के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता। स्वतन्त्र पर संयोग विभाग का प्रभाव नहीं होता, परतन्त्र, परवश पर होता है। यदि खुदा=परमात्मा उपादान कारण है तो अवश्य परतन्त्र है। कर्त्ता का स्वतन्त्र

होना आवश्यक है× । परतन्त्रता और स्वतन्त्रता परस्पर विरुद्ध हैं, जिनका एक पदार्थ में एक समय में होना असम्भव है । यदि कहो कि इनको दोष स्वीकार करके उपेक्षा से ले लेंगे, जैसा कि जीव कर्म्म करने में स्वतन्त्र, परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है । यह सम्भव नहीं, परमात्मा एक है, और वह एक-रस है÷ ॥१८॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तु हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

पदार्थ—(हन्ता) मारने वाला, गति देने वाला, (चेत्) यदि (मन्यते) मानता है (हन्तुम्) मारने को अर्थात् मैं आत्मा को मार सकता हूँ (हतः) मरा हुआ (चेत्) यदि (मन्यते) मानता है (हतम्) मरा हुआ । तो (उभौ) दोनों—अपने आपको मरने और मारने वाला समझने वाले (तौ) वे (न) नहीं (विजानीतः) जानते । [अर्थात् जो लोग यह मानते हैं कि आत्मा मर सकता है या मार सकता है, वे दोनों आत्मा के स्वरूप को नहीं जान सकते ।] (न) नहीं (अयम्) यह जीवात्मा और परमात्मा (हन्ति) मारता है और (न) नहीं (हन्यते) मारा जाता है ।

भावार्थ—जब कोई मनुष्य मरता है तो लोग कहते हैं इसे ईश्वर ने मार दिया अथवा अमुक ने इसकी हत्या कर दी । ऐसा विचार मूर्खों का है । क्योंकि ईश्वर अपनी कामना से कोई

× स्वतन्त्र ही कर्त्ता होता है जैसे पाणिनि जी ने भी कहा—'स्वतन्त्रः कर्त्ता ।'

÷ तात्पर्य यह है कि जिस समय जीव कर्म्म कर रहा है, फल नहीं भोग रहा, किन्तु परमात्मा सदा सृष्टि रच रहा है, अतः उसमें परतन्त्रता और स्वतन्त्रता नहीं रह सकती ।

कार्य्य नहीं कर रहा जिससे उसे मारने वाला कहा जा सके, वह तो स्वभाव से कर्त्ता है❀। जिसके जैसे कर्म्म हैं, उसको ईश्वरीय न्याय के अनुसार वैसा फल मिलता है अर्थात् जिसके कर्म मरने के हैं, वह ईश्वर के न्याय नियम के अनुसार मरेगा। जिसके कर्म अभी मृत्यु के योग्य नहीं वह नहीं मरेगा। मरना जीना तो अपने अपने कर्मों का फल है। अतः ईश्वर को मारने वाला कहना अज्ञान की बात है। जीव में किसी को मारने की शक्ति नहीं। अतः जीव और ब्रह्म को मारने वाला समझना अज्ञान है। आत्मा को मारने वाला समझने वाले अज्ञानी हैं। आत्मा न तो मरता है और न किसी को मारता है।

जीवात्मा और परमात्मा दोनों का सम्मिलित निरूपण करके अब केवल परमात्मा का वर्णन करते हैं—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥२०॥

पदार्थ—(अणोः) सूक्ष्म से भी (अणीयान्) अधिक सूक्ष्म (महतः) महान् से भी (महीयान्) अधिक महान्, महत्तर (आत्मा) व्यापक परमात्मा (अस्य) इस (जन्तोः) प्राणी के, जीव के भीतर (निहितः) स्थित है (गुहायाम्) बुद्धि रूपी गुफा में (तम्) उसको (अक्रतुः) निष्काम कर्म्म करने वाला (पश्यति) देखता है (वीतशोकः) हर्षशोक से रहित, वीतरागद्वेष (धातुः) सत्यासत्य के विवेक को धारण करने वाली मेधा बुद्धि की (प्रसादात्) कृपा से स्वच्छता से

❀ स्वाभाविकी तस्य ज्ञानबलक्रिया च (श्वेताश्वतरोपनिषत्) परमात्मा की ज्ञान, शक्ति और क्रिया स्वाभाविक हैं।

(महिमानम्) महत्त्व को (आत्मनः) आत्मा के* ।

भावार्थ—परमात्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। यह नियम है कि सूक्ष्म के भीतर स्थूल के गुणों का प्रवेश नहीं हो सकता, और कि स्थूल के अन्दर सूक्ष्म के गुण आ सकते हैं। सबसे सूक्ष्म होने के कारण परमात्मा में किसी के गुणों का संक्रमण नहीं हो सकता। सूक्ष्मतम होने से वह सबके अन्दर है और महान् से महान् होने के कारण सभी पदार्थ उसके भीतर हैं। अतः उसके राज्य से या उससे बाहर कोई भाग कर नहीं जा सकता। वह प्रत्येक मनुष्य के भीतर उसके सङ्कल्पों को देख रहा है। मनुष्य अज्ञान से समझता है कि वह छिपकर पाप कर रहा है किन्तु दण्डदाता उसके भीतर रहता हुआ उसे देख रहा है। उससे हमारा कोई कर्म्म नहीं छिप सकता अतः हम मिथ्या साक्षियों या वकीलों की सहायता से उसके दण्ड से नहीं बच सकते। वह अपनी इच्छा से किसी को सुख-दुःख नहीं देता, वह तो दयालु और न्यायकारी है। उसका न्याय सबके लिये समान है। वह किसी को मित्र और शत्रु नहीं जानता। उसके राज्य में किसी प्रकार का अन्याय नहीं हो सकता। वह स्वभाव से कर्म्मफल-दाता है। शिफाअत या किफारा* का वहाँ कोई काम नहीं।

---

* 'धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः' का अर्थ अनेक विद्वान् यह करते हैं (धातुः) परमात्मा की (प्रसादात्) कृपा से (आत्मन + महिमानम्) आत्मा के महत्त्व को समझता है। जैसा कि योगदर्शन में 'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमो प्यन्तरायाभावाश्च' कहा है कि प्रभु के 'ओम्' नाम के जाप से आत्मा की प्राप्ति और विघ्नों का नाश होता है।

* मुसलमान मानते हैं जो उसके नबी पर ईमान लाये, चाहे फिर वह कैसे ही कुकर्म्म क्यों न करता रहे, कयामत=प्रलय के दिन

जो लोग संसार की चिन्ताओं से स्वतन्त्र होकर मन को शुद्ध कर लेते हैं, वही मेधा बुद्धि के द्वारा इसके दर्शन कर सकते हैं। जिसके मन में किसी प्रकार का दोष है या जिनका चित्त सांसारिक चिन्ताओं से आक्रान्त है, उनको इसका ज्ञान नहीं हो सकता।

प्रश्न—उपनिषत् ने इसे 'अणोरणीयान्'=छोटे से अधिक छोटा कहा है। आपने इसका अर्थ सूक्ष्म से अधिक सूक्ष्म कैसे किया ?

उत्तर—अणु से उपनिषत् का तात्पर्य्य सूक्ष्म है। क्योंकि जो सबसे छोटा है, वह बड़ों से बड़ा=महान् से अधिक महान् नहीं हो सकता। अतः 'वह छोटों से अधिक छोटा है' यह अर्थ उचित नहीं, वरन् 'वह सूक्ष्म से भी अधिक सूक्ष्म है' यह अर्थ सङ्गत है।

प्रश्न—उपनिषद् ब्रह्म को अकर्ता मानती है, तुम स्वभाव से कर्त्ता मानते हो।

उत्तर—उपनिषद् का तात्पर्य्य 'अकर्त्ता' कहने से 'इच्छापूर्वक कर्तृत्व के निषेध' में है। क्योंकि दूसरे उपनिषत् में उसे स्वाभाविक कर्त्ता कहा गया है। यदि यहाँ उसके कर्त्ता होने का=कर्तृत्व का खण्डन किया जाये तो युक्त नहीं है। क्योंकि परमात्मा को सभी, जगत् का उत्पन्न करने वाला, धारण करने वाला और नाश करने वाला स्वीकार करते हैं।

न्याय के समय उनके पैगम्बर उसकी सिफारिश करेंगे, और वह स्वर्ग में जायेगा। पैगम्बर की इस कृपा को शिफाअत कहते हैं। ईसाई कहते हैं कि उनके ईसा जी सब के पापों को लेकर बलिदान हो गये हैं, अतः उन पर विश्वास करने वाले को स्वर्ग मिलेगा।

प्रश्न—मन की शुद्धि के लिये सांसारिक चिन्ताओं से रहित होने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—जीवात्मा कर्म्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र है। जो लोग इस बात को समझ लेते हैं कि भोग प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं वे सदा शुभ कर्म्मों के करने में लगे रहते हैं। यदि भोग प्राप्ति की चिन्ता रहे तो संसार का उपकार नहीं हो सकता। अतः संसार के उपकार के लिये भोग की चिन्ता से छूटना आवश्यक है। भोग की चिन्ता अविद्या है जहाँ अविद्या है वहाँ विद्या नहीं आ सकती। जैसा कि कहा है —

परमात्मा और ससार को एक साथ चाहना व्यर्थ और पागलपन का चिह्न है ॥२०॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२१॥

पदार्थ—(आसीनः) स्थित, निश्चेष्ट (दूरम्) दूर (व्रजति) जाता है [जहां कोई जाता है, वहां पहले ही उसे पाता है, अर्थात् गति रहित होकर भी गति वालों से मानो अधिक गति वाला है] (शयानः) (स्वप्नावस्था में तमोगुण के आवरण से तिरोहित (याति) जाता है, [मन की गति से, शरीर के अन्दर स्थित होता हुआ भी गतिमान् प्रतीत होता] (सर्वतः) सब स्थानों में (कः) कौन (तम्) उस (मदामदम्) अपने आनन्द से पूर्ण विषयों से रहित (देवम्) प्रकाश-स्वरूप को (मदन्यः) मेरे बिना (ज्ञातुम्+अर्हति) जान सकता है ।

भावार्थ—अब यमाचार्य्य नचिकेता के हृदय में श्रद्धा को दृढ़ करने के विचार से, ताकि वह उसकी शिक्षा से लाभ प्राप्त कर सके, कहते हैं। हे नचिकेता ! यद्यपि परमात्मा गतिशून्य है,

गति उस वस्तु में होती है जो एक स्थान पर हो और दूसरे में न हो, परमात्मा तो सदा ही सर्वत्र विद्यमान है, अतः वह वहाँ और कैसे गति करे, तो भी वह इतना महान् है कि कहीं चले जाओ वह आपको वहाँ पहले से विद्यमान मिलेगा। और जिसकी व्यवस्था से स्वप्नदशा में तमोगुण के कारण आवरण में आने के कारण, शरीर के अन्दर रहता हुआ यह जीवात्मा सब जगह जाता प्रतीत होता है। जो अपने आनन्द से परिपूर्ण है, संसार विषयों को नहीं भोगता, आनन्दपरिपूर्ण और सुख भोगलिप्सारहित उस परमात्मा को मेरे अतिरिक्त कौन जान सकता है। तात्पर्य्य यह है कि मैंने परमात्मा को जान लिया है।

प्रश्न—केनोपनिषत् में तो यह सिद्ध किया गया है कि जो कहता है मैं परमात्मा को जानता हूँ, वह नहीं जानता; और जो कहता है कि मैं नहीं जानता, वह जान सकता है। यमाचार्य्य ने उसके विपरीत कहकर अभिमान क्यों किया ?

उत्तर—यमाचार्य्य ने अभिमान नहीं किया, वरन् नचिकेता की श्रद्धा दृढ़ करने लिये कहा कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ ॥२१॥

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥

पदार्थ—(अशरीरम्) स्थूल सूक्ष्म शरीर रहित परमात्मा (शरीरेषु) प्रत्येक शरीर में (अनवस्थेषु) स्थिर न रहने वाले (अवस्थितम्) अवस्थित है, स्थिर है अर्थात् शरीर नाश से उसका नाश नहीं होता (महातम्) सबसे महान् (विभुम्) विभु=व्यापक [जिसका प्रत्येक मूर्त्त द्रव्य के साथ संयोग है अर्थात् जिससे कोई वस्तु दूर नहीं] (आत्मानम्) सर्वव्यापक परमात्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) ध्यानाभ्यासी, धैर्य्यवान् (न) नहीं (शोचति) शोक करता है, फिर दुःख को प्राप्त करता है।

भावार्थ—यद्यपि परमात्मा का कोई शरीर नहीं है अर्थात् न उसका सूक्ष्म शरीर है और न स्थूल, तथापि वह प्रत्येक शरीर में रहता है। यद्यपि वह गतिमान् जगत् के अन्दर रहता है तथापि वह गतिरहित है। उसके महत्त्व की सीमा नहीं है, वरन् वह सब से महान् है। संसार का कोई पदार्थ नहीं, जो उस से बाहर हो। वह हर एक के अन्दर बाहर विद्यमान है। अन्दर होने के कारण, हम किसी कर्म्म को उससे छिपा कर नहीं कर सकते; और बाहर सर्वत्र होने से उसके राज्य से भाग कर कहीं जा नहीं सकते। जब तक हमें इस तत्व का ज्ञान नहीं होता तभी तक हम पापकर्म करते हैं। जहां इसका ज्ञान हुआ कि पाप करने का सामर्थ्य ही नहीं रहता। जीव को पाप से स्वाभाविक भय लगता है। ज्यों ही पाप का विचार आता है, त्यों ही भीतर से भय, शङ्का और लज्जा आ घेरते हैं। भला जो मनुष्य पोलीस के एक सिपाही की उपस्थिति में अपराध करने से डरता है, वह दण्ड-दाता के सर्वत्र विद्यमान होने का ज्ञान होने पर कैसे पाप कर सकता है। मनुष्य जानता है कि पोलीस के सिपाही को रिश्वत देकर उससे बचा जा सकता है, झूठे गवाहों के सहारे से बचन की आशा हो सकती है, वकीलों की सहायता से राजनियम के दण्ड से बचने की सम्भावना हो सकती है। इतनी आशा के होते भी जब मनुष्य पोलीस की उपस्थिति में अपराध का साहस नहीं करता, तब यदि उसे पूर्ण निश्चय हो कि सर्वव्यापक परमात्मा अवश्य दण्ड देगा, उसको रिश्वत देकर भी अनुकूल नहीं किया जा सकता, चालाक से चालाक वकील भी कानून की लपेट सें नहीं बचा सकता तब मनुष्य कैसे पाप कर सकता है ? जब पाप न करे तो शोक अर्थात् चिन्ता और भय किस प्रकार हो सकते हैं ॥ २२ ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥ २३ ॥

पदार्थ—(न) नहीं (अयम्) यह आत्मा=सारे संसार में व्यापक परमात्मा (प्रवचनेन) उपदेश करने से (लभ्यः) मिल सकता है (न) नहीं (मेधया) बुद्धि से (न) नहीं (बहुना) बहुत (श्रुतेन) सुनने से, पढ़ने से। (यम्) जिसको (एषः) यह आत्मा (वृणुते) चुनता है (तेन) उसको (लभ्यः) मिल सकता है। (तस्य) उसको (एषः) यह (आत्मा) परमात्मा (विवृणुते) प्रकट कर देता है (तनूम्) विस्तार को (स्वाम्) अपने।

भावार्थ—परमात्मा बहुत व्याख्यान करने और व्यवस्थायें देने से नहीं मिल सकता, न ही वह केवल बुद्धि से जाना जा सकता है और न ही बहुत से ग्रन्थों के पढ़ने या गुरु से सुनने से इसको कोई जान सकता है। जिसको अधिकारी जान कर परमात्मा उस पर अपने स्वरूप का प्रकाश कर देता है, उसी को ज्ञान हो सकता है। अर्थात् ब्रह्मश्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के उपदेश से ब्रह्मज्ञान हो सकता है। जो लक्ष्य पर पहुँच चुका है, वह आप्त कहलाता है, यदि उसके कहे के अनुसार आचरण किया जाये तो परमात्मा का प्रकाश प्रकट होता है। जब तक परमात्मा अपने स्वरूप का प्रकाश न करे, तब तक कोई उसको नहीं देख सकता। जैसे सूर्य्य जब तक अपने स्वरूप का प्रकाश नहीं करता, तब तक आँख उसको दूसरे की सहायता से भी नहीं देख सकती। ऐसे ही जीवात्मा परमात्मा को परमात्मा की सहायता से ही देख सकता है। दूसरे की सहायता से उसका जानना असंभव है॥ २३॥

नाविरतो दुश्चरितान्नशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२४॥

पदार्थ—(न) नहीं (अविरतः) न हटा हुआ (दुश्चरितात्) दुराचार से, पाप कर्मों से, (न) नहीं (अशान्तः) अशान्त (न) नहीं (असमाहितः) असावधान अथवा जिसकी शङ्काओं का समाधान नहीं हुआ, ऐसा संशयात्मा (न) नहीं (अशान्त-मानसः) चंचल चित्त वाला (वा) या (अपि) भी (प्रज्ञानेन) लौकिक ज्ञान के द्वारा (एनम्) इसको (आप्नुयात्) पा सकता है ।

भावार्थ—जिसका मन दुराचार में लीन हो, अर्थात् जिसके मन में ज्ञान का प्रकाश ठीक-ठीक न पड़ता हो, जिसके भीतर शान्ति न हो, जो चिन्ता से अत्यन्त व्याकुल हो, जिसको निश्चयात्मक ज्ञान न हो, बात बात में जिसे सन्देह होता हो, शङ्का के मारे जो एक पग भी न उठा सके, जिसका मन ऐसा चञ्चल हो कि एक क्षण भी स्थिर न हो, ऐसा मनुष्य बहुत कहने सुनने से, लौकिक ज्ञान के द्वारा परमात्मा को नहीं जान सकता । परमात्मा को जानने के लिये मन का दर्पण स्वच्छ, स्थिर और निरावरण होना चाहिये । कोई भीरु, स्वार्थी, झूठा, दुराचारी मनुष्य परमात्मज्ञान का अधिकारी नहीं है । न ही परमात्मा अहङ्कारियों को दिखाई दे सकता है । जिसके मन में निश्चयात्मक ज्ञान नहीं, वह किसी अवस्था में कर्म नहीं कर सकता । यदि किसान को शक हो कि खेत बोने योग्य है या नहीं, तो उस खेत में वह कभी बीज नहीं बोता । कोई भी मनुष्य सन्दिग्धज्ञान की दशा में कोई कर्म्म नहीं करता । अतः जब तक ब्रह्मज्ञान के मार्ग में जो रुकावटें हैं वे दूर न हो जायें तब तक मनुष्य ब्रह्म को नहीं जान सकता । किसी अत्यन्त

समीपवर्ती पदार्थ के देखने के लिये पाँच प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है--प्रथम दर्पण, द्वितीय प्रकाश, तृतीय दर्पण की स्वच्छता, चतुर्थ दर्पण की स्थिरता, पञ्चम उस वस्तु और दर्पण के बीच में किसी प्रकार का आवरण का न होना। इस प्रकार ब्रह्मदर्शन के लिये—मन रुपी दर्पण, वेदज्ञान, अन्तःकरण या मन की शुद्धि, मन की निश्चलता और उस पर अज्ञान रूप आवरण का न होना अपेक्षित है। चारों आश्रमों को विधिपूर्वक करने से अथवा वैराग्य अभ्यासादि साधनों के द्वारा यह रुकावट दूर होकर ब्रह्मज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥ २४ ॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम् ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥२५॥

पदार्थ—(यस्य) जिस परमात्मा का (ब्रह्म) ब्राह्मण अर्थात् ज्ञान (च) और (क्षत्रम्) क्षत्रिय अर्थात् बल (च) भी (उभे) दोनों (भवतः) होते हैं (ओदनम्) भात (मृत्युः) शरीर और आत्मा का वियोग (यस्य) जिसका (उपसेचनम्) व्यंजन, भात में डालने योग्य घृत आदि। (कः) कौन (इत्था) इस भांति (वेद) जानता है (यत्र) जहां (स) वह है।

भावार्थ—जो परमात्मा प्रलय के समय बल और ज्ञान अर्थात् क्षत्रिय ब्राह्मण को अपने अन्दर कर लेता है। ब्राह्मण उस के दिये वेदज्ञान से महत्त्व प्राप्त करते हैं। वेद परमात्मा का ज्ञान है, वह तो उसी के भीतर ही प्रविष्ट होगा। जब वेद परमात्मा के भीतर चला गया तब ब्राह्मण कोई कैसे रहा ? क्षत्रियों में जो बल है, वह परमात्मा की देन है। जब परमात्मा ने अपने बल को बाहर जाने ही न दिया, तो क्षत्रिय कैसे हो सकते हैं ? मृत्यु ही इनको परमात्मा के भीतर प्रवेश करा रही है। मृत्यु

प्रत्येक ब्राह्मण क्षत्रिय का नाश करके, विद्या और बल को पर-मात्मा के अन्दर प्रवेश करा रही है।

किस स्थान पर परमात्मा है ? कौन जान सकता है कि परमात्मा कहाँ है ? 'कहाँ' का प्रयोग तो परिच्छिन्न के लिये होता है। परमात्मा अपरिच्छिन्न है। उसके सम्बन्ध में 'कहाँ' शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। परमात्मा के सर्वत्र होने से यह जानना कि वह कहाँ है बहुत ही कठिन है॥

॥ कठोपनिषत् की द्वितीय वल्ली समाप्त ॥

अथ कठोपनिषत्-तृतीयवल्ली प्रारम्भ

ऋतंपिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१॥

पदार्थ—(ऋतम्) ऋत=तत्वज्ञान [जो पदार्थ जैसा हो, उसे वैसा जानना ऋत=तत्वज्ञान कहलाता है] (पिबन्तौ) भोगते भोगवाते हुए जीवात्मा तथा परमात्मा (सुकृतस्य) शुभ कर्म का [जीवात्मा अपने किये कर्म का फल भोगता है और परमात्मा फल भोगवाता है] (लोके) इस देह में (गुहाम्) बुद्धि के भीतर (प्रविष्टौ) प्रविष्ट हुए (परमे) परम, श्रेष्ठ (परार्द्धे) हृदयाकाश में (छायातपौ) छाया और आतप की भाँति [अल्पज्ञ जीव को छाया से उपमा दी है, और सर्वज्ञ ब्रह्म को आतप से] (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता= वेदवेता (वदन्ति) बतलाते हैं (पंचाग्नयः) पंचाग्नि-विद्या के विद्वान्, पाँचों इन्द्रियों के विषयों से रहित महात्मा वानप्रस्थ (ये) जो (च) और (त्रिणाचिकेताः) जिन्होंने तीन वार नाचिकेताग्नि का चयन किया है ऐसे गृहस्थ।

भावार्थ — गृहस्थ और वानप्रस्थ, जिन्होंने पाँचों इन्द्रियों को वश में किया है या कर्म्मकाण्ड के लिये तीन अग्नियों का चयन किया है, कहते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा साथ-साथ रहते हैं। वे स्वकर्मफल भोक्ता जीव को, जब वह बुद्धि में प्रविष्ट होकर मन की वृत्तियों को अन्तर्मुख करता है, अर्थात् बाह्य विषयों से बेसुध हो जाता है, तब समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति की दशा में शरीर में सर्वश्रेष्ठ स्थान-हृदयाकाश–में ब्रह्म को जानते हैं। जीव छाया समान है, ब्रह्म धूप समान है। जीव अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ है। जीव-ब्रह्म में देशकृत या कालकृत दूरी नहीं है। ब्रह्म की खोज में किसी दूर देश में जाने की आवश्यकता नहीं है, केवल मन की वृत्तियों को बाहर से हटा कर भीतर ले जाने की आवश्यकता है। इस दृश्य को कि बहिर्मुख होने अर्थात् प्रकृति की उपासना से दुःख और अन्तर्मुख होने अर्थात् परमात्मा की उपासना से सुख मिलता है, जाग्रत तथा सुषुप्ति की दशा में दिखा कर परमात्मा हमको प्रतिदिन उपदेश करता है। यह सब को प्रत्यक्ष है कि जागने पर सब दुःख भाग जाते हैं। इसको देखकर भी यदि कोई न समझे तो इससे बढ़कर मूर्खता और क्या होगी ॥१॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम् ।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतँ शकेमहि ॥२॥

पदार्थ—(यः) जो (सेतुः) सेतु=पुल (ईजानानाम्) यज्ञ करने वालों का (अक्षरम्) नाश रहित (ब्रह्म) परमात्मा (यत्) जो (परम) सबसे सूक्ष्म और सबसे बड़ा है (अभयम्) भयरहित (तितीर्षताम्) तरने की इच्छा रखने वाले विद्वानों का (पारम्) पार, दूसरा तीर (नाचिकेतम्) नाचिकेत को (शकेमहि) हम कर सकें, जान सकें।

भावार्थ—यज्ञ करने वाले मनुष्यों को इस भवसागर से पार उतारने के लिये पुल के समान जो परमात्मा है, जो नाश-रहित और सबसे महान् है, जो हमें इस भयपूर्ण भवसागर से पार करने में समर्थ है, जो चेतनस्वरूप है, उस सर्वज्ञ के विधान के विरुद्ध जो मनुष्य कार्य्य करता है, वह कभी सुख नहीं पा सकता। समस्त संसार को धोखा दिया जा सकता है, किन्तु परमात्मा को कोई भी धोखा नहीं दे सकता, वह प्रत्येक वस्तु के अन्दर व्यापक होने से प्रत्येक की चेष्टा का स्वयं साक्षात्कार कर रहा है, अतः उसे किसी साक्षी की अपेक्षा नहीं है। जब उसने स्वयं साक्षात कर लिया, तो अन्य साक्षियों का क्या उपयोग ? अतः भयपूर्ण भवसागर से पार उतरने के लिये, परमात्मा के आदेशानुसार दूसरों को सुख पहुँचाने वाले यज्ञ करने चाहिये ॥२॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥

पदार्थ—(आत्मानम्) आत्मा को या अपने आप को (रथिनम्) रथारूढ=रथ पर सवार (विद्धि) समझ (शरीरम्) शरीर को (रथम्) रथ (एव) ही (तू) तो (बुद्धिम्) बुद्धि को (तु) तो (सारथिम्) सारथि (विद्धि) जान (मनः) मन को (प्रग्रहम्) लगाम (एव) ही (च) और।

भावार्थ—यह शरीर एक रथ है जिस पर बैठ कर जीवात्मारूपी सवार अपने लक्ष्य-ओम् प्राप्ति-की सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है। रथ तो सारथि=कोचवान् के बिना चल नहीं सकता। इस शरीर रूपी रथ का सारथि बुद्धि है। जिस रथ का सारथि चतुर हो, वह रथ उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। जिस गाड़ी

का सारथि शराबी हो,उस गाड़ीके गड्ढे में गिरनेकी पूरी संभावना रहती है। इसी भांति जिस मनुष्य की बुद्धि विमल है, वह मनुष्य जीव के उद्देश्य को पूरा कर सकता है। जिसकी बुद्धि भ्रष्ट है, वह बार बार नीच योनियों में जन्म लेता है व अविद्या में फंसकर बुराई को भलाई और भलाई को बुराई समझता हुआ इस जन्म को अकारथ कर देता है। जैसे गाड़ी के घोड़ों या यन्त्रों की कलों को वश में रखने के लिये, घोड़े के मुख में लगाम या यन्त्र में ब्रेक की आवश्यकता होती है; ऐसे ही इस शरीर-रथ के सारथि बुद्धि के पास मन रूप प्रग्रह=लगाम या ब्रेक है। यदि मन बुद्धि के वश में रहता है तो सब कार्य्य ठीक चलता है। यदि मन बिगड़ जाता हैं, और बुद्धि के वश से बाहर हो जाता है तो समस्त दोष आ घेरते हैं। इस रूपक में यह सिद्ध किया गया है कि जब मनुष्य का मन और बुद्धि संयत हो तभी वह सफलता प्राप्त कर सकता है। यदि मन में दोष हैं अर्थात् मन मलिन है या चंचल है, तो शरीर-रथ किसी प्रकार भी लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। यदि बुद्धि सारथि के पास विद्या-प्रकाश नहीं है, तो वह इसे कुमार्ग में डालकर नष्ट कर देता है॥३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥४॥

पदार्थ—(इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियों को (हयान्) घोड़े (आहुः) कहते हैं। (विषयान्) इन्द्रियों के विषयों को (तेषु) इनके (गोचरान्) मार्ग [जिनमें घोड़ों द्वारा रथ चलते हैं] [आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्] मन और इन्द्रियों से युक्त आत्मा को [भोक्ता,+इति] भोक्ता, भोगने वाला [आहुः] कहते हैं [मनीषिणः] मन को शुद्ध करके वश में रखने वाले।

भावार्थ—जब शरीर को गाड़ी, बुद्धि को सारथि और मन को लगाम बतलाया, तो प्रश्न होता है कि घोड़े कौन हैं जिन्हें चलाने के लिये सारथि तथा लगामों की आवश्यकता है। उसके उत्तर में कहते हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, रसना तथा त्वचा, और पाँच कर्म्मेन्द्रियाँ—हाथ, पाँव, जिह्वा, मलेन्द्रिय तथा मूत्रेन्द्रिय, यह दश इन्द्रियाँ शरीररूपी रथ में सवार जीव को ज्ञान और कर्म्म के मार्ग में ले जाती हैं। इन्द्रियों के जितने विषय हैं, वह इनके मार्ग हैं। आत्मा का जब मन और इन्द्रियों से संयोग होता है, तब ज्ञानी जन आत्मा को भोक्ता कहते हैं। यदि मनुष्य इस रूपक को ठीक ठीक समझ ले, तो वह संसार में भ्रमग्रस्त नहीं हो सकता। जब यह निश्चय हो गया कि शरीर गाड़ी है और आत्मा गाड़ी में बैठ कर लक्ष्य की ओर जाने वाला है, तब यदि मनुष्य को यह ज्ञान न हो कि इस रथ में बैठ कर उसे कहाँ जाना है तो ऐसे मनुष्य को कौन बुद्धिमान् मानेगा। यदि रथ लक्ष्य की ओर चल रहा है, तो उन्नति हो रही है। यदि लक्ष्य से विपरीत दिशा की ओर रथ की गति है तो प्रतिक्षण लक्ष्य के अधिक दूर होते जाने से अवनति हो रही है। जिसे लक्ष्य का ही ज्ञान नहीं, उसे उन्नति या अवनति का बोध कैसे हो सकता है ?

सभी जानते हैं कि गाड़ी को अपना बतलाने वाले दो होते हैं, एक रईस=रथ का स्वामी, दूसरा साईस=सारथि। एक रथ-स्वामी के पाँच रथ हैं, प्रत्येक रथ का सारथि उस रथ को अपना बतलाता है, रथ स्वामी अपना बतलाता है। यदि सारथि=रथवान् से पूछा जाये, रथ से तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ? तुम रथ क्यों रखते हो ? वह कहता है कि मेरा सम्बन्ध रथ से इतना है कि गाड़ी खूब साफ सुथरी रखी जाये, घोड़ों

को अच्छी तरह खिला पिला कर पुष्ट रखा जाये। ऐसे ही यदि शरीर-रथ के कोचवानों से पूछा जाये तुम्हारे जीवन का उद्देश्य क्या है तो वे स्पष्ट उत्तर देंगे कि 'खाना, पीना तथा आनन्द करना' परलोक की परमात्मा जाने। इस समय तो जीवन चैन से बीतता है। इन्द्रियों के विषय खूब भोगना, अर्थात् घोड़ों को खूब चराना, शरीर को उत्तमता से सजाना अर्थात् गाड़ी को धोना, सुथरा रखना। ऐसे लोग शरीर-रथ को अपने लिये नहीं समझते, वरन् अपने आप को शरीर-रथ के लिये समझते हैं। जो जन रात दिन तन के लिये ही यत्न करते हैं, वे इस शरीर-रथ के साईस=कोचवान हैं। यदि रथ-स्वामी से प्रश्न किया जाये तुम्हारा रथ से क्या सम्बन्ध है? वह उत्तर देता है, 'मैं गाड़ी में बैठकर ग्राम को जाता हूँ, कचहरी को जाता हूँ, इत्यादि।' वह अपने आप को रथ के लिये नहीं समझता, वरन् रथ को अपने लिये समझता है। जो शरीर को अपने लक्ष्य प्राप्ति का साधन मानते हैं, वे रथस्वामी हैं। जो अपने को शरीर के लिये मानते हैं, वे कोचवान् हैं। जिस देश में कोचवानों की संख्या अधिक हो, वह पतित है। जिस देश में रथ-स्वामियों की संख्या अधिक हो, वही उन्नत देश है।

प्रश्न—आजकल तो वही देश सभ्य माना जाता है, जिस में 'खाओ, पियो, करो आनन्द' के विचार वाले मनुष्य अधिक हों।

उत्तर—आज लोग अज्ञानी अधिक हैं, उन्हें न अपने स्व-रूप का ज्ञान है, न लक्ष्य का। वे पशुओं की भाँति, केवल प्रत्यक्ष जगत् को ही सब कुछ मानते हैं। जैसे विवाहेच्छुक लोगों ने, पंजाब में, नाई का नाम राजा रख दिया है, ऐसे ही मूर्खों ने भोग-परायण देशों को सभ्य मान लिया है। वास्तव में

वे कोचवानों के देश हैं।

प्रश्न—कोचवान् कभी भी रथस्वामी पर प्रभुत्व नहीं कर सकता, किन्तु हम देखते हैं, ऐसे देश सारे संसार पर प्रभुत्व रखे हुए हैं।

उत्तर—कोचवान्, मनुष्य होता है जो घोड़ों पर प्रभुत्व रखता है। ऐसे लोग जो धर्म्ममर्म से सर्वथा शून्य हैं, वे तो पशु-प्राय: हैं उन पर कोचवानों का प्रभुत्व होना ही है। इस समय कोई ऐसा देश नहीं जिसमें निरे रथस्वामी ही रथस्वामी हों। प्रत्येक देश में ऐसे मनुष्यों की संख्या जो शरीर का परम प्रयोजन [प्रयोजक कारण] जानते हों, थोड़ी है ।।४।।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ।।५।।

पदार्थ—(यः) जो (तु) तो (अविज्ञानवान्) विवेकशून्य मनुष्य, इन्द्रियों के विषयों में फंसा हुआ (भवति) होता है (अयुक्तेन) बुद्धि विरोधी (मनसा) मन से (सदा) सदा। (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ (अवश्यानि) अवश [अर्थात् बुद्धि के नियन्त्रण से बाहर] (दुष्टाश्वाः+इव) दुष्ट घोड़ों की भांति (सारथेः) सारथि के। [जैसे दुष्ट घोड़े कोचवान् के वश में न रह कर रथ को सड़क से नीचे गिरा देते हैं, ऐसे वश से बहिर्भूत इन्द्रियां मनुष्य की बुद्धि को बिगाड़कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देती हैं।]

भावार्थ—जो मनुष्य विवेकशून्य होता है, जिसका मन सदा बुद्धि से स्वतन्त्र होता है, कभी स्थिर नहीं होता, सदा अनियमित चलता है, वह मनुष्य लक्ष्य को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे लगाम के ढीला करने से दुष्ट अश्व रथस्वामी को रथ से नीचे गिरा देते हैं, लक्ष्य पर नहीं पहुँचाते, ऐसे ही जो

मन बुद्धि के वश में नहीं है, वह मन सदा अनियमित चलता है। जिसका मन नियम में न चले, उसकी इन्द्रियाँ ठीक मार्ग पर न चलकर, उसको विषयों में फंसाकर, विषयों के गर्त (गढ़े) में गिरा देती हैं। अतः सबसे आवश्यक कार्य्य कोचवान्=बुद्धि को सुधारना है। बुद्धि शुद्ध हो तो थोड़े से परिश्रम से भी सफलता प्राप्त हो सकती है और यदि बुद्धि विकृत है, दूषित है, तो कोई कार्य्य भी मर्य्यादा से नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्या सब की बुद्धि एक जैसी है या भिन्न-भिन्न भांति की ?

उत्तर—बुद्धि दो प्रकार की होती है। एक स्वाभाविक [नैसर्गिक] बुद्धि और दूसरी नैमित्तिक बुद्धि। नैसर्गिक बुद्धि तो सभी मनुष्यों की एक सी होती है किन्तु नैमित्तिक बुद्धि सब की भिन्न-भिन्न होती है।

प्रश्न—नैमित्तिक बुद्धि के भिन्न-भिन्न होने का क्या कारण है ?

उत्तर—मन का तीन प्रकार का होना नैमित्तिक बुद्धि की विभिन्नता का कारण है। सत्त्वगुणी मन के द्वारा जो ज्ञान होता है वह अन्य प्रकार का होता है, और जो ज्ञान रजोगुणी मन से होता है, वह दूसरे प्रकार का होता है, तमोगुणी मन के द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान इन दोनों से भिन्न प्रकार का होता है।

प्रश्न—मन में गुणों का जो भेद है, उसका क्या कारण है ?

उत्तर—पूर्वजन्म के संस्कार और वर्त्तमान जन्म की सङ्गति। मनुष्य के जिस प्रकार के संस्कार होते हैं प्रायः वैसी ही सङ्गति उसे पसन्द आती है। जैसी सङ्गति जो मनुष्य करता

है, वैसे कर्म्म वह करता है। [जैसे कर्म करता है, वैसे संस्कार बनते हैं।]

प्रश्न—बुद्धि को किस प्रकार ठीक रख सकते हैं ?

उत्तर—बुद्धि आत्मिक नेत्र है, इसको आत्मिक सूर्य्य अर्थात् वेदविद्या, के सहयोग से शुद्ध और समर्थ रखा जा सकता है ? जैसे भौतिक नेत्र को सूर्य्य के रहते रस्सी में सर्प की भ्रान्ति नहीं होती और भ्रान्ति न होने से सर्प का भय नहीं होता। यदि कुछ प्रकाश हो और कुछ अन्धकार, तो भ्रम होकर भय होता है। इसी प्रकार पूर्ण विद्या न होकर थोड़ा विद्या-प्रकाश हो तो भ्रान्ति हो सकती है जो सकल क्लेशों का मूल है ॥५॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥

पदार्थ—(यः) जो (तु) तो (विज्ञानवान्) निश्चयात्मक यथार्थ ज्ञान वाला (भवति) होता है (युक्तेन) स्थिर अथवा संयुक्त या संगत (मनसा) मन से (सदा) सदा। (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां (वश्यानि) वश में होती हैं (सदश्वाः+इव) सधे घोड़ों की भांति (सारथेः) सारथि के [अर्थात् जैसे सधे घोड़े रथ को तथा रथी को उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचा देते हैं, ऐसे बुद्धिमान् मनुष्य की इन्द्रियां उसके वश में रहती हैं और जीव को लक्ष्य पर पहुँचा देती है।]

भावार्थ—जिसका मन बुद्धि का सहकारी हो, जो सदा प्रत्येक कार्य विचार कर करता हो, जो कोई भी कार्य्य मूर्खता का न करता हो उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं और सधे हुए घोड़े की भाँति उसे लक्ष्य पर पहुँचा दिया करती हैं। इस वाक्य का यह तात्पर्य है कि यदि मन बुद्धि के अनुसार चले, और इन्द्रियाँ तो होती ही मन के आधीन हैं, तो इन्द्रियाँ मित्र का

कार्य्य करती हैं। यदि इन्द्रियां वश में न रहें तो यही इन्द्रियां मनुष्य की भयंकर शत्रु बन जाती हैं। विद्या के बिना, बुद्धि मन को वश में नहीं रख सकती, जैसे आँख बाह्य प्रकाश की सहायता के बिना देख नहीं सकती, ऐसे ही मार्ग देखे बिना लगाम को ठीक पकड़ रखना असम्भव है, लगाम के ठीक रखे बिना घोड़ों को ठीक चलाना सम्भव नहीं। अर्थात् मनुष्य के वैरी मनुष्य के साथ ही रहते हैं। इन शत्रुओं से त्राण पाने के लिये विज्ञान=विद्या एक साधन है। जो लोग विद्या की उपेक्षा करते हैं, वे सन्तान के लिये कितनी ही सम्पति क्यों न छोड़ जायें, वे सन्तान के शत्रु या मूर्ख मित्र कहलाने के अधिकारी हैं ॥६॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

पदार्थ—(यः) जो मनुष्य (तु) किन्तु (अविज्ञानवान्) नैमित्तिक ज्ञान से, जो इन्द्रियों तथा विद्याभ्यास के द्वारा प्राप्त होता है, रहित (भवति) होता है (अमनस्कः) विज्ञानशून्य मन वाला अर्थात् विचारशक्ति शून्य (सदा) सदा (अशुचिः) अपवित्र (न) नहीं (सः) वह मनुष्य (तत्) उस (पदम्) पद को (आप्नोति) प्राप्त करता है (संसारम्) संसार=पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्कर को (च) और (अधिगच्छति) प्राप्त करता है।

भावार्थ—जिस मनुष्य ने वेद विद्या प्राप्त नहीं की; जिसके मन में विचारशक्ति नहीं है, जो सब कार्य्य विचारे बिना, विवेक-शून्य होकर करता है, जिसका मन सदा दूसरों के धन, दारा तथा अन्य पदार्थों के हरण करने की भावना से मलिन रहता है, जिसको आत्मा और मन अथवा आत्मा और शरीर का भेद-ज्ञान नहीं है, जो सदा ही अपवित्र रहता है, वह किसी भी अवस्था

में आत्मज्ञान की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता, सदा जन्मता और मरता रहता है।

प्रश्न—क्या कारण है कि अज्ञानी जीव पुनः पुनः जन्म लेता है?

उत्तर—जीव के अतिरिक्त दो पदार्थ और हैं, एक प्रकृति दूसरा परमात्मा। प्रकृति सत्=सदा रहने वाली है। जीव सत् तथा चित्=चेतन=ज्ञानवान् है। परमात्मासत्,चित्, आनन्द=आनन्द वाला [सच्चिदानन्द] है। प्रकृति के सम्बन्ध से जीव को बन्धन होता है, क्योंकि प्रकृति स्वतन्त्र नहीं, तथा जीवात्मा से न्यून गुणों वाली है। न्यून गुण वाले की सङ्गति से सदा हानि ही होती है। परमात्मा सच्चिदानन्द है, उसके संसर्ग से जीव को लाभ होता है। जब दो प्रकार के पदार्थ हों एक लाभदायक और दूसरा हानिकारक, तब उस दशा में विवेक, भले बुरे की पहचान के बिना कार्य कैसे चल सकता है। जिस बाजार में सुवर्ण शुद्ध ही बिकता हो वहाँ तो पहचान=परख के बिना भी कार्य्य चल सकता है। किन्तु जहां शुद्ध सोना तथा खोटा दोनों बिकते हों, वहाँ विवेक न होने से मनुष्य से भूल हो जाने की सम्भावना है। इस संसार में एक ओर शुद्धबुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा है, दूसरी ओर ज्ञान और आनन्द से शून्य, किन्तु बाह्य चमक दमक बाली प्रकृति है; विवेक के बिना, हिताहित के ज्ञान बिना, भ्राँति होना सम्भव है, भ्राँति में पड़कर प्रकृति की उपासना में फंसकर बार बार जन्म लेना पड़ता है, अतः आनन्द के अभिलाषियों को वेदविद्या का प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है, वेदविज्ञान के विना आनन्द की स्थिति प्राप्त ही नहीं हो सकती ॥७॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥८॥

पदार्थ—(यः) जो मनुष्य (तु) किन्तु (विज्ञानवान्) नैमित्तिक ज्ञान अर्थात् वेदविद्या से युक्त (भवति) होता है (समनस्कः) जिसका प्रत्येक कार्य्य विचार के अनुसार होता है (सदा) सदा (शुचिः) पवित्र अर्थात् जो शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को पवित्र रखता है (सः) वह मनुष्य (तु) तो (तत्) उस (पदम्) पद को (आप्नोति) प्राप्त करता है (यस्मात्) जिससे (भूयः) बहुत देर दोबारा (न) नहीं (जायते) उत्पन्न होता है।

भावार्थ—जो मनुष्य वेदज्ञान के द्वारा विवेक प्राप्त करके मन, इन्द्रिय और शरीर को सदा शुद्ध रखता है। शरीर को जल से शुद्ध रखता है; मन को सत्य बोलने, सत्याचरण और सत्य मनन के द्वारा पवित्र रखता है, विद्या और तप के द्वारा जीवात्मा को शुद्ध रखता है और बुद्धि को वेदज्ञान से शुद्ध रखता है; तथा प्रत्येक कार्य्य धर्म्म के अनुसार अर्थात् सत्य-असत्य को विचार कर करता है, वह ऐसी स्थिति को=पद को प्राप्त करता है, जहाँ बहुत देर तक दोबारा उत्पन्न नहीं होता। बहुत से लोग इसका अर्थ यह लेते हैं कि वह फिर नहीं उत्पन्न होता; किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति असम्भव है, जिसका एक किनारा अर्थात् आरम्भ तो हो किन्तु दूसरा किनारा अर्थात् अन्त न हो।

प्रश्न—समस्त मत ऐसी मुक्ति मानते हैं, वह असम्भव कैसे हो सकती है?

उत्तर—किसी के अन्यथा मानने से किसी वस्तु का तत्त्व अन्यथा नहीं हो सकता। लक्षणभेद से दूसरी वस्तु मानी जायेगी। यदि इस प्रकार की अर्थात् सादिअनन्त मुक्ति संभव हो, तो धन्य है। किन्तु कोई विद्वान् इसे सम्भव सिद्ध नहींकर सकता

क्योंकि इसके लिये न कोई हेतु और न कोई दृष्टान्त है जिसके सहारे ऐसी मुक्ति का अनुमान किया जा सके। जीव ही जब प्रत्यक्ष नहीं तो मुक्ति कैसे प्रत्यक्ष हो सकती है ?

प्रश्न—यह कोई नियम नहीं कि प्रत्यक्ष और अनुमान से ही किसी की सत्ता सिद्ध हो, अन्य प्रमाण भी तो हैं।

उत्तर—शब्द प्रमाण को आप्त वाक्य सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष और अनुमान की आवश्यकता होती है। यदि वह आप्त-वाक्य सिद्ध न हो तो वह प्रमाणकोटि में नहीं आ सकता।*

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥

पदार्थ—(विज्ञानसारथिः) वेदज्ञान से परिष्कृत बुद्धि जिस मनुष्य का सारथि है (यः) जो (तु) तो (मनः प्रग्रहवान्) मन रूप लगाम वाला (नरः) मनुष्य [अर्थात् न कोचवान् प्रमादी है और न लगाम ढीली है] (सः) वह (अध्वनः) मार्ग से (पारम्)

---

*भाष्यकार स्वामी जी के मन में यह है कि उपमान प्रमाण तो मुक्ति में उपयोगी नहीं है। शब्द प्रमाण ही शेष रह जाता है। शब्द प्रमाण यदि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के विरुद्ध हो तो वह प्रमाण ही नहीं माना जा सकता। जैसे कोई कहे कि आग ठण्डी है या गरम। ऐसे मनुष्य के हाथ पर अंगारा रख दो, ज्ञात हो जायेगा कि आग ठंडी है या गरम। ऐसे प्रत्यक्षविरुद्ध वचन का कहने वाला आप्त नहीं वरन् प्रमत्त हैं। अनुमान के लिये हेतु दृष्टान्त चाहियें, मुक्ति को सादिअनन्त सिद्ध करने के लिये न कोई हेतु है और न किसी भावपदार्थ को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। वेदादि शास्त्रों में प्रत्यक्ष और अनुमान के विरुद्ध एक भी उपदेश नहीं है, अतः प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध सादिअनन्त मुक्ति वेदशास्त्र विरुद्ध कोरी कपोल कल्पना है।

पार होने के पश्चात् (आप्नोति) प्राप्त करता है (तत्) उस (विष्णोः) विष्णु=सर्वव्यापक परमात्मा, परमानन्दमय परमात्मा के (परमम्) अत्यन्त सूक्ष्म (पदं) पदको। [अर्थात् उसको ब्राह्मी अवस्था प्राप्त हो जाती है, जीव सच्चित् तो पहले से है ही, आनन्द उसे परमात्मा से मिल जाता है, जिससे वह आनन्द को भोगता है।]

भावार्थ—जो मनुष्य धारणवती बुद्धि को अपना सारथि बना लेता है, बुद्धि के विरुद्ध कोई कार्य्य नहीं करता, संपूर्ण संसार को अनित्य और आत्मा को नित्य मानता है और सदा मन को आत्मचिन्तन में लगाये रखता है, इन्द्रियाँ विषयों की ओर वेग से जाती हैं किन्तु वह मन की लगाम को बल से खींच कर उनको विषयों से हटाता है और कभी भी मन को शिथिल नहीं होने देता। जिस इन्द्रिय के विषय में मन जाता है, वहां से उसे रोक कर आत्मा की ओर लगाता है; चूंकि आत्मा और परमात्मा निराकार हैं, मन भौतिक और साकार है, अतः मन आत्मा, परमात्मा की ओर सरलता से प्रवृत्त नहीं होता। जो मनुष्य बुद्धि द्वारा मन को वश में करके इन्द्रियों के विषयों में नहीं लगने देता, वह परमात्मा के आनन्दपद को प्राप्त कर लेता है अर्थात् सच्चित् तो जीव स्वभाव से है ही, परमात्मा के आनन्द को प्राप्त करके वह सच्चिदानन्द बन जाता है।

प्रश्न—क्या इस अवस्था में जीव ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता ?

उत्तर—जीव उस अवस्था में भी जीव ही रहता है; अल्पज्ञता जो उसका स्वाभाविक गुण हैं, तब भी नष्ट नहीं होता है।

प्रश्न—जीव की अल्पज्ञता क्यों नहीं हटती ?

उत्तर—जीव परिच्छिन्न है, परिच्छन्न के गुण किसी भी

भांति अनन्त नहीं हो सकते। जैसे सूर्य्य पृथ्वी से लाखों गुणा भारी है, तो भी परिमित होने के कारण उसकी शक्ति भी परिमित है, अतः रात्रि को वह प्रकाश नहीं दे सकता। जिस प्रकार अग्नि का संयोग प्राप्त करके लोहा गरम हो जाता है, उसमें अग्नि के कण या स्फुलिंग दिखाई देने लगते हैं, किन्तु भार जो उसका अपना गुण है, भार रहित (लघु) अग्नि का संयोग होने पर भी नष्ट नहीं होता, तोलने से गरम लोहा स्पष्ट भार-वाला दिखाई देता है, इस भांति ब्रह्मसंसर्ग से आनन्दवान् होकर भी जीव अपरिच्छिन्न और सर्वज्ञ नहीं बन सकता, उस दशा में भी उसकी परिच्छिन्न तथा अल्पज्ञता बनी रह जाती है ॥६॥

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसश्च पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१०॥

पदार्थ—(इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से (पराः) सूक्ष्मतर (हि) सचमुच (अर्थाः) इन्द्रियों के विषय, (अर्थेभ्यः) इन्द्रियों के विषयों से (च) और (परम्) अधिक सूक्ष्म (मनः) मन हैं [अर्थात् इन्द्रियों से विषय और विषयों से मन सूक्ष्म है] (मनसः) मन से (च) और (परा) सूक्ष्म (बुद्धिः) बुद्धि है (बुद्धेः) बुद्धि से (आत्मा) आत्मा (महान्) महत् (परः) सूक्ष्म है।

भावार्थ—इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दादि—अधिक सूक्ष्म हैं। भीतर जाने के लिये स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना होता है, अतः सूक्ष्मता में जो उत्कृष्ट है, उसको 'पर' बतलाया है। कार्य्य से कारण सदा सूक्ष्म होता है, अतः विषयों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है। मन दो प्रकार का है, एक स्वाभाविक मन जिसे मननशक्ति भी कहते हैं, दूसरा भौतिक मन जो अन्तःकरण कहलाता है। बुद्धि इस अन्तःकरण

से सूक्ष्म है, और [महान्+आत्मा=महत्तत्व] जगत् का समष्टि मन बुद्धि से भी सूक्ष्म है।

प्रश्न—आपके कथन से अन्तःकरण चार प्रतीत होते हैं। सांख्य दर्शन के टीकाकारों ने जो प्रक्रिया बनाई है उससे तीन और सांख्य सूत्रों में दो अन्तःकरण प्रतीत होते हैं।

उत्तर—सांख्य दर्शनकार ने, निस्सन्देह, मन और अहङ्कार-दो ही अन्तःकरण माने हैं, किन्तु उनके लेख के आधार पर टीकाकारों ने चित्तवृत्ति, मनोवृत्ति तथा बुद्धिवृत्ति के भेद से तीन अन्तःकरण कहे हैं। वेदान्तियों ने अहङ्कार को सम्मिलित करके चार अन्तःकरण माने, इसमें विवाद की क्या बात है[1] ?

प्रश्न—मन, करण और शक्ति भेद से दो प्रकार का होना आपने प्रतिपादन किया है, शास्त्र से यह प्रमाणित नहीं है। यह आपकी कोरी कल्पना है।

उत्तर—शास्त्रों का समन्वय करने से मन दो प्रकार का प्रतीत होता है। वैशेषिक शास्त्र के कर्त्ता महर्षि कणाद ने शक्ति रूप मन का विचार किया, अतः मन को नित्य सिद्ध किया। महर्षि कपिल जी ने अन्तःकरण मन का विवेचन किया, अतः मन को अनित्य प्रतिपादन किया। छान्दोग्योपनिषत् में भी अन्तःकरण मन का विवेचन किया गया है, इसलिये वहां भी

---

१. स्वामी जी का अभिप्राय यह है कि मूल अन्तःकरण दो ही हैं किन्तु कार्य्यभेद के कारण मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार चार हो जाते हैं। जैसे नैयायिक चार प्रमाण मानते हैं, वे अर्थापत्ति, असम्भव और अभाव को अनुमान के अन्तर्गत और ऐतिह्य को शब्द प्रमाण के अन्तर्गत मानते हैं, दूसरे कई दार्शनिक आठ प्रमाण मानते हैं। जैसे यहाँ विरोध नहीं, वैसे अन्तःकरणों की संख्या का भेद होने से कोई विरोध नहीं।

मन को अनित्य कहा गया है। वेद ने मनशक्ति को प्रतिपादन किया है[२]।

ऐसे ही मोक्षावस्था में आत्मा के साथ मन के रहने न रहने का विचार है। पराशर जी ने करण मन का विचार किया तो उन्हें मुक्ति दशा में उसका अभाव प्रतीत हुआ। जैमिनि जी ने मनशक्ति को विचारा, तो उन्हें प्रतीत हुआ कि आत्मा की मनशक्ति [मननशक्ति=विचारने का सामर्थ्य] मुक्ति में भी साथ रहता है, अतः उन्होंने मुक्ति दशा में मन का होना स्वीकार किया। व्यास जी ने इस विवाद पर निर्णय देते हुए कहा कि दोनों पक्ष—पराशर जी और जैमिनि जी के—शुद्ध हैं। कारण मन अनित्य है, अतः वह मुक्ति में संग नहीं रहता। शक्ति रूप मन नित्य है, वह मुक्ति में भी रहता है※। अतः

---

२. यजुः ३४।३ में मनशक्ति को 'ज्योतिरमृतम्' कहा है। यजु ३४।६ में 'अजिरम्' कहा है। भौतिक करण तो विनाशी होता है, वह अमृत=अमर और अजिर=अजर कैसे हो सकता है? अतः वेद का (य. ३४।१-६) मन शक्ति है।

※ यह शास्त्रार्थ वेदान्त दर्शन ४।४।१०—१२ सूत्रों में है। पाठकों की ज्ञानवृद्धि के लिये हम अर्थ सहित सूत्रों को यहां लिखते हैं— अभावं बादरिराह ह्येवम्=व्यास जी के पिता बादरि (पराशर)मुक्ति में मन का अभाव=लय मानते हैं। भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्= जैमिनी जी विकल्प न मानकर मुक्ति में मन की सत्ता मानते हैं। द्वादशाहवदुभयविध बादरायणोऽतः=व्यास जी दोनों बातें मानते हैं, अर्थात् वे कहते हैं शुद्ध सामर्थ्य रूप मन मुक्ति में रहता है, किंतु करण मुक्ति में नहीं रहता है। इसी सारे शास्त्रार्थ का सार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के नवम् समुल्लास में इन शब्द में व्यक्त किया

शास्त्रों में दो प्रकार के मन का प्रतिपादन है। यदि एक ही विषय में शास्त्रों में इतना मतविरोध हो तो सब शास्त्र अप्रमाण हो जायें।

प्रश्न—यह क्यों न मान लिया जाय कि ऋषियों में मतभेद है, जैसा कि अनेक योरुपी विद्वान् कहते हैं ?

उत्तर—उस अवस्था में उनको ऋषि कहना व्यर्थ है। प्रसिद्ध कहावत है—सौ सयाने एक मत, मूर्ख अपनी अपनी; अर्थात् सौ बुद्धिमानों का मत एक होता है, मूर्खों का सदा मतभेद रहता है। ऋषि चूंकि वेद के विद्वान् होते हैं, अतः उनकी सम्मति में मतभेद नहीं होता।

प्रश्न—ऋषि भी तो मनुष्य होते हैं, उनसे भी भूल हो सकती है, फिर व्यर्थ की खींचातानी की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—जो सदा सत्य बोलता है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है। स्थिर बुद्धि के बिना कोई भी मनुष्य ऋषि नहीं कहला सकता। यह सिद्धान्त कि मनुष्यों की मति में अवश्य ही भ्रान्ति होनी चाहिये, आप को क्या परमेश्वर ने बताया है ? वैदिक शास्त्रों ने इसका निर्णय कर दिया है। उनके अनुसार देव= विद्वान् सदा सत्य बोलते हैं, जो सत्य झूठ मिश्रत बोलता है, वह मनुष्य है।❀ ऋषि देव हैं, उनके कथन में मिथ्या की संभावना नहीं है॥१०॥

है—"उसके सत्यसंकल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं, भौतिक संग नहीं रहता……मोक्ष में भौतिक शरीर या इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते किंतु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं।"

❀ सत्यं वै देवाः, अनृत मनुष्याः (शतपथ ब्राह्मण १.१.१.१.) सदा सत्य व्यवहार करते हैं, मनुष्य के व्यवहार में कभी कभी अनृत भी

महतः परमव्यक्तम पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

पदार्थ—(महतः) महत्तत्त्व से (परम) परे, सूक्ष्म (अव्यक्तम्) अव्यक्त=सत्त्वरजस्तमोमयी प्रकृति है (अव्यक्तात्) सत्त्व रजः, तमः वाली प्रकृति से (पुरुषः) पुरुष=जीवात्मा तथा परमात्मा (परः), पर, सूक्ष्म। (पुरुषात्) पुरुष से (न) नहीं (परम) सूक्ष्म (किंचित्) कुछ भी (सा) वह (काष्ठा) अन्तिम लक्ष्य, अर्थात् मानवजीवन का ध्येय है। (सा) वह परमात्मा जो सबसे अधिक सूक्ष्म है (परा) अन्तिम (गतिः) गति है; ज्ञान गमन और प्राप्ति की चरम सीमा है। उसके आगे न कोई पदार्थ ज्ञेय है, न गन्तव्य, और न प्राप्तव्य।

भावार्थ—इस अलङ्कार में पांच कोषों* का संकेत करके

आजाता है। शास्त्रों में अनेक स्थलों पर ऋषियों को मनुष्य से भिन्न कहा गया है जैसे 'आप्तोपदेशः शब्दः' सूत्र पर भाष्य (न्याय) करते हुए वात्स्यायन मुनि ने लिखा है-ऋष्यार्यम्लेच्छानाँ समानं लक्षणम्। यहाँ ऋषि, आर्य्य और म्लेच्छ तीन भेद कर दिये।

* पांच कोष ये हैं-अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय।

अन्नमय—त्वचा से लेकर अस्थिपर्य्यन्त का पृथिवीमय समुदाय है।

प्राणमय—में प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान होते हैं।

मनोमय—मन, अहंकार और पांच कर्मेन्द्रियों—वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ—का समुदाय है।

विज्ञानमय—बुद्धि, चित्त तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका-का समुदाय है, जीव इससे ज्ञानादि व्यवहारों

एक को छोड़कर उसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर में जाने और विवेक करने का आदेश सा है। ऋषि कहते हैं, उस महतत्त्व=समष्टि जगत् के मन से परे अव्यक्त=प्रकृति है,अर्थात् मन से नहीं जानी जासकती। मन विकृति को जान सकताहै। जिस समय जीवात्मा सुषुप्ति दशा में कारण शरीर अर्थात प्रकृति से संबद्ध होता है, उस समय मन का कार्य सर्वथा रुक जाता है, क्योंकि वह इन्द्रियों के विषयों को अनुभव कर सकता है, इन्द्रियों के विषय भौतिक हैं।

जब तक विरोधी वस्तु न हो, किसी वस्तु का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। अन्धकार के विरोधी होने से प्रकाश का ज्ञान होता है। सरदी के विरोधी होने से गरमी का ज्ञान होता है अर्थात् किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये उसके विरोधी गुणों वाली वस्तु का ज्ञान आवश्यक है। विरोध के बिना यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। यथार्थ ज्ञान=विवेक ज्ञान वही उपयोगी हो सकता है जहाँ विविध प्रकार के पदार्थ हों।

प्रकृति तो सत्व रज: और तम: की साम्यावस्था को कहते हैं अर्थात् जब गुण*सत्त्व, रज:, तम:-एक दूसरे के विरोध

करता है।

आनन्दमय—में प्रीति, प्रसन्नता, न्यून, आनन्द, अधिक आनन्द, आनन्द और आधार कारणरूप प्रकृति होती है।

इन्हीं कोषों से जीव सब कर्म्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।

* गुण का एक अर्थ बन्धन=रस्सी होता है। प्रकृति के सत्व, रज: और तम: क्योंकि जीवात्मा को बाँधते हैं, इस वास्ते वे गुण कहलाते हैं। सत्त्व, रज:, तम:, प्रकृति ही हैं।

में कार्य्य न कर रहे हों। अतः प्रकृति मन से पर=सूक्ष्म है। पुरुष=जीवात्मा तथा परमात्मा तो प्रकृति से भी परे है, परमात्मा से परे=पर=सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं है। वह ज्ञान की अन्तिम सीमा है। जिस प्रकार किसी समस्या का यथार्थ समाधान पाकर गणितज्ञ का चित्त शान्त हो जाता है, जिस प्रकार सत्तर्क=सच्चे तर्क पर नैयायिक का चित्त ठहर जाता है, जिस प्रकार अन्तिम उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच कर पथिक की गति समाप्त हो जाती है, ऐसे ब्रह्म को जानकर जीव का समस्त पुरुषार्थ, जिससे वह जानने का यत्न करता है, सफल होकर परिसमाप्त हो जाता है। ब्रह्म को जान लेने के पश्चात् किसी पदार्थ के जानने की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने पर सब इच्छायें शान्त हो जाती हैं, धन की कामना नहीं होती, धन तो मनुष्य आनन्द का साधन समझ कर चाहता है, जब आनन्द के सत्य-स्रोत पर पहुँच जाते हैं तब धन की आवश्यकता ही नहीं रहती। न ही सन्तान की कामना होती है। न ही यश कीर्ति, मान-प्रतिष्ठा, राज्य, ऐश्वर्य्य अच्छे लगते हैं, क्योंकि इन समस्त सांसारिक पदार्थों की कामना केवल आनन्द के लिये होती है। यदि सांसारिक पदार्थों में आनन्द का भ्रम न हो, तो संसार में कोई भी पदार्थ कमनीय=चाहने योग्य ही नहीं। जब यथार्थ ज्ञान हो जाये और यह ज्ञात हो जाये कि आनन्द इन पदार्थों में नहीं, वरन् आनन्द का स्रोत कोई अन्य ही है, तब इन पदार्थों से विरक्ति हो जाती है। आनन्द के स्रोत पर पहुँच कर फिर किस वस्तु की कामना हो सकती है ?

प्रश्न—जनक आदि अनेक राजा हुए हैं जिनके पास धन जन, सन्तान एवं राज्य था, फ़िर भी वे ज्ञानी प्रसिद्ध थे।

उत्तर—धन की कामना=वित्तैषणा तो ब्रह्मज्ञान में

प्रतिबन्धक=रुकावट है, किन्तु धन का होना ब्रह्मज्ञान में प्रतिबन्ध नहीं है। धन का होना इच्छा पर निर्भर नहीं है, वह भोगानुसार मिलता है। जिसके=भाग्य में धन है, वह विरक्त होकर भी धनी हो सकता है ॥ ११ ॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

पदार्थ—(एषः) यह परमात्मा [जो सब के अन्दर रहता हुआ सब को नियम से चला रहा हैं, जिसको योगिजन योगसमाधिसे विमल मन द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं, अर्थात् जो शुद्ध मन से जाना जाता है] (सर्वेष भूतेषु) समस्त जीवों तथा भूतों के अन्दर (गूढोत्मा) छिपा हुआ और व्यापक होने से (न) नहीं (प्रकाशते) प्रकट होता [अर्थात्] बुद्धि के बाह्य विषयों में लिप्त होने से नहीं प्रकट होता]। (दृश्यते) देखा जाता है (तु) किन्तु (अग्रयया) अग्रग्रामिनी, विषयों में अलिप्त और सब विषयों को ग्रहण करने में समर्थ (बुद्धिया) बुद्धि से (सूक्ष्मया) सबसे सूक्ष्म (सूक्ष्मदर्शिभिः) सूक्ष्मदर्शी लोगों से।

भावार्थ—परमात्मा जो सब पदार्थों के अन्दर व्यापक होकर इन सबको नियम में चला रहा है, किसी एक स्थान में नहीं है। उसके दर्शन के लिये किसी विशेष स्थान में जाने की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि वह सब पदार्थों में व्यापक है किन्तु बाह्य विषयों में लिप्त बुद्धि उसे नहीं ग्रहण कर सकती। अल्पज्ञ जीवात्मा की बुद्धि एक समय में एक ही कार्य्य कर सकती है। जब तक वह बाहर के विषयों में लिप्त है, तब तक वह आभ्यन्तरिक सूक्ष्म विषयों को कैसे ग्रहण कर सकती है ?

जो लोग यह समझते हैं कि चूंकि वे परमात्मा को नहीं

देख सकते, अतः परमात्मा नहीं है। उन्हें समझाइये कि परमात्मा देखा जा सकता है। किस से ? मेधा बुद्धि से, जो सूक्ष्म विषयों के ग्रहण करने में समर्थ हो, अर्थात् जिस बुद्धि में बाह्य विषयों की भावना भी न हो, जो बुद्धि स्वयं भी सूक्ष्म हो। जिस प्रकार जल में गति करते हुए कीटाणु (Germs) कोरी आंख से दिखाई नहीं देते किन्तु परीक्षकजन जिस समय अणुवीक्षण यन्त्र (Microscope) की सहायता से देखते हैं तो दिखाई देने लगते हैं। क्या स्थूल नेत्र से दिखाई न देने के कारण, उन सूक्ष्म कीटाणुओं (Germs) की, जो अणुवीक्षण यन्त्र से देखे जाते हैं, सत्ता का अपलाप करना बुद्धिमत्ता है ? कदापि नहीं। इसी तरह परमात्मा को सूक्ष्मदर्शी मेधाबुद्धिसंपन्न महात्मा देख सकते हैं। जिन मनुष्यों की बुद्धि पर काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहङ्कार का आवरण पड़ा है, वे परमात्मा को नहीं जान सकते, जब तक आवरण न हटे। अतः इस आवरण को हटाने का यत्न करना बुद्धिमानों का आवश्यक कर्त्तव्य है। किन्तु अपनी अन्धी आँख से सूर्य्य को न देख सकने पर, आंख की चिकित्सा न कराकर, सब लोगों को दिखाई देने वाले सूर्य्य की सत्ता का अपलाप करना उन स्वार्थी मूर्खों की लीला है जिनकी बुद्धि पर अज्ञान का आवरण है। अतः जो लोग परमात्मा की सत्ता का अपलाप करते हैं, उसकी सत्ता स्वीकार नहीं करते, वे बुद्धि पर विषयकामना का आवरण पड़ा होने के कारण नितान्त अन्धे हैं, और जो परमात्मा को किसी एक स्थान पर विद्यमान मानकर उसका अनुसंधान करते हैं, वे भी परमात्मा के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। परमात्मा किसी एक स्थान पर नहीं है, वरन् वह सब पदार्थों के भीतर व्यापक है ॥१२॥

यच्छेद् वाङ् मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥१३

पदार्थ—(यच्छेत्) विषयों से हटाकर स्थिर करे (वाङ्) वाणी को [वाणी से अभिप्राय सब इन्द्रियाँ हैं] (मनसि *) मन में=ज्ञानेन्द्रियों में (प्राज्ञः) बुद्धिमान् (तत्) उसको (यच्छेत्) रोक कर स्थिर करे (ज्ञाने) ज्ञान कराने वाले (आत्मनि) अहङ्कार में । (ज्ञानम्) ज्ञान को=अहङ्कार को (महति+आत्मनि) महत्तत्व में=शुद्ध मन में (नियच्छेत्) रोक कर स्थिर (तत्) उस शुद्ध मन को (यच्छेत्) निरुद्ध करे, सब ओर से रोक कर स्थिर करे (शान्ते) शान्तिदायक [जहाँ मन स्थिर हो सकता है] (आत्मनि) परमात्मा में ।

भावार्थ—कर्मेन्द्रियों को विषयों से हटाकर पहले उन्हें ज्ञानेन्द्रियों के आधीन करे, और ज्ञानेन्द्रियों को अहङ्कार में रोके । अर्थात् जितना अपना अधिकार है, उतना लेने का विचार करे । अपने अधिकार से बाहर की वस्तु के हरण का विचार भी न करे । अहङ्कार को मन के अनुसार आचार करने पर तय्यार करे और मन को शान्तस्वरूप परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध कुछ करने ही न दे । जो बुद्धिमान् मनुष्य इस नियम का पालन करता है, वही लक्ष्य तक पहुँच सकता है । जो उसके

---

* मूल में पाठ 'वाङ् मनसी' है । उसके अनुसार अर्थ होगा, 'बुद्धिमान् वाणी और मन को रोके ।' स्वामी जी ने इस समस्त पद के स्थान में दो जुदा जुदा पद मान कर अर्थ किया है । इस भाव में कोई भेद नहीं पड़ा । उपनिषत्कार वाणी और मन के संयम का उपदेश कर रहे हैं । स्वामी जी पहले वाणी को मन में लय करने का उपदेश करके फिर मन को भी रोकने का उपदेश करते हैं । फल दोनों का एक है ।

विरुद्ध आचरण करता है वह अपने जीवन को नष्ट कर लेता है। कर्म्म सदा ज्ञान के अनुकूल होना चाहिये, और ज्ञान अपने अधिकार के अनुसार होना चाहिये, अधिकार कदापि अन्तरात्मा के आदेश या मन के विरुद्ध न हो, मन सदा परमात्मा के नियम के अनुसार चलने वाला हो—कभी भी मन में यह विचार न हो कि संसार में कोई मनुष्य अपने कर्मों के बिना दुःख पा सकता है।

प्रश्न—उपनिषत् के शब्दों से तो यह झलकता है कि वाणी को मन के वश में रखे, और अन्दर वाले ज्ञान को महत् अर्थात् बुद्धि के वश में रखे और बुद्धि को शान्तात्मा अर्थात् परमात्मा में लगाये। तुम ने इससे भिन्न अर्थ क्यों किया है?

उत्तर—ज्ञान और बुद्धि एक ही पदार्थ के नाम हैं। अतः आप का बताया अर्थ करने का पुनरुक्ति और आत्माश्रय दोष आते हैं, * जो ऋषियों के ग्रन्थों में नहीं हो सकते। दोषयुक्त ग्रन्थ अप्रमाण होता है। अतः अर्थ यह करना चाहिये—कर्म्मेन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रियों में, ज्ञानेन्द्रियों को अहङ्कार में, अहङ्कार को शुद्ध मन में, शुद्ध मन को परमात्मा के गुणों के चिन्तन में लगाने से सूक्ष्मदर्शी जीवात्मा अपने अन्दर रहने वाले परमात्मा को देख सकता है ॥१३॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गंपथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१४॥

---

* प्रयोजन के बिना व्यर्थ ही किसी बात को बार बार दोहराना पुनरुक्ति है। उसको साध्य सा मानना और साधन भी मानना आत्माश्रय दोष है। चतुर से चतुर मनुष्य भी अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता।

पदार्थ—(उत्तिष्ठत) उठो (जाग्रत) जागो, प्रमादनिद्रा त्यागो (प्राप्य) प्राप्त करके (वरान्) ब्रह्मविद्यावेत्ता गुरुओं को (निबोधत) जानो, ज्ञान प्राप्त करो। (क्षुरस्य) छुरे की (धारा) धारा के समान (निशिता) तीक्ष्ण की हुई (दुरत्यया) दुर्लंघ्य [जिसमें पैर कटने की आशङ्का हो] (दुर्गम्) दुर्गम (पथः) ब्रह्म-ज्ञान का मार्ग (तत्) वह (कवयः) क्रान्तदर्शी ब्रह्मज्ञानी विद्वान् लोग (वदन्ति) बतलाते हैं।

भावार्थ—ऋषि कहता है—हे प्रमाद व आलस्य की निद्रा सोने वालो! तुम्हारी यह अविद्यानिद्रा तुम्हारे लिये भया-वह है, इससे सजग होकर, सावधान होकर उठो। खोज करके ब्रह्मवेत्ता गुरु के पास जाओ। जब तक ब्रह्मज्ञानी गुरु न मिले, तुम अपने तत्त्व, स्वरूप को नहीं जान सकते। जिसको अपने स्वरूप का ज्ञान न हो वह अपने हानि लाभ को नहीं समझ सकता। जिसको अपने हानि लाभ का ज्ञान न हो, वह कैसे दुःखों से छूटकर आनन्द प्राप्त कर सकता है। यह मार्ग सान पर चढ़ाकर तीक्ष्ण किये हुए छुरे की धार से भी तीक्ष्ण है, जिस पर चलने वालों को पग-पग पर गिरने का भय रहता है। ब्रह्मज्ञानी लोग बतलाते हैं कि इस मार्ग पर चलना अत्यन्त कठिन है।

प्रश्न—किसी गुरू के पास जाने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यह मार्ग प्रत्यक्ष तो है नहीं, जिसको इन्द्रियों से जान सकें। जब सांसारिक मार्ग भी, बतलाने वाले के बिना, ज्ञात नहीं हो सकता, तब इस सूक्ष्म मार्ग के लिये क्या किसी बतलाने वाले की आवश्यकता नहीं है?

प्रश्न—किसी मूर्ख को मार्ग प्रदर्शक की आवश्यकता हो सकती है। हमने पदार्थविद्या (Science) भूगोल, इतिहास

आदि विद्यायें पढ़ी हैं, हमें गुरु की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—निस्सन्देह जो विद्यायें आप पढ़ चुके हैं, उनके लिये आपको किसी गुरु की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जैसे आपने यह विद्यायें गुरु से पढ़ी हैं, गुरु के बिना आपको नहीं आई वैसे ही ब्रह्मविद्या के लिये भी जब तक ब्रह्मज्ञानी गुरु न मिले, आप उसके निपुण ज्ञाता नहीं हो सकते।

प्रश्न—यदि यह मार्ग इतना विकट है और छुरे की धारा से भी अधिक तीक्ष्ण है, तो हमें क्या आवश्यकता पड़ी है कि हम इस पर चलें ?

उत्तर—चाहे आप नित्य दुःख उठाया करें, जैसे मजदूर प्रतिदिन अन्न कमाता है और प्रतिदिन समाप्त कर देता है, अथवा किसान की भाँति अधिक परिश्रम करके खेती करें और पर्याप्त समय के लिये निश्चिन्त हो जायें। इसी भांति कष्टसाध्य मार्ग पर चलकर आप या तो इकतीस नील, दस खरब, चालीस अरब वर्षों तक पूर्ण आनन्द भोगें, या इस मार्ग से हट कर कीट पतङ्ग से भी नीच गति प्राप्त करें।

प्रश्न—हम तो चाहते हैं कि इतने बड़े सुख को प्राप्त करें किन्तु यह तो बहुत दुर्लभ है।

उत्तर—निस्सन्देह दुर्लभ है किन्तु अलभ्य या असम्भव नहीं। कठिन कार्य से अज्ञानी डरा करते हैं या दुर्बल और भीरु। यदि तुम नचिकेता जैसे कुमार से शिक्षा लेकर, कामना-त्यागरूपी कठोर व्रत को धारण करो, तो सफलता सामने है ॥१४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥१५॥

पदार्थ—(अशब्दम्) शब्द गुण वाले आकाश से भिन्न है (अस्पर्शम्) स्पर्श गुण वाले वायु से भी भिन्न है (अरूपम्) रूप गुण वाले तेज=अग्नि से भी वह पृथक् है (अव्ययम्) उत्पत्ति विनाश से रहित है (तथा) ऐसे ही (अरसम्) रसगुण वाले जल से भी भिन्न है (नित्यम्) सदा रहने वाला है (अगन्धवत्) गन्धवती पृथिवी से भी भिन्न (च) और (यत्) जो । (अनादि) अनादि, कारण रहित (अनन्तम्) अन्त से रहित (महतः) महान् पदार्थों से भी (परम्) पर, सूक्ष्म (ध्रुव) निश्चल, एक रस है (निचाय्य) निश्चयपूर्वक जानकर (तम्) उस ब्रह्म को (मृत्युमुखात्) मृत्यु के मुख से (प्रमुच्यते) छूट जाता है ।

भावार्थ—जो परमात्मा न तो आकाश है कि जिसके गुण—शब्द-को कानों से सुन सकें, न ही वायु है कि जिसके गुण स्पर्श को त्वचा से अनुभव कर सकें, न ही अग्नि है कि जिसके गुण रूप को नेत्रों द्वारा देख सकें, वह उत्पत्ति और नाश से रहित, वृद्धि ह्रास से शून्य है । रसनेन्द्रिय उसको जानने में असमर्थ है, जो नित्य है, जिसको अनुभव करने में घ्राणेन्द्रिय—नाक भी अयोग्य है क्योंकि वह गन्धवती पृथिवी से भिन्न है, वह अनादि है अर्थात् उसका आदि=कारण कोई नहीं है। वह अनन्त है, अर्थात् उसका नाश असम्भव है । सब से महान् होने के कारण वह सबसे सूक्ष्म है । वह सदा एक रस रहने वाला निश्चल है । ज्ञानी जन उसे जान कर मृत्यु के मुख से छूट जाता है ।

प्रश्न—ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होने पर मृत्यु के मुख से कैसे छूट जाता है ?

उत्तर—जब तक अविद्या रहती है तब तक मनुष्य अपने शरीर को ही आत्मा समझता है, और मृत्यु चूंकि शरीर का

धर्म्म है, अतः अपने आपको वह मृत्यु का ग्रास समझता है। नियमानुसार ब्रह्मज्ञान से पूर्व आत्मा का ज्ञान होना आवश्यक है, आत्मज्ञान होने से शरीर को आत्मा मानना रूपी अविद्या दूर हो जाती है। शरीर से भिन्न आत्मा का ज्ञान जब हुआ तो आत्मा अमृत अनुभव हुआ। जब अपने आप को आत्मा और अमृत अनुभव किया, तो फिर मृत्यु का भय किस प्रकार हो सकता है। [मृत्यु के भय से छूटना ही मृत्यु के मुख से छूटना है] ॥ १५ ॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्यु प्रोक्तं सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥

पदार्थ—(नाचिकेतम्) नचिकेता सम्बन्धी (उपाख्यानम्) गुरुशिष्य संवाद रूप उपाख्यान को (मृत्यु प्रोक्तम्) मृत्यु नामक ऋषि से कथित (सनातनम्) सदा से, अनुक्रम से एक दूसरे से सुने जाते हुए (उक्त्वा) कहकर (श्रुत्वा) सुनकर (च , और (मेधावी) बुद्धिमान् मनुष्य (ब्रह्मलोके) ब्रह्मदर्शन के आनन्द में (महीयते) प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

भावार्थ—जो यह गुरु शिष्य के संवाद रूप में नचिकेता के प्रति यमाचार्य्य का उपदेश है, जो अनुक्रम से सदा ऋषियों द्वारा प्रकाशित होने के कारण सनातन है, इसको जो बुद्धिमान् कथा की रीति से कहेगा या सुनेगा, वह ब्रह्मदर्शन के महत्त्व को प्राप्त करेगा, अर्थात् उसे ब्रह्मज्ञान हो जायेगा।

प्रश्न—यदि इस कथा के कहने सुनने से ब्रह्मज्ञान हो जाये, तो अन्य साधनों की फिर क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—उपनिषत् के इस वचन में इस उपाख्यान के कहने सुनने की योग्यता पर एक प्रतिबन्ध है, वह है मेधा।

अर्थात् मेधावी जब इस कथा को कहे सुनेगा, तब उसके संस्कारों के उत्तम होने के कारण उसके अन्तःकरण में इस बात का निश्चय हो जायेगा। क्योंकि ज्ञान के बिना और मन के मल, विक्षेप, आवरण दोषों के दूर हुए बिना, मेधाबुद्धि=शुद्धबुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। जब मेधाबुद्धि प्राप्त हो गई तब इसका भाव यह हुआ कि केवल विज्ञान की न्यूनता थी जिसकी पूर्ति इस कथा ने कर दी ॥१६॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि। प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते, तदानन्त्याय कल्पते इति ॥१७॥

पदार्थ—(यः) जो ज्ञानी मनुष्य (इमम्) गुरु शिष्य के इस संवाद को (परमम्) अत्यन्त सूक्ष्म, सूक्ष्मतम परमात्मा-सम्बन्धी (गुह्यम्) मूर्खों से छिपाने योग्य और अधिकारी को ही एकान्त में गुप्त रूप से उपदेश करने योग्य (श्रावयेत्) सुनाये, उसका रहस्य खोल कर समझाये अर्थात् ब्रह्मज्ञान का उपदेश करे (ब्रह्मसंसदि) ब्रह्मज्ञानियों की सभा में (प्रयतः) शरीर, मन और इन्द्रियों को शुद्ध करके, और एकाग्र करके (वा श्राद्धकाले) अथवा जिस समय श्रद्धापूर्वक सत्कृत करने के लिये विद्वान् निमन्त्रित हों ऐसे काल में (तत्) वह सुनना (आनन्त्याय) अनन्तफल अर्थात् ब्रह्मदर्शन कराने वाला (कल्पते) ऐसा है। ['तदानन्त्याय कल्पते' दूसरी बार पूर्वोक्त बात की दृढ़ता के लिये कहा गया है।] ऐसा स्वीकार किया जाता है।

भावार्थ—जो पूर्ण विद्वान् आचार्य्य या गुरु इस परम पवित्र, सबसे अधिक विचारणीय और चिन्तनीय ब्रह्मविद्या की चर्चा को, जो मूर्खों पर प्रकाशित करने योग्य नहीं है, केवल उन्हें सुनाये, जो इसके अधिकारी हों, और वैदिक समाज में,

जहाँ मूर्ख न हों, ब्रह्मविद्या के अधिकारी ही एकत्रित हुए हों, या जहाँ पूर्ण विद्वान् लोग श्रद्धापूर्वक चर्चा करने के निमित्त बुलाये गये हों, सुनाने वाला स्वयं शुद्ध होकर मन और इन्द्रियों को वश में करके सुनाये, उसको सुनाने का फल यह मिलता है कि वह अनन्त=अपरिच्छिन्न ब्रह्म के दर्शन करके ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है।

प्रश्न—मूर्खों से गुप्त रखने का आदेश क्यों किया ?

उत्तर—मूर्ख इसके तत्त्व को ग्रहण नहीं कर सकते, इससे यह ज्ञान उनके लिये हितकर नहीं हो सकता। उनको इस गुह्य ज्ञान का उपदेश करने का फल वैसा ही हो सकता है जैसा आज कल वेदान्त की शिक्षा ने किया है। आजकल के वेदान्तियों को ब्रह्मतत्त्व का तो रत्ती भर ज्ञान नहीं, उलटा धर्म्म के व्यवहार, कर्त्तव्य को अन्यथा कर बैठे हैं। कौड़ी-पैसे मांगते हुए ब्रह्म बन बैठे हैं। गृहस्थों के लिये जगत् के मिथ्या होने का उपदेश होने लगा और स्वयं उदासी, वैरागी, सन्यासी नाम धर जमींदारियाँ खरीदने लगे।

प्रश्न—वैदिक समाज या ब्रह्मवेत्ताओं की सभा में सुनाने का विधान क्यों किया ?

उत्तर—यदि ऐसा विधान न करके मूर्खों के टोले में उपदेश करते, तो आजकल के कनफुकवे गुरुओं की भाँति, जो चित्त में आता, उपदेश कर डालते। जब विद्वानों की सभा में उपदेश करना है तो किसी अज्ञानी का वहाँ उपदेश करने का साहस नहीं हो सकता। जिस प्रकार साधारण ग्रामीण लोगों के यहाँ खोटा रुपया कदाचित् चल जाये तो चल जाये, किन्तु सराफ के पास खोटा रुपया ले जाते हुए डर लगता है। वहाँ खोटे रुपये का चलना कठिन होता है, किन्तु पकड़े जाना सरल प्रतीत

होता है। ऐसे ही विद्वानों के सामने ज्ञानगपोड़े हाँकने का साहस तो दूर रहा, उलटा स्वयं उपहास का पात्र बनने का डर लगा रहता है।

एक और कारण से भी यह विधान किया कि यदि कोई बात कथन करने वाले से रह जाये, या न सुलझाई जा सके, तो उस समय विद्वान् लोग उसे सुलझा कर स्पष्ट कर देते हैं। ॥ १७ ॥ तृतीया वल्ली समाप्त और साथ ही प्रथमाध्याय।

————

चतुर्थी वल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान मैक्षतावृतचक्षुर-मृतत्वमिच्छन् ॥१॥

पदार्थ—(पराञ्चि) बाहर के विषयों की ओर (खानि) आंख, नाक, कान आदि इन्द्रियों को (व्यतृणत्) फैलाता है (स्वयम्भूः) नित्य रहने वाला, अनुत्पन्न जीव। (तस्मात्) इस कारण (पराङ्) बाहर की ओर (पश्यति) देखता है (न) नहीं (अन्तरात्मन्) अन्तरात्मा=आत्मा के भीतर व्यापक परमात्मा को। (कश्चित्) कोई विशेष (धीरः) धैर्यवाला, मेधाबुद्धिसम्पन्न योगी (प्रत्यगात्मानम्) जीवात्मा के अन्दर व्यापक परमात्मा को (ऐक्षत्) देखता है (आवृत-चक्षुः) ज्ञानेन्द्रियों को बाहर के विषयों से निरुद्ध करके (अमृतत्वम्) मोक्षपद को (इच्छन्) चाहता हुआ।

भावार्थ—इन्द्रियाँ स्वभाव से बाहर के विषयों का अनुभव करने वाली बनी हैं। अतः जागने की अवस्था में, जब जीवात्मा इन्द्रियों से कार्य लेता है तब इन्द्रियों को बाहर की

ओर फैलाता है, जिससे उसे बाहर के विषयों का ज्ञान होता है। इन्द्रियों का जिन विषयों से सम्बन्ध होता है, उन्हीं का ज्ञान होता है। आत्मा के भीतर ये इन्द्रियाँ जा ही नहीं सकतीं, अतः आत्मा के अन्दर का ज्ञान जागने की दशा में नहीं हो सकता। बाहर तो केवल प्रकृति के विकारों की उपासना होती है, जिससे प्रकृति का परतन्त्रता गुण ही जीव के अन्दर आता है। परतन्त्रता या स्वतन्त्रता का न होना ही दुःख है। फलतः जागने की दशा में जीव को दुःख ही का अनुभव होता है। ईर्ष्या द्वेष, काम क्रोध, लोभ मोह, मद अहङ्कार आदि प्रत्येक दोष जागने की दशा में ही होता है, अतः इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होना ही दुःख का हेतु है। जब सुषुप्ति दशा में जीव इन्द्रियों के विषयों से पृथक् हो जाता है, तब समस्त दुःख भी भाग जाते हैं। सुषुप्ति दशा में न ईर्ष्या होती है, न द्वेष होता है, न काम होता है और न क्रोध, न लोभ होता है और न मोह। ये सब दोष जाग्रत दशा में होते हैं। इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ अनुभव होता है, सब नाशवान् है, अतः योगी इन्द्रियों की वृत्तियों का निरोध करके अन्दर रहने वाले अविनाशी आत्मा को देखता है, अर्थात् समाधि की साधना से परमात्मा को जानता है।

प्रश्न—क्या कारण है कि परमात्मा को अन्दर ही देखने का उपदेश किया गया है? परमात्मा तो सर्वव्यापक होने से बाहर भी तो है?

उत्तर—चूंकि बाहर परमात्मा प्रकृतिमें व्यापक है, प्रकृति स्थूल है। परमात्मा सूक्ष्म है। जब सूक्ष्म स्थूल के भीतर प्रविष्ट हो, तो आपाततः स्थूल ही का बोध होगा। जैसे तिलों में तैल है, देखने वाले को तिल दीखते हैं, तैल नहीं। जीवात्मा के

भीतर प्रकृति नहीं बैठ सकती क्योंकि प्रकृति जीव की अपेक्षा स्थूल है। जीव के भीतर केवल ब्रह्म रह सकता है। जो जीव की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। अतः जब साधक आत्मा के अन्दर देखता है, तब ब्रह्म का ज्ञान होता है, जैसा कि सुषुप्ति, समाधि और मुक्ति में होता है ❀।

❀ सुषुप्ति जीव को शरीर में आती है, और वह परमात्मा के नियमानुसार, जीव की इच्छा हो या न हो, आती है। सुषुप्ति में लेकिन किसी इन्द्रिय का व्यापार नहीं होता, मन की क्रिया भी रुकी होती है। अतः जागने पर जीव कहता है-बड़ा आनन्द आया, ऐसा सोया कि कुछ पता न लगा। जीव एकदेशी होने के कारण सदा क्रियाशील रहता है। जब विवशता से बाहर के विषयों से संबन्ध छूट जाता है, तब अनायास ब्रह्मसंबन्ध हो जाता है, किन्तु ज्ञान न होने के कारण भौचक्का रह जाता है और पूरा आनन्द नहीं हो पाता।

बुद्धिमान् ज्ञानी इस सुषुप्ति से एक शिक्षा ग्रहण करते हैं। वे देखते हैं, जाग्रत-दशा में जब तक इन्द्रियों का व्यापार बना रहता है, तब श्रान्ति, ग्लानि, दुःख, खेद का अनुभव होता ही रहता है। सुषुप्ति आने पर ये सब भाग जाते हैं इससे वे यत्नपूर्वक सृष्टि नियम को समझकर, इन्द्रियों के व्यापार को रोकते हैं। इस बुद्धिपूर्वक इन्द्रियवृत्ति निरोध को समाधि कहते हैं।

समाधि से सतत अभ्यास से मुक्ति प्राप्त होती है, और फिर शरीर संबन्ध भी छूट जाता है। तब किसी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता है

ध्यान से विचारें, तो सुषुप्ति दृष्टान्त, साधन तथा मुक्ति साध्य हैं। इसी तत्त्व को कपिलाचार्य्य ने 'सुषप्ति समाधिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता' सूत्र में वर्णन किया है।

प्रश्न—मुक्ति के होने में क्या प्रमाण है ? अनेक लोग ऐसा मानते हैं कि मुक्ति कोई पदार्थ नहीं है ।

उत्तर—जिस वस्तु का प्रतिबिम्ब (फोटो, चित्र) हो, उसका अभाव नहीं हो सकता । मुक्ति तो जिस किसी के भाग में होगी, उसी को होगी । समाधि की सिद्धि भी उसे होगी जो पुरुषार्थ और परिश्रम करेगा किन्तु सुषुप्ति, जो मुक्ति का प्रतिबिम्ब सा है, परमात्मा पापी से पापी जीव को भी प्रायः प्रतिदिन दिखला कर उपदेश करता है—हे मूर्ख ! यदि विषयों से सम्बन्ध जोड़ोगे तो दुःख होगा, जैसा जाग्रत् दशा में । और जब विषयों से प्रथक् होवोगे, तब सब दुःख भाग जायेंगे, जैसे सुषुप्ति की दशा में ।

प्रश्न—लोग विषयों की ओर क्यों भागते हैं ?

उत्तर—कुसंगति, ज्ञान की न्यूनता और आत्मिक बल के अभाव के कारण परमात्मा के संबन्ध में दृढ़ ज्ञान नहीं होता । भौतिक विषय प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं; अतः लोग उनमें फंस जाते हैं । जैसा कि अगले वचन में प्रतिपादन किया गया है ।

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् । अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

पदार्थ—(पराचः) अपने शरीर से बाहर की (कामन्) कामनाओं के [अर्थात् सुन्दर स्त्रियों, धन, यान आदि के] (अनुयन्ति) पीछे चलते हैं अर्थात् उनकी प्राप्ति के यत्न में लग जाते हैं । (बालाः) अज्ञानी । (ते) वे मूर्ख लोग (मृत्योः) मृत्यु के (यन्ति) जाते हैं, फंसते हैं (विततस्य) फैले हुए, बार बार आने वाले (पाशान्) फन्दों में । (अथ) और (धीरः) ज्ञानी, स्थिर बुद्धि वाले (अमृतत्वम्)

अमृतत्व=मोक्ष को (विदित्वा) जानकर (ध्रुवम्) नित्य, सदा रहने वाले आत्मा परमात्मा को, मुक्ति के सुख को (अध्रुवेषु) स्थिर न रहने वाले, विनाशी पदार्थों में, इस संसार में (न) नहीं (प्रार्थयन्ते) खोजते, चाहते।

भावार्थ—विद्वान् ज्ञानीजन सांसारिक पदार्थों-धन, दारा, संपत्ति आदि—की कामना नहीं करते, क्योंकि इनका परिणाम सुख नहीं है वरन् इनसे दुःख ही उत्पन्न होता है। शरीर से बाहर जो कुछ दीखता है, सब प्राकृतिक है। प्रकृति ज्ञान और आनन्द दोनों से शून्य है। बुद्धि उस वस्तु की कामना करती है, जो हितकारी हो। हितकारी की पहिचान यह है कि या तो वह दोषों को दूर करे। या त्रुटियों की पूर्त्ति करे। जीवात्मा में अल्पज्ञता दोष है और आनन्द का अभावरूप त्रुटि है। प्रकृति ज्ञान से शून्य है, अतः अल्पज्ञता दोष का नाश नहीं कर सकती। आनन्द भी प्रकृति में नहीं है, अतः आनन्द के अभाव को भी दूर नहीं कर सकती। जो न दोष का नाश कर सके, और न त्रुटि की पूर्त्ति कर सके, वह किसी भी दशा में हितकर नहीं हो सकती। जो मनुष्य अहितकर या अनुपयोगी वस्तु की कामना करे, उसके अज्ञानी होने में क्या सन्देह है। यही कारण है कि प्रकृति के उपासक अज्ञानी बार बार मौत के शिकार होते हैं। प्राकृतिक सम्बन्धों में मौत की शृङ्खला, मौत का फन्दा ऐसा फैला है जैसे तिलों में तैल। अतः जो जन मेधा बुद्धि सम्पन्न हैं, जिन्होंने मृत्यु और अमृत का विवेकज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो इस बात को जान गये हैं कि यह संसार स्थिर नहीं है, संसार का प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता और नष्ट होता है, जो स्वयं नाशवान् है उसके द्वारा अविनाशी=अमृत पदार्थ कैसे प्राप्त हो सकता है? कार्यमात्र अर्थात् सब उत्पन्न पदार्थ नाश-

वान् हैं, हाँ कारण का अविनाशी होना सम्भव हो सकता है, जिसका कारण ही अनित्य हो, उत्पत्ति वाला हो, वह कार्य्य उत्पत्ति और नाश से रहित कैसे हो सकता है, वे ज्ञानी इस संसार में किसी भी वस्तु को अविनाशी न देखकर, उसके पदार्थों के द्वारा अपना अमृत होने की कामना नहीं करते।

प्रश्न—आत्मा तो सदा नित्य है। यदि यह प्रकृति की कामना करे तो भी उसका नाश नहीं हो सकता। यदि आत्मा =आप, आपको जानले तो भी नाश नहीं हो सकता।

उत्तर—जब आत्मा प्रकृति की उपासना करता है, तब वह अपने आपको शरीर समझ रहा होता है, जिससे सदा मृत्यु के भय में रहता हुआ दुःख पाता है। और शरीर चूंकि नाशवान् है अतः आत्मा दास की भाँति दिन रात उसकी रक्षा में लगा रहता है, इससे उसे स्वातन्त्र्य और आनन्द नहीं मिलता। जब अपना ध्यान करता है अर्थात् अपने आप को अविनाशी=अमृत आत्मा समझता है, तब मृत्यु के भय से रहित हो जाता है, उस समय उसको दुःख तथा मृत्यु का बन्धन व्याकुल नहीं करता। वह जानता है कि मैं मृत्यु रहित अमृत आत्मा हूँ। यह शरीर किराये की गाड़ी है, इसके नाश होने पर मेरी क्या हानि है? ।।२।।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दा'न् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद् वै तत् ।।३

पदार्थ—(येन) जिससे (रूपम्) रूप को [जो आंखों का विषय है] (रसम्) रस को, स्वाद को, [जो रसनेन्द्रिय का विषय है] (गन्धम्) गन्ध को [जो नाक से अनुभव होती है] (शब्दान्) शब्दों को [जो कानों से सुने जाते हैं] (स्पर्शान्) स्पर्शों को [जो

स्पर्शेन्द्रिय=त्वचा से ग्रहण किये जाते हैं] (च) और (मैथुनान्) मैथुन=भोगाभिलाषा को (एतेन) इससे (एव) ही (विजानाति) जानता है (किम्) अन्य क्या (अत्र) इस संसार में (परिशिष्य) बच रहता है। (एतत्) यह आत्मा ही (वै) निश्चय करके, सचमुच (तत्) वह है।

भावार्थ—जिसके द्वारा रूप रस गन्ध स्पर्श, शब्द और भोग भावना आदि को जानता है। वह परमात्मा है। जिस तरह आँख, यद्यपि रूप को देखने का कारण=साधन है. आँख के खुले रहने पर ही रूपवान् पदार्थ दिखाई देते हैं, आँख के बन्द हो जाने पर वे दृष्टिगोचर नहीं होते, तथापि आंख अपनी शक्ति से नहीं देखती। यदि सूर्य्य आदि का प्रकाश न हो तो खुली होने पर भी आंख नहीं देख सकती। अत: देखने का साधन केवल आंख ही नहीं है, वरन् उसके साथ सूर्य्य आदि का प्रकाश भी आवश्यक है। यदि सूर्य्य आदि का प्रकाश तथा आंख दोनों ही हों, किन्तु आँख का मन के साथ संन्निकर्ष=सम्बन्ध न हो तो रूप का ज्ञान नहीं हो सकता जैसे प्राय: देखने में आता है। कोई कहता है आपने अमुक पदार्थ देखा, वह उत्तर देता है, मेरा ध्यान नहीं था इसलिये केवल सूर्य्यादि प्रकाश से सहकृत आंख ही रूप देखने का साधन नहीं है, वरन् आँख के साथ मन का संन्निकर्ष भी अवश्य होना चाहिये। आगे चलिये यदि मन का सम्बन्ध उस समय जीवात्मा से न हो, तो मन जड़=चेतना-रहित ज्ञानशून्य पदार्थ है, वह किसी पदार्थ को नहीं जान सकता, वह तो कारण है। जैसे अणुवीक्षणयन्त्र की सहायता से अति सूक्ष्म पदार्थ को देख सकते हैं किन्तु अणुवीक्षणयन्त्र स्वयं कुछ नहीं देख सकता। यही अवस्था मन की है। अत: मन भी ज्ञाता नहीं, वरन् ज्ञाता तो आत्मा है। किन्तु आत्मा मन आदि

कारणों [इन्द्रियों] के बिना किसी बाह्य पदार्थ—रूप आदि को नहीं जान सकता। जैसे फोटोग्राफर चित्र खींचता है किन्तु यदि कैमरा (Camera) आदि चित्र खींचने के साधन न हों तो वह कुछ नहीं कर सकता, ऐसे ही जीवात्मा शरीर रूप कैमरा, मन इन्द्रियादि रूप शीशों (Lenses) के बिना किसी पदार्थ का प्रतिबिम्ब=चित्र नहीं ले सकता। अतः फोटोग्राफर का कार्य्य कैमरा आदि उपकरण बनाने वाले के आधीन है। तात्पर्य्य यह कि जिसने शरीर रूपी कैमरा तथा मन इन्द्रियादि शीशे बनाकर जीवात्मा को दिये हैं, वही परमात्मा इन रूप आदि के जानने का वास्तविक साधन है। जब जीवात्मा इस परमात्मा को जान जाये तब फिर और कोई पदार्थ ज्ञेय= जानने योग्य–नहीं रहता। अतः जानने का साधन परमात्मा है, उसी के जानने से सबका ज्ञान हो सकता है। उसको जाने बिना किसी पदार्थ की सत्ता का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्या नास्तिक लोग आँख से नहीं देख सकते ?

उत्तर—देख तो अवश्य सकते हैं, क्योंकि परमात्मा ने उन को करण दिये हैं, किन्तु किसी पदार्थ का यथार्थ स्वरूप नहीं जान सकते। उदाहरणार्थ किसी नास्तिक की आँख में पीलिया रोग है। आंख को वह देख नहीं सकता। पीलिया रोग के कारण सभी पदार्थ पीले दिखाई देते हैं। पदार्थ का रूप सफेद है, उसे पीला दिखाई दे रहा है। क्या यह यथार्थ ज्ञान है ?

प्रश्न—अपनी आंख को वह दर्पण के द्वारा देख लेगा। जब उसे अपनी आंख पीली दीखेगी तो उसको अपने रुग्ण होने का ज्ञान हो जायगा। सभी पदार्थों के पीला दीखने से वह विचार करेगा, कि सभी पदार्थ तो पीले हो नहीं सकते, अतः मेरी आंख में रोग है।

उत्तर—आंख को शीशा भी पीला दिखाई देगा। जैसे जिसकी आँख में पीली नयनक=ऐनक लगी हो उसे सभी पदार्थ पीले दिखाई देते हैं। इसका निर्णय कैसे हो सकेगा कि आँख के पीले होने से सब पदार्थ पीले दिखाई देते हैं या नयनक के पीला होने के कारण, अथवा पदार्थों के पीला होने से। यदि कहो कि नयनक उतारने से जब पदार्थ पीले दिखाई देने लगेंगे तो अपने आप विचार उत्पन्न हो जायेगा कि उनका पीला दिखना नयनक के पीले होने के कारण नहीं है। तब पदार्थों का पीला दिखने में आंखों का पीला होना कारण है या पदार्थों के पीला होना हेतु है यह सन्देह होगा। पदार्थ अपने यथार्थ स्वरूप में दिखाई नहीं दे रहे क्योंकि आंख में दोष है। अतः नास्तिक किसी अवस्था में भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। चूंकि यह शास्त्रार्थ लम्बा है, अतः इसे यहाँ अधिक नहीं लिखते*॥३॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥

पदार्थ—(स्वप्नान्तम्) सोने के अन्त में (जागरितान्तम्) जागने के अन्त में (च) और (उभौ) दोनों को (येन) जिसके

---

*भाष्यकार का तात्पर्य्य यह है कि जगत् में कार्य्य कारण का नियम अटूट है, इसी कार्य्य कारण के नियम से विवश होकर चेतन कर्त्ता मानना पड़ता है। क्योंकि जहाँ जहाँ व्यवस्थित और सप्रयोजन रचना होती है, वहाँ चेतन कर्त्ता अवश्य होता है। इस नियम से जगत् के अन्तिम या आदिम अथवा मूल कर्त्ता को मानना पड़ता है। नास्तिक परमेश्वर को न मानकर मानो कार्य्य कारण के नियम को न मानना महान् अज्ञान है अतः नास्तिक यथार्थ ज्ञान से वंचित रह जाता है।

द्वारा (अनुपश्यति) देखता है, (महान्तम्) सबसे महान्, श्रेष्ठ और सूक्ष्म (विभुम्) सर्वव्यापक (आत्मानम्) परमात्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) धीर पुरुष, वीर मनुष्य (न) नहीं शोचति शोक करता है, चिन्ता में पड़ता है।

भावार्थ—सोने के अन्त में अर्थात् प्रातःकाल और जागने के अन्त में अर्थात् सायंकाल, तथा दोनों अवस्थाओं में जो परमात्मा को देखते हैं; जो ज्ञानी जन दोनों समय सन्ध्या में परमात्मा का ध्यान करते हैं. वे सबसे सूक्ष्म अर्थात् जिसकी सीमा पाने में बुद्धि भी रह जाती है बुद्धि में ही सबसे अधिक जानने की शक्ति है किन्तु परमात्मा को जानने में बुद्रि की शक्ति भी समाप्त हो जाती है। सीमा दो प्रकार की होती है एक दैशिक= देशकृत दूसरी कालिक=कालकृत सर्वव्यापक होने के कारण परमात्मा देश कृत सीमा से परे है [देश प्रकृति के रजोगुण का नाम है]। वह नित्य होने के कारण काल की सीमा से भी परे है[1] [काल भी प्रकृति के रजोगुण का नाम है] जब प्रकृति ही उसके एक अंश में[2] है तो देश काल जो प्रकृति से संबध है किस प्रकार उसे व्याप सकते हैं ? जो व्यापे नहीं वह सीमित कैसे कर सकता है ? जो लोग परमात्मा को जान जाते हैं, उन्हें किसी प्रकार का दुःख शोक नहीं होता।

प्रश्न—परमात्मा के जानने से दुःख शोक किस प्रकार भाग सकते हैं।

उत्तर—जो लोग परमात्मा को जानते हैं। उनको दृढ़

---

(१) नित्येष्व भावादनित्येषु च भावात्कारणे कालाख्या (वै.द.)

(२) पादोऽस्य विश्वा भूतानि (यजु. ३१।३) समस्त संसार उसके एक अंश में है।

निश्चय होता है, कि परमात्मा के सिवा मृत्यु किसी के हाथ में नहीं है ; और न ही कोई उसके नियम के विरुद्ध कष्ट ही दे सकता है ; परमात्मा न्याय और दया के सिवा कुछ करता ही नहीं ; न्याय और दया दोनों अच्छे हैं। न न्याय बुरा है, न दया *,

---

* ऋषि दयानन्द सरस्वती स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में दया और न्याय का बहुत सुन्दर विवेचन किया है। पाठकों के लाभार्थ उसको उद्धृत किया है।

प्रश्न—परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है वा नहीं ?

उत्तर—है।

प्रश्न—ये दोनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं, जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय छूट जाय। क्योंकि न्याय उसको कहते हैं जो कर्मों के अनुसार न अधिक न न्यून सुख-दुःख पहुंचाना और दया उसको कहते हैं जो अपराधी को बिना दण्ड दिये छोड़ देना।

उत्तर—न्याय और दया का नाममात्र का ही भेद है क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है, वही दया से। दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्ध होकर दुःखों को प्राप्त न हों। वही दया कहाती है। जो पराये दुःखों का छुड़ाना और जैसा अर्थ दया और न्याय का तुमने किया वह ठीक नहीं है, क्योंकि जिसने जैसा जितना बुरा कर्म्म किया हो उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिये उसी का नाम न्याय है। और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाय तो दया का नाश हो जाय। क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है। जब एक को छोड़ने से सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है वह दया किस प्रकार हो सकती है। दया वही है कि उस डाकू को कारागार में रखकर उसको पाप करने से बचाना, डाकू पर और

परमात्मा जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है। जो अच्छी बात हो उसमें किसी को दुःख और शोक हो ही नहीं सकता। दुःख और शोक बुरी बातों में होता है। जब मनुष्य कोई बुरा कार्य करता है तब उसे शोक और दुःख घेरते हैं। जो कुछ पाप कर्म हमने किये हैं उनके बदले में हमें दुःख भोगना पड़ता है, क्योंकि हमारे पापों का भार कम हो जाता है। दुःख से हम घबरायें भले ही, किन्तु वास्तव में वह हमारे लिये अत्यन्त हितकर है, क्योंकि वह हमारे कर्मों का फल है और पापों का भार कम करता है ॥४॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।

ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद् वै तत् ।५

पदार्थ—(यः) जो ज्ञानी जन (इमम्) इस (मध्वदम्) कर्मफल भोगने वाले जीवात्मा को (वेद) जानता है (आत्मानम्)

उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है।

... ...

देखो ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि जिसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ, जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रखे हैं। इससे भिन्न दूसरी बड़ी दया कौनसी है ! अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख दुःख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही हैं। इन दोनों का इतना ही भेद है कि जो मनमें सबको सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है वह दया और बाह्य चेष्टा अर्थात्बन्धन छेदनादि यथावत् दण्ड देना न्याय कहाता है। दोनों का एक प्रयोजन यह है कि सबको पाप और दुःखों से प्रथक् कर देना।

आत्मा को (जीवम्) जीव को (अन्तिकात्) समीप से [जीव के भीतर रहने और चेतन होने से वह इसके समीप है] (ईशानम्) स्वामी को (भूतभव्यस्य) भूत और भविष्यत् का। (न) नहीं (ततः) उस ज्ञान से (विजुगुप्सते) घृणा करते हैं निन्दित होता है। (एतत्) यही (वै) सचमुच (तत्) इस ज्ञान का फल है।

भावार्थ—जो मनुष्य इस कर्म्मफल भोगने वाले जीवात्मा को जानता है और जो यह समझता है कि जगत् की उत्पत्ति से न तो परमात्मा को कोई लाभ हो सकता है और न ही प्रकृति को। जीव ही जगत् में कर्म्मफल का भोगने वाला है। कर्म्मफल का दाता परमात्मा जीव के भीतर विराजमान है, चेतन होने के कारण वह परमात्मा का समीपवर्त्ती बन्धु तथा भूत भविष्यत् का स्वामी है, उस परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर पछताना नहीं पड़ता। यही इस ज्ञान का फल है ॥५॥

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्त यो भूतेभिर्व्यपश्यत॥

एतत् वै तत् ॥६॥

पदार्थ— (यः) जो ज्ञान प्रयत्न शक्तिवाला जीवात्मा (पूर्वम्) सृष्टि के आरम्भ में (तपसः) अग्नि से (जातम्) उत्पन्न (अद्भ्यः) प्राणों से (पूर्वम्) पूर्व (अजायत) प्रकट हुआ। (गुहाम्) बुद्धि में (प्रविश्य) प्रवेश होकर (तिष्ठन्तम्) रहने वाले के साथ (यः) जो (भूतेभिः) पांच भूतों के साथ व्यापक (व्यपश्यत) उसी को अपने आत्मा में ध्यान करता है। (एतत्) यह (वै) सचमुच (तत्) उस ज्ञान का फल है।

भावार्थ—जो जीवात्मा सृष्टि के आरम्भ में, प्राण को जो तेज से उत्पन्न होता है साथ लेकर प्रकट होता है, क्योंकि प्राण

के बिना जीवात्मा अपनी शक्ति तथा सत्ता का प्रकाश नहीं कर सकता है। जीवात्मा का लक्षण ही यह है कि वह चेतन स्वरूप अर्थात् स्वभाव से ज्ञानवाला है,और ज्ञान उसको बाह्य इन्द्रियों के द्वारा होता है, किन्तु इस ज्ञान से उपयोग लेने के लिये भी इन्द्रियों की आवश्यकता होती है। जिस परमात्मा ने जीवात्मा को अन्तःकरण आदि करणोपकरण [इन्द्रियाँ और उनके सहकारी] दिये हैं, जब जीवात्मा उसको अन्तःकरण तथा समस्त भूतों में उसको व्यापक देखता है तब उसकी अवस्था ऐसी हो जाती है कि पूर्वोक्त उपनिषद्वचनों में वर्णित फल को प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—उपनिषद् में आये 'अद्भ्यः' पद का अर्थ 'जल से' होता है, तुमने इसका 'प्राणों से' कैसे किया ?

उत्तर—शतपथ आदि ग्रन्थों में वर्णित है कि जल से प्राण उत्पन्न होते हैं और प्राणों से जीवात्मा की शक्ति तथा सत्ता का प्रकाश होता है।

प्रश्न—तप=अग्नि से प्राणोत्पत्ति में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—उपनिषद् में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अग्नि से जल उत्पन्न होता है। तैत्तिरीयोपनिषत् में लिखा है कि 'इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी आदि आदि*'।

---

* तैत्तिरीयोपनिषत् की ब्रह्मानन्द वल्ली के प्रथमानुवाक से निम्नलिखित पाठ की ओर भाष्यकार का संकेत है—

तास्माद्वा एतस्माद्वा आस्ममन आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

अर्थात् उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश=अवकाश [जो

प्रश्न—आकाश नित्य है, वह आत्मा से कैसे उत्पन्न होता है?

कारण रूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है अर्थात् वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि आकाश के बिना प्रकृति के परमाणु कहाँ ठहरेंगे] आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से औषधियां, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से शरीर, सो यह शरीर अन्न के सार से बनता है।

यहां आकाश से पृथिवी तक सृष्टि-क्रम का वर्णन है। उपादान कारण का वर्णन नहीं। पृथिवी से औषधियों आदि की उत्पत्ति के वर्णन में कार्य्य कारण भाव दिखाया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर प्राणों को जल, और अग्नि कहा गया है। इसका विशेष प्रयोजन है। जबतक प्राण शरीर में रहते हैं, तभी तक शरीर में अग्नि=जठरा जीवनशक्ति रहती है, शरीर की अग्नि का कारण होने से प्राणों को उपचार से अग्नि कह दिया जाता है। इसी प्रकार क्योंकि जीवन का प्रमाण प्राण है, प्राणों का आना जाना जब तक होता रहे तभी तक ही किसी को जीवित माना जाता है। उधर 'जलं जीवनमुच्यते' जल को जीवन कहते हैं। इस भाव से जल और प्राण पर्य्यायवाची हैं। प्राण भी शरीर में ओतप्रोत है, सब पदार्थों की अपेक्षा शरीर में जल अधिक होता है, इसी कारण उसे जीवन कहते हैं। यहाँ अद्भ्यः का अर्थ जल करने में एक विशेष हेतु है। जल अग्नि के पश्चात् उत्पन्न होता है, जो पदार्थ अग्नि से पूर्व विद्यमान है, वह जल से तो सुतरां पूर्व विद्यमान है ही, फिर उसे जल से पूर्व विद्यमान कहना व्यर्थ सा है, अतः 'अद्भ्यः' का अर्थ यहां 'प्राण' करना सुसङ्गत है।

उत्तर—आकाश के दो लक्षण हैं—एक—जिसके सहारे निकलना और प्रवेश होना हो❀। दूसरा—खाली स्थान। यह दोनों आत्मा द्वारा प्रकृति को गति दिये बिना हो नहीं सकते, अतः इन लक्षणों के कारण उपचार से आकाश की उत्पत्ति कही गई है ॥६॥

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत ॥ एतद् वै तद् ॥७॥

पदार्थ—(या) जो (प्राणेन) प्राणों के निरोध=प्राणायाम से (सम्भवति) प्रकट होती है (अदितिः) अविनाशिनी, माता के समान सुख चाहने वाली (देवतामयी) ब्रह्म को जानने योग्य सूक्ष्म (गुहाम्) इस अन्तःकरण=मन में (प्रविश्य) प्रविष्ट होकर (तिष्ठन्तीम्) स्थिर प्रज्ञा को (या) जो (भूतेभिः) भौतिक शरीर के साथ (व्यजायत) पैदा होती है (एतद्) यह (वै) सचमुच (तद्) उस ब्रह्म को जान सकता है।

भावार्थ—योग के यमादि अङ्गों के द्वारा ठीक-ठीक परिष्कृत और सूक्ष्म हुई बुद्धि सूक्ष्म ज्ञान को उत्पन्न करती है, अन्तःकरण युक्त इस बुद्धि से ही, जो भौतिक शरीर में उत्पन्न होती है, ब्रह्म को जान सकते हैं।

प्रश्न—क्या भौतिक शरीर के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता ?

उत्तर—जिस प्रकार किसी वस्तु का चित्र (फोटो) लेने के लिये फोटोग्राफ का कैमरा बनाया जाता है, उस कैमरा में

❀ निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् (वै० द० २।१।२०) निष्क्रमण=निकलना और प्रवेश होना आकाश का लिंग=पहिचान=लक्षण है।

वही पदार्थ होते हैं, चित्र उतारने के लिये जिनकी अपेक्षा होती है। कैमरा के बिना फोटो नहीं खींच सकते। दर्पण के बिना अपने नेत्र और उसमें लगे अंजन को नहीं देख सकते, उसी प्रकार भौतिक शरीर के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता।

प्रश्न—तो जो लोग शरीर की उपेक्षा करते हैं, वह बहुत बड़ी भूल करते हैं ?

उत्तर—शरीर किराया की गाड़ी है, उद्दिष्ट स्थान पर जाने के लिये गाड़ी आवश्यक है, और उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाने पर गाड़ी का छोड़ देना भी आवश्यक है। रही गाड़ी की सार-संभाल की चिन्ता, सो उसके स्वामी को होनी चाहिये। किरायेदार को तो उद्दिदष्ट स्थान पर पहुँचने का ध्यान होना चाहिये। अतः जो लोग बुद्धिमान् हैं वे गाड़ी की उपेक्षा करके आत्मा का ध्यान करते हैं, उसकी सार-संभाल करते हैं ॥ ७ ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः। दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः। एतत् वैतत् ॥ ८ ॥

पदार्थ—(अरण्योः) दो लकड़ियों के बीच (निहितः) रहने वाला (जातवेदाः) अग्नि, (गर्भ+इव) गर्भ की भाँति (सुभृतः) अच्छी तरह धारण किया हुआ (गर्भिणीभिः) गर्भिणियों के द्वारा, (दिवे+दिवे) प्रतिदिन (ईड्यः) स्तुति के योग्य है (जागृवद्भिः) जागरूक, सावधान, सत्वगुणयुक्त प्रकाशमयी बुद्धि वाले (हविष्मद्भिः) ईश्वर के ज्ञान ध्यान में रत ज्ञानी (मनुष्येभिः) मनुष्यों से (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर। (एतत्+वै+तत्) यही ब्रह्मज्ञान का साधन है।

भावार्थ—जिस प्रकार दो लकड़ियों को ऊपर नीचे रख-

कर रगड़ने से आग निकलती है, यद्यपि रगड़ने से पूर्व लकड़ियों में आग प्रतीत नहीं होती, जैसे गर्भवती से बालक उत्पन्न होता है, यद्यपि उत्पन्न होने से पूर्व वह दिखाई नहीं देता, ऐसे ही सत्वगुणी मनुष्य जिनकी बुद्धि सूक्ष्म और स्वच्छ है, जिनके आचरण उन्नतिकारक हैं, प्रतिदिन परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना और उपासना से ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न—क्या परमात्मा चाटुप्रिय है' जो स्तुति से प्रसन्न होता है ?

उत्तर—स्तुति का अर्थ चाटु (खुशामद) करना नहीं है। स्तुति का अर्थ है गुणों को ठीक ठीक जान कर कथन करना। जिसके गुणों को जान कर हम कथन करते हैं उससे मन को प्रीति होती है।

प्रश्न—हम प्रार्थना क्यों करें, क्या जिस वस्तु के लिये हम प्रार्थना करेंगे, परमात्मा हमको वह दे देंगे। यदि नहीं देंगे, तो प्रार्थना व्यर्थ है ?

उत्तर—प्रार्थना के तीन फल हैं—प्रथम-अभिमान् का नाश, दूसरा-इष्ट का ज्ञान, तीसरा—इष्ट प्राप्ति के साधन का ज्ञान। जब ये तीन चीजें प्राप्त होती हैं तो प्रार्थना व्यर्थ कैसे ?

प्रश्न—प्रार्थना करने से अभिमान् का नाश क्यों कर होता है ?

उत्तर—प्रार्थना का अर्थ है मांगना। जब तक किसी को प्राप्ति का निश्चय हो, प्राय: वह मांगता नहीं। जब उसे यह निश्चय हो जाय कि मैं अपने सामर्थ्य से इसे प्राप्त नहीं कर सकता, तभी मांगता है। जब अपने असामर्थ्य का, अशक्ति का, ज्ञान हो गया तब अभिमान कहाँ रहा ?

प्रश्न—उपासना का फल क्या है ?

उत्तर—जिसके गुणों को प्राप्त करना हो, उसकी उपासना की जाती है। जैसे शीत की प्राप्ति के लिये पानी की उपासना की जाती है, और गरमी लेने के लिये अग्नि की। उपासना का अर्थ है समीप बैठना। जिसके समीप बैठेंगे उसके गुण अवश्य आयेंगे। आनन्दमय ब्रह्म के आनन्द गुण को प्राप्त करने के लिये ब्रह्म की उपासना की जाती है ॥८॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति। तन्देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन। एतत् वैतत् ॥९॥

पदार्थ—(यतः) जिसके प्रबन्ध से (च) ही (उदेति) उदय होता है (सूर्य्यः) सूर्य्य (अस्तम्) अस्त को (यत्र) जिसके नियम में (च) और (गच्छति) प्राप्त होता है (तम्) उस परमात्मा के (देवाः) परीक्षक, सत्यासत्य का विवेक करने वाले विद्वान्, अथवा प्रकाशादि देने वाले सूर्य्य आदि (सर्वे) सब (अर्पिताः) आश्रित हैं, अर्थात् अपना अपना बल उसी से प्राप्त करते हैं, वह बलदा है। (तत्) उसके (उ) तो (न) नहीं (अत्येति) नियम का उल्लंघन कर सकता है (कश्चन) कोई, सूर्य्यादि या मनुष्य। (एतत् + वै + तत्) निश्चय करके ही उसकी शक्ति है।

भावार्थ—जिस परमात्मा के नियम से सूर्य्य उदय और अस्त होता है अर्थात् जहाँ जिस समय जिस तिथि को उदय की व्यवस्था है, उसी समय सूर्य्य उदय होगा, इसी भाँति अस्त होने की जो व्यवस्था है, वैसे ही अस्त होगा। परमात्मा ने इन समस्त देवों को शक्ति दी है, उसकी शक्ति से ये सब कार्य्य करते हैं। किसी ज्ञानीजन या सूर्य्य आदि में यह सामर्थ्य नहीं कि वह परमात्मा के नियम को तोड़ सके। यह उसका सामर्थ्य है कि कोई उसके विधान का उल्लंघन नहीं कर सकता। उसके आदेश

के विरुद्ध चल कर पापी तो बन सकते हैं किन्तु उसके नियम के विरुद्ध नहीं चल सकते।

प्रश्न—बहुत से साधु महात्मा सिद्ध ऐसे कार्य्य कर दिखाते हैं, जो परमात्मा के नियम के विरुद्ध होते हैं, उनको चमत्कार कहा जाता है। जैसे मूसा की लाठी सांप बन गई, मुहम्मद साहब ने चन्द्र के दो खण्ड कर दिये, इत्यादि, इत्यादि।

उत्तर—परमात्मा के नियम के विरुद्ध कोई कुछ नहीं कर सकता। चमत्कार दो प्रकार की बातों को लेकर बना करते हैं, एक पदार्थ विद्या की बातों से, जिन्हें साधारण लोग नहीं जानते। जब कोई विद्वान्, साधु ब्राह्मण ऐसी बात कर दिखाता है तो लोग उसे चमत्कारी सिद्ध कहने लगते हैं। पुराने समय में जब दियासलाई का चलन नहीं था, प्रायः ब्राह्मण फासफोरस के चावल बना रखते थे, जब अग्नि की आवश्यकता होती उनको लकड़ियों पर मारते, संघर्ष से=रगड़ से, फासफोरस जल उठता। मूर्ख उनको चमत्कारी मानने लगते। दूसरे गप्प, जो चेले अपने गुरु का गौरव बढ़ाने के लिये हांका करते हैं ॥६॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥

पदार्थ—(यत्) जो ब्रह्म (एव) ही (इह) इस जन्म में (तत्) वही ब्रह्म (अमुत्र) अगले जन्म में [प्रकाश करने वाला है] (यत्) जो (अमुत्र) अगले जन्म में होगा (तत्) वह (अनु) अनुकूलता से (इह) इस जन्म में। (मृत्योः) मौत से (सः) वह (मृत्युम्) मौत को (आप्नोति) प्राप्त करता है (यः) जो (इह) आत्मा के अन्दर (नाना) एक से अधिक (इव) सा (पश्यति) देखता है।

भावार्थ— जैसा परमात्मा इस जन्म में है, ऐसा ही हमें अगले जन्म में प्रतीत होगा, एकरस होने के कारण जैसा अगले जन्म में होगा, वैसा ही इस जन्म में भासेगा। वह मनुष्य पुनः २ मृत्यु को प्राप्त करता है जो इस आत्मा के भीतर नाना पदार्थों को देखता है। परमात्मा के अतिरिक्तत और कोई पदार्थ आत्मा से अधिक सूक्ष्म नहीं है और स्थूल पदार्थ सूक्ष्म के अन्दर प्रवेश पा नहीं सकता। जो आत्मा के भीतर नाना पदार्थों की सत्ता मानता है, उसने आत्मा को जाना ही नहीं। वह किसी अन्य वस्तु को आत्मा मान रहा है जिसके भीतर उसे बहुत से पदार्थ दीखते हैं, अन्यथा आत्मा के भीतर कोई अन्य पदार्थ प्रविष्ट नहीं हो सकता। यदि किसी अन्य पदार्थ को आत्मा समझ लिया, तो यह अविद्या है। जिसे अविद्या ने घेर रखा हो उसका पुनः २ जन्म मरण अनिवार्य है।

प्रश्न—अन्य लोग तो 'इह' पद के अर्थ 'इस स्थान में' करते हैं कि जो इस संसार में एक से अधिक पदार्थों को मानता है। तुम 'आत्मा के भीतर' किस प्रकार करते हो ?

उत्तर— इस वल्ली के प्रथम वाक्य से ही यह प्रकरण चल रहा है कि वह बाहर की ओर देखता है भीतर की ओर नहीं, अतः 'इह' से तात्पर्य 'आत्मा के भीतर' से ही है ॥१०॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

पदार्थ—(मनसा) मन के द्वारा (एव) ही (इदम्) इस आत्मा को (आप्तव्यम्) प्राप्त करना चाहिए (न) नहीं इस आत्मा के भीतर (नाना) एक से अधिक (अस्ति) है (किंचन) कुछ भी। (मृत्योः) मौत से (सः) वह (मृत्युम्) मौत को (आप्नोति) प्राप्त

करता है (यः) जो (इह) आत्मा के भीतर (नाना) एक से अधिक (इव) ही (पश्यति) देखता है।

भावार्थ—वह परमात्मा मन से जाना जाता है। परमात्मा और आत्मा के दर्शन का उपाय मन के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। आत्मा के भीतर परमात्मा के सिवा और कोई पदार्थ नहीं है। जो आत्मा में एक परमात्मा के अतिरिक्त नाना पदार्थों को देखता है, वह पुनः पुनः जन्म मरण के क्लेश को भोगता है।

प्रश्न—केनोपनिषत् में तो यह कहा है कि वह परमात्मा मनन नहीं किया जा सकता, वरन् मन उसकी शक्ति से विचार करता है*। आप कहते हैं, परमात्मा मन से जाना जाता है।

उत्तर—मन की दो अवस्थाएँ हो सकती हैं, एक मल-विक्षेप-आवरण दोषों से युक्त, दूसरी इन दोषों से रहित। इन दोषों से युक्त मन के द्वारा परमात्मा को नहीं जान सकते। इन दोषों से रहित, शुद्ध मन के द्वारा परमात्मा जाना जाता है। जैसे आँख और उसमें लगे अंजन को जानने के लिये दर्पण एक साधन है, दर्पण के बिना आँख और उसमें लगे अंजन को नहीं देख सकते, किन्तु अन्धेरी रात्रि में दर्पण से भी आँख और उसमें लगे अंजन को नहीं देख सकते, अथवा जब दर्पण स्वच्छ न हो, मलिन हो, अथवा जब दर्पण टिका हुआ न हो, हिल जुल रहा हो, अस्थिर हो, वेग से गति कर रहा हो अथवा दर्पण पर कोई आवरण=परदा पड़ा हो, तब भी दर्पण के द्वारा आँख और उसमें लगा अंजन दिखाई नहीं देता। ऐसे ही जब मन ज्ञान-शून्य हो, पाप वासनाओं से मलिन हो, काम क्रोध आदि के

---

* यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ केनोप० १।५॥

कारण चंचल हो रहा हो, विक्षिप्त हो, या उस पर अविद्या का आवरण पड़ा हो, तब उसके द्वारा आत्मा और परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते ॥११॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद् वैतत् ॥१२॥

पदार्थ—(अंगुष्ठमात्रः) अंगुष्ठ=हृदय में दर्शनीय [अंगूठे के बराबर हृदयाकाश है जिसमें जीवात्मा को परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं] (पुरुषः) परमात्मा (आत्मनि+मध्ये) जीवात्मा के भीतर (तिष्ठति) रहता है । (ईशानः) स्वामी, प्रबन्ध व्यवस्था करने वाला (भूतभव्यस्य) अतीत और अनागत का (न) नहीं (ततः) उससे (विजुगुप्सते) दुरवस्था को प्राप्त करता । (एतद्वैतत्) यह वही ब्रह्म है जिसके सम्बन्ध में तुमने प्रश्न किया था ।

भावार्थ—मनुष्य के हृदय में अंगूठे के बराबर एक स्थान है जहाँ पर जीवात्मा के भीतर परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं । यह परमात्मा भूत और भविष्यत् का अधिष्ठाता है, उसको जान लेने के बाद मनुष्य को ऐसी अवस्था पुनः प्राप्त नहीं होती, जिसमें अपने से ग्लानि हो, घृणा हो । पाप करने के बाद जब पापवासना का वेग कम हो जाता है तो प्रायः मनुष्य को अपने कुकर्म से घृणा होती है और वह अपने चित्त में अपने पापी जीवन पर दुःखित होता है । किन्तु जो लोग परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे पाप नहीं कर सकते । पाप उसी समय तक हो सकता है जब तक दण्डदाता की सत्ता का विश्वास न हो । मनुष्य तीन अवस्थाओं में पाप कर सकता है—१ या तो परमात्मा की सत्ता का विश्वास ही न हो, वाचिक रूप में ही उसे

मानते हों। २–या परमात्मा को परिच्छिन्न=एकदेशी=एक स्थान पर रहने वाला मानने से उसके सर्वत्र होने का विश्वास या निश्चय न हो। ३–या उस दशा में जब हमें किसी ऐसी सत्ता का विश्वास हो जो पाप करने के बाद हमें पापफल से बचा सकती हो।

प्रश्न—क्या जीवात्मा और परमात्मा अंगूठे के बराबर हैं जैसा कि उपनिषद्वचन से प्रतीत होता है ?

उत्तर—जीवात्मा और परमात्मा अंगूठे के बराबर नहीं है, वरन् वह स्थान जहाँ इनके दर्शन हो सकते हैं, वह हृदयाकाश अंगूठे के बराबर है ॥१२॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥ एतद् वैतद् ॥१३॥

पदार्थ—(अंगुष्ठमात्रः) अंगुष्ठ के बराबर स्थान [हृदयाकाश] में दीखने वाला (पुरुषः) जीवात्मा तथा परमात्मा (ज्योतिः +इव) ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित, प्रकाश के समान (अधूमकः) धूमरहित (ईशानः) स्वामी, सच्चा अधिष्ठाता (भूतभव्यस्य) भूत भविष्यत् के समस्त पदार्थों का। (सः+एव+अद्य) वही आज भी समस्त जगत् का स्वामी है। (सः+उ+श्वः) वही कल भी स्वामी होगा। (एतद्+वै तद्) यही वह ब्रह्म है।

भावार्थ—अंगूठे के बराबर स्थान [हृदयाकाश] में दर्शनीय पुरुष=जीवात्मा तथा परमात्मा ऐसी ज्योति=प्रकाश है, जिनको धुआँ कभी भी नहीं ढांप सकता। उसमें किसी प्रकार का मल नहीं है। वह अतीत तथा अनागत सभी पदार्थों का स्वामी है। न तो पहले कोई ऐसी वस्तु हुई है जिसका वह स्वामी न हो, और न आगे कोई ऐसी वस्तु होगी जिस पर

उसका अधिकार न हो। वही सारी सृष्टि का स्वामी है। बड़े से-बड़े राजा महाराजा चक्रवर्त्ती सम्राट् उसके वारंट(मृत्यु)को नहीं टाल सकते। घोर से घोर नास्तिक को उसके नियम के आगे सिर झुकाना पड़ता है। वह सब पदार्थों पर शासन करता है। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो उसके नियम से नियन्त्रित न हो। सूर्य्य चन्द्र तारे उसके नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते। वायु अग्नि जल उसके नियम के विरुद्ध नहीं चल सकते। पृथिवी पर के बड़े-बड़े मल्ल (पहलवान्) अपने बाहुबल से उसके वारण्ट-मृत्यु को नहीं रोक सकते। बड़े-बड़े अभिमानी अपने कर्म्मों के भले बुरे फल पाने को विवश हो उसके द्वार पर भटकते हैं। यह वह ब्रह्म है जो सारे ब्रह्माण्ड को चला रहा है ।।१३।।

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति। एवं धर्म्मान् पृथक् पश्यँस्तानेवानु विधावति ।।१४।।

पदार्थ—(यथा) जैसे (उदकम्) जल (दुर्गे) दुर्ग, दुर्गम-स्थान में (वृष्टम्) वरसा हुआ (पर्वतेषु) पर्वतों में (विधावति) दौड़ता है, तेजी से बहता है (एवम्) इसी भाँति (धर्म्मान्) धर्म्मों को, गुणों को (पृथक्) धर्मी से, गुणी से पृथक् (पश्यन्) देखने वाला (तान्) उन गुणों के (एव) ही (विधावति) पीछे लग जाता है।

भावार्थ- जैसे पर्वत के दुर्गम शिखरों पर बरसा जल पर्वत में ही बह निकलता है। यद्यपि अन्यत्र बरसा है तथापि अपने नीचगामी स्वभाव के कारण, दूसरे पर्वतों पर नहीं, वरन् नीचे समतल भूमि में बह निकलता है, ऐसे ही जो मनुष्य किसी वस्तु के धर्म्मों को उससे पृथक् देखता है, वह भी उन्हीं धर्म्मों

के पीछे दौड़ता है। तात्पर्य्य यह है कि धर्म्म और धर्मी का अविनाभाव सम्वन्ध है। जहां धर्म्म है वहाँ धर्मी अवश्य होगा, जहाँ धर्मी होगा वहाँ धर्म्म अवश्य होगा। जड़=अचेतन प्रकृति का धर्म्म=स्वभाव बांधना है। चाहे हम स्वतन्त्रता के विचार से ही प्रकृति को समीप लायें, तो भी वह बाँधेगी। परमात्मा की उपासना अज्ञान से क्यों न की जाय उससे आनन्द अवश्य मिलेगा। जिस वस्तु का जो धर्म्म है, वह उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः जहाँ पाप है, वहाँ भय है। जो पापी नहीं उसे भय नहीं हो सकता। जिस गुण को हम प्राप्त करना चाहें उस गुण के गुणी की उपासना करें। मूर्ख, शराबी, मांसाहारी, दुराचारी गुरु की सङ्गति से हमें ज्ञान और सदाचार नहीं मिल सकता ॥१४॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवतिगौतम ॥१५॥

पदार्थ—(यथा) जैसे (उदकम्) जल (शुद्धे) शुद्ध वस्तु में (शुद्धम्) शुद्ध पवित्र, मल रहित (आसिक्तम्) सींचा हुआ (तादृग्) उसी प्रकार का (एव) ही (भवति) होता है। (एवम्) वैसे (मुनेः) कम बोलने वाले (विजानतः) ज्ञानी मनुष्य का (आत्म) आत्मा (भवति) होता है। हे (गौतम) गौतमगोत्रोत्पन्न नचिकेतः !

भावार्थ—जैसे शुद्ध जल शुद्ध स्थान पर सींचने से शुद्ध ही रहता है उसमें कहीं से आकर मल नहीं मिलता। इसी प्रकार जो मितभाषी ज्ञानसम्पन्न, जितेन्द्रिय मनुष्य मन इन्द्रियादि के दास न बनकर उससे ठीक-ठीक कार्य्य लेते हैं, हे नचिकेता ! वे पूर्ण योगी शुद्धात्मा हैं। उनको संकीर्ण हृदयता आदि दोष और

अहङ्कार, जिनसे सभी मनुष्य व्याकुल रहते हैं, आकर नहीं सताते। ये सब दोष तभी तक होते हैं जब तक मन और इन्द्रियों के पीछे लगकर आत्मा बाहर की ओर देखता रहता है, और प्राकृतिक विषयों में फंसकर अपने मन में अपने आप को परतन्त्र समझता है। आत्मा को कोई क्लेश नहीं हो सकता। क्योंकि वह नित्य है और प्रकृति से सूक्ष्म हैं। नित्य होने से उसे नाश होने का भय नहीं। और प्रकृति की अपेक्षा सूक्ष्म होने से प्रकृति का परतन्त्रता गुण उसमें संक्रान्त नहीं हो सकता। परतन्त्रता=दु:ख मन में होता है। अविद्या के कारण आत्मा उसको अपने में मान लेता है, जैसे किसी का कलकत्ता नगर का मकान जल जाए, तो सूचना मिलने पर वह अहंकार के कारण कहता है—हाय मेरा सत्यानाश हो गया। यद्यपि उसका कुछ भी नहीं बिगड़ा, यदि जिस मकान में वह रहता है, उसको आग लगती, तो कथंचित् कह सकते थे कि कुछ हानि हुई, क्योंकि अब रहने में कष्ट की संभावना है। मकान जला कलकत्ता में, रहता है लाहौर में, फिर कलकत्ता वाले मकान के जलने से उसे क्या कष्ट? किन्तु मन शुद्ध होने की दशा में आत्मा बाहर की ओर नहीं देखता, क्योंकि उसे उस समय भीतर का दृश्य दिखाई दे रहा है। मन के मलिन होने की दशा में अन्दर तो कुछ दिखाई देता नहीं, अत: बाहर ही देखता है, इन्द्रियों को बाहर की ओर चलाता और दु:ख पाता है। अत: निष्काम परोपकार के द्वारा मन को शुद्ध करना चाहिये।

कठोनिषत् की चतुर्थी वल्ली समाप्त।

———

अथ पंचम वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्र चेतसः। अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद् वै तत् ॥१॥

पदार्थ—(पुरम्) नगर, भोगाधिष्ठान शरीर (एकादशद्वारम्) ग्यारह द्वारों वाला (अजस्य) कारणशून्य, अजन्मा, नित्य जीवात्मा का (अवक्रचेतसः) उलटे ज्ञान से रहित (अनुष्ठाय) अपने कर्त्तव्य का उचित रीति से पालन करके (न) नहीं (शोचति) शोक करता या दुःख पाता। (विमुक्तः) तीन आश्रमों के तीन ऋणों से मुक्त हुआ (च) और (विमुच्यते) शरीर से भी छूट जाता है। (एतद् + वै + तत्) यही ब्रह्मज्ञान का फल है।

भावार्थ—मनुष्य शरीर में दो नेत्र, दो कान दो नासिकायें, एक मुख, एक मस्तिष्क=तालु=ब्रह्मरन्ध्र, एक नाभि, एक पायु=मल त्यागने की इन्द्रिय और एक मूत्रेन्द्रिय—ये ग्यारह द्वार हैं। ग्यारह द्वारों वाले इस नगर में यह जीवात्मा राज्य करता है। यदि जीवात्मा का ज्ञान मिथ्या या उलटा न हो अथवा यह अविद्या में फँसा हुआ न हो तो अपने वर्णाश्रम के धर्म्मों का ठीक-ठीक पालन करने से शोक को प्राप्त नहीं करता, वरन् सब प्रकार के ऋणों * से छूट जाता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम का विधिपूर्वक अनुष्ठान करने

---

*शास्त्र कहते हैं जब कोई मनुष्य गृहस्थ बनता है उस पर तीन ऋण हो जाते हैं। एक ऋषि ऋण जो विद्यादान देने से उतरता है, दूसरा देव ऋण जो यज्ञ=अग्निहोत्रादि करने से दूर होता है, तीसरा पितृऋण जो संसार में अपना योग्य प्रतिनिधि पुत्र या शिष्य के रूप में छोड़ जाने से दूर होता है।

के बाद संन्यासाश्रम के धर्म्म पालन करने से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस जन्म में जिसका ज्ञान उलटा हो उसके लिये यह राजधानी कारागार=जेलखाना बन जाती है, क्योंकि उस दशा में जीव, शरीर इन्द्रियों और मन पर शासन करने के स्थान में उलटा इसके अधीन हो जाता है। ब्रह्मज्ञान का फल यह है कि जीवात्मा इस शरीर को राजधानी बना लेता है। ब्रह्मज्ञानी को इस शरीर से किसी प्रकार कष्ट नहीं होता क्योंकि शरीरादि सब उसके अधीन होते हैं। अज्ञानी के लिये शरीर इन्द्रिय और मन सभी दुःखदायी होते हैं, क्योंकि वे उस पर शासन करते हैं। बात स्पष्ट है कि मनुष्य घोड़े पर सवार हो, घोड़ा उसके वश में हो, तो वह सुविधा से उद्दिष्ठ स्थान पर पहुँच जाता है, यदि घोड़ा वश में न हो, तो पग-पग पर गिरने का भय बना रहता है। प्रकृति की उपासना से जीव का ज्ञान उलटा होता है, उस से अविद्या उत्पन्न होकर उसके दुःख का कारण बनती है। ब्रह्म की उपासना से जीव का ज्ञान यथार्थ होता है, इससे आनन्द भोगता है।

प्रश्न—इस समय तो जो लोग प्रकृति की उपासना कर रहे हैं अर्थात् भौतिक पदार्थविद्या के पण्डित हैं, अधिक सुखी दीखते हैं।

उत्तर—ऊपर से ही सुखी दीखते हैं। उनसे मिलो तो वे आप को शान्त नहीं दीखेंगे। समस्त योरुप शान्ति-प्राप्ति की चिन्ता में है किन्तु प्रकृति पूजा के कारण योरुप को शान्ति नहीं मिल रही। इंगलेंड में स्त्रियों के उपद्रव, फ्रांस में बलवे, रूस में निहिलिस्ट लोगों का संघर्ष बता रहे हैं कि वहां शान्ति और सुख का नाम भी नहीं। शरीर की स्वतन्त्रता दूर की बात रही, वासनाओं से छुटकारा पाना कठिन हो रहा है। शारीरिक

आवश्यकताओं के वन्धन से तो मुक्त नहीं हो सके, उलटे अतृप्ति के कारण तृष्णा के बन्धन में पड़ गये॥ ॥१॥

हँ्सः शुचिसद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषद-तिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥२॥

पदार्थ—(हंसः) एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में जाने वाला जीवात्मा (शुचिसत्) शुद्ध परमात्मा में रहने वाला (वसुः) शरीर में बसने वाला (अन्तरिक्षसत्) अन्तरिक्ष=शरीरस्थ हृदयाकाश में प्राप्त होने वाला (होता) हवन करने वाला (वेदिषत्) पृथिवी में रहने वाला (अतिथिः) जिसके आने जाने या शरीर में रहने की तिथी निश्चित नहीं प्रतीत होती, (दुरोणसत्) अपने गृह या आश्रम में रहने वाला (नृषत्) मानव देह में रहने वाला (वरसत्) देवर्षियों के शरीर में रहने वाला (ऋतसत्) सत्य ब्रह्म में रहने वाला अर्थात् ब्रह्मज्ञान में तत्पर (व्योमसत) आकाश में रहने वाला (अब्जा:) जलीय शरीर में रहने वाला (गोजाः) पार्थिव शरीर में रहने वाला

॥ आज तो योरुप में अशान्ति-की आग लग रही है। योरुप के कारण गत वर्षों में इस समस्त भूमण्डल पर युद्ध, नरहत्या के कारण कितना अनर्थ हुआ इसका वर्णन कौन कर सकता है। कोई भी देश इससे अछूता नहीं बचा। योरुप का विज्ञान इस समय संसार के संहार में लगा है। इस विज्ञान से कदाचित विज्ञान का न होना ही अच्छा।

इस सारे उपद्रव का कारण दरिद्रता है। योरुप दरिद्र है। 'को हि दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला'=कौन दरिद्र है, जिसको तृष्णा=लालच अधिक है। योरुप का लालच समाप्त होने में नहीं आता, अतः परस्पर संघर्ष बना रहता है।

(ऋतजाः) स्वाभाविक अवस्था में रहने वाला (अद्रिजाः) पर्वतीय योनियों में उत्पन्न होने वाला (ऋतम्) स्वयं भी सत्स्वरूप अर्थात् नित्य (बृहत्) बड़े ऊंचे विचार वाला।

भावार्थ—यह जीवात्मा एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर को जाने वाला है, जिसकी स्थिति शुद्ध परमात्मा में ही जाकर हो सकती है, बाहर की कोई वस्तु उसे आश्रय नहीं दे सकती। यह चींटी से मनुष्य पर्य्यन्त के सभी शरीरों में जाने वाला है। इसका दर्शन शरीर के भीतर हृदयाकाश में ही हो सकता है। यह यज्ञ आदि कर्मों का करने वाला और शरीर रूपी भूमि में रहने वाला है। शरीर में आने की, इसकी कोई तिथि नियत नहीं प्रतीत होती। यह किसी न किसी शरीर में रहने वाला, मुक्ति के लिये केवल मनुष्य शरीर को धारण करने वाला, मुक्ति से लौट कर देवर्षियों के शरीर में आने वाला, नित्यज्ञान के सहारे ब्रह्म में स्थित होने वाला, ज्ञान न होने से जलीय जन्तुओं, पार्थिव आदि प्राणियों के शरीरों को धारण करने वाला, परमात्मा के नियम से शरीरयुक्त होने वाला, पर्वतीय प्राणियों की दशा में उत्पन्न होने वाला होता हुआ भी वास्तव में सब बिकारों से पृथक् है। ये सब योनियां जीव के लिये उपधियाँ हैं, वह अहङ्कार के कारण इनमें सुख दुःख मानता है। बाह्य प्रभाव उसमें प्रविष्ट नहीं होता। जब उसको अपने स्वरूप का ज्ञान होता है, तब सर्वतोमहान् भगवान् ही उसका उद्देश्य हो जाता है अर्थात् ज्ञान और अज्ञान के कारण जीवात्मा की अवस्थाओं में भेद होता है। ज्ञान के कारण वह उत्तम दशा में होता है, अज्ञान के कारण अधम दशा में होता है। ब्रह्मज्ञान के द्वारा अधम दशा से बचकर उत्तम दशा को प्राप्त करता है। २॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥३॥

पदार्थ—(ऊर्ध्वम्) ऊपर=ब्रह्मरन्ध्र में=सिर की खोपड़ी में (प्राणम्) प्राण वायु को (उन्नयति) उठा ले जाता है, खींचता है (अपानम्) अपान वायु को (प्रत्यक्) उलटा, पेट में (अस्यति) फेंकता है। (मध्ये) नाभि और कण्ठ के मध्य में (वामनम्) शुद्ध चेतन उत्तम गुणों वाले जीवात्मा को (आसीनम्) बैठे हुये (विश्वे देवाः) जगत् को प्रकाशित करने वाले देव, अथवा इन्द्रियां (उपासते) सेवन करते हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य प्राणवायु को ऊपर की ओर गति देता है अर्थात् प्राणवायु को रोकता है, वह उन्नति करता है। इसी प्रकार वह भी उन्नति करता है जो वेग से प्राणों को बाहर फेंकता और अपान वायु को बलपूर्वक नीचे ले जाता है, कण्ठ और नाभि के मध्य हृदयाकाश में रहने वाले जीवात्मा के दर्शन करता है। जीवात्मा प्रकृति से अधिक गुणों वाला है। प्रकृति 'सत्' है, जीवात्मा सत् और चित्=सच्चित् है। वह सब इन्द्रियों का राजा है। जिस प्रकार समस्त प्रजा योग्य राजा के शासन का पालन करती है, ऐसे ही सब इन्द्रियाँ प्राणायाम के अभ्यासी के आदेश में=शासन में, रहती हैं। जो मनुष्य प्राणों को, जो इन्द्रियों को वश में करने के साधन हैं, वश में नहीं लाते उनकी इन्द्रियाँ वश में नहीं रहतीं।

प्रश्न—प्राणों को रोकने से इन्द्रियों का वश में होना कैसे माना जाय ?

उत्तर—इन्द्रियाँ मन के अधीन कार्य करती हैं, जिस ओर मन इन्द्रियों को लगाता है, उसी ओर इन्द्रियाँ काम करती हैं। मन रुधिर संचार से गति करता है, यदि रुधिर संचार न हो तो

मन गति कर ही नहीं सकता और रुधिर संचार प्राणों के प्रचार=गति के कारण होता है। यदि प्राण गति न करें तो शरीर में किसी प्रकार की चेष्टा नहीं हो सकती?

प्रश्न—प्राण की गति तो सुषुप्ति दशा में भी बनी रहती है, उस दशा में मन और इन्द्रियाँ क्यों कार्य नहीं करतीं।

उत्तर—मनुष्य का शरीर फोटोग्राफर का कैमरा है, जिसका अन्दर का शीशा मन है और बाहर का शीशा इन्द्रियाँ हैं। यदि दोनों शीशों के बीच कागज का भी परदा लगा दिया जाये तो चित्र नहीं बनेगा। ऐसे ही सुषुप्ति दशा में मन और इन्द्रियों के बीच में तमोगुण का आवरण आ जाता है, अतः इन्द्रियों का कार्य बन्द हो जाता है किन्तु कर्मेन्द्रियों का कार्य बन्द नहीं होता, केवल ज्ञानेन्द्रियों का काम बन्द होता है।

प्रश्न—फिर यह नियम तो न रहा कि प्राणों के रोकने से ही इन्द्रियां रुकती हैं, क्योंकि इन्द्रियां और तरह भी रुक सकती हैं।

उत्तर—यह नियम तो है कि इन्द्रियाँ तभी गति करेंगी जब प्राण गति करेंगे। इन्द्रियों की गति प्राणों की गति के बिना नहीं दीखती किन्तु यह नियम नहीं कि जब प्राण गति करें तब इन्द्रियाँ अवश्य गति करें।

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः। देहाद्वि-मुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते। एतत् वै तत् ॥ ४ ॥

पदार्थ—(अस्य) इस (विस्रंसमानस्य) पृथक् होने वाले (शरीरस्थस्य) शरीर में रहने वाले (देहिनः) जीवात्मा का (देहात्) शरीर से (विमुच्यमानस्य) शरीर से छूटते हुए (किम्) क्या (अत्र) यहाँ (परिशिष्यते) शेष रह जाता है (एतत्+वै+तत्) यह वही है।

भावार्थ—यह शरीर संयोग से बना है, अतः इसके अवयवों का पृथक् पृथक् हो जाना अनिवार्य है। जो पदार्थ उत्पन्न होता है, उसका नाश होना अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार आत्मा का भी इस देह से वियोग आवश्यक है। जब शरीर में रहने वाला जीवात्मा इस शरीर को त्याग देता है, तब शरीर में क्या शेष रह जाता है ? ऋषि इसका उत्तर देते हैं कि वह जीवात्मा है जो इस शरीर के नाश के साथ नष्ट नहीं होता।

प्रश्न—जब शरीर का नाश हो गया तो जीव का नाश क्यों नहीं होता ?

उत्तर—नाश का अर्थ है कारण में लीन होना या अवयवों का पृथक् होना। जैसे गृह ईंटों के संयोग से बना है, मकान का नाश क्या है ? ईंटों का अलग-अलग हो जाना। जो पदार्थ संयोग से बनेगा, वह अवश्य विभाग द्वारा नष्ट होगा किन्तु जीवात्मा के अवयव नहीं हैं, न ही वह संयोग से बना है। उसका कोई कारण ही नहीं है, जब उसका कारण ही नहीं तो वह किसमें लीन होवे। जब उसका किसी में लय ही नहीं होता तो उसका नाश कैसे माना जा सकता है।

प्रश्न—कई लोग यह कहते हैं कि शरीर के नाश के पीछे ब्रह्म ही शेष रह जाता है।

उत्तर—ब्रह्म तो प्रत्येक नाशवान् पदार्थ के नाश के पश्चात् रह ही जाता है। अतः शरीर नाश के पश्चात् भी ब्रह्म रह ही जाता है, इसके यथार्थ होने में कोई सन्देह नहीं। जो वस्तु उत्पन्न होगी वह अवश्य नष्ट होगी। जीव और ब्रह्म दोनों नित्य हैं, दोनों शरीर के नाश के पीछे भी बने रहते हैं, अतः दोनों अर्थ ठीक हैं॥ ४॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥

पदार्थ—(न) नहीं (प्राणेन) प्राण से (न) न ही (अपानेन) अपान से (मर्त्यः) मरणधर्मा शरीर और जीव का संयोगी शरीर (जीवति) जीता है (कश्चन) कोई (इतरेण) प्राण और अपान से भिन्न अन्य वस्तु के द्वारा (तु) तो (जीवन्ति) जीते हैं (यस्मिन्) जिसमें (एतौ) ये प्राण और अपान (उपाश्रितौ) आश्रित हैं।

भावार्थ—जो जन यह मानते हैं कि मनुष्य या पशु पक्षी आदि प्राणियों का जीवन प्राणों के आश्रय है, उनका खण्डन करते हुए बतलाते हैं कि कोई प्राणों से जीवित नहीं रहता और न ही अपान जीवन का कारण है, वरन् जीवन का कारण प्राण अपान से भिन्न जीवात्मा है जिसके आश्रय प्राण अपान इन्द्रियाँ और शरीर ठहरे हैं। अर्थात् जीवन का कारण जीवात्मा है, प्राण जीवन का कारण नहीं।

प्रश्न—जब खाना पीना प्राणों के धर्म हैं और जीवित वही कहलाता है जिसमें पाचन और गति हो, तो प्राणों को जीवन का हेतु क्यों न माना जावे ?

उत्तर—प्राण तो प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान् है, जिसके कारण सृष्टि का प्रकाश करने वाले छः विकारों की सत्ता है किन्तु प्राण दो प्रकार के हैं, एक सामान्य प्राण जो समस्त जगत् में विद्यमान् है, दूसरे विशेष प्राण। जिसमें एक जैसी गति होती है, उसमें सामान्य प्राण होते हैं। जिसमें तीन प्रकार की गति होती है। इस गति के दो विभाग किये जा सकते हैं। एक संकल्पज, दूसरी व्यवस्थापिका। संकल्पज गति की सत्ता 'करना, न करना, उलटा करना' से जानी जाती है। इस संकल्पज गति वाले शरीर में जीवात्मा की सत्ता के कारण पाचन,

रक्षण और विवेचन (भले-बुरे की पहचान) जो जीवन के चिह्न हैं, पाये जाते हैं। जिन पदार्थों में सामान्य प्राणों की विद्यमानता के कारण व्यवस्थापिका गति होती है उनमें पाचन तो होता है,किन्तु रक्षण तथा विवेचन नहीं होता है। चूंकि जीवन का मूल रक्षण और विवेचन है और ये दोनों जीव के कारण से होते हैं, अतः जीवन का मूल हेतु जीव है ॥ ५ ॥

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

पदार्थ—(हन्त) दयनीय नचिकेतः। (ते) तुझको (इदम्) यह (प्रवक्ष्यामि) कहता हूँ, उपदेश करता हूँ (गुह्यम्) गुप्त रहस्य (ब्रह्म) वेद से प्रकाशित (सनातनम्) सदा से रहने वाला। (यथा) जैसे (मरणम्) मौत को (प्राप्य) प्राप्त करके (आत्मा) जीवात्मा (भवति) होता है (गौतम) गौतम गोत्र में उत्पन्न।

भावार्थ—यमाचार्य कहते हैं कि हे दयनीय नचिकेता! मरने के पश्चात् जीवात्मा का क्या होता है, इस विषय में तुझे मैं वेद से प्रकाशित सनातन उपदेश कहूँगा। यह विद्या प्रत्यक्ष नहीं है कि सर्व साधारण इसे जान सके। यह गुप्त रहस्य है, जिसको आत्मविद्या के ज्ञानी योगी ही जान सकते हैं। साधारण जनों को इसमें गति नहीं है। जो जीवात्मा के स्वरूप को जान जाते हैं, वही इस तत्त्व को जान सकते हैं कि शरीर छोड़ने के बाद जीवात्मा कहाँ जाता है। जिनको यही ज्ञान नहीं कि जीवात्मा है क्या वस्तु? जीवात्मा द्रव्य है या गुण? संयोगज है या अज? ज्ञान है या ज्ञानवान्, नित्य है या अनित्य? स्वभाव से मुक्त है या बद्ध, वे क्या और कैसे जानें कि मरने के बाद आत्मा का क्या होता है? सारांश यह कि आत्मविद्या से शून्य

जनों के लिये यह विद्या एक गुप्त रहस्य है।

प्रश्न—नचिकेता पर क्या आपत्ति आ पड़ी थी, जिसके कारण यमाचार्य ने उसे दयनीय कहा ?

उत्तर—प्रथम तो नचिकेता को उसके पिता ने मौत के हवाले करने को कहा था, दूसरे वह ऐसी विद्या को प्राप्त करने का इच्छुक था, जिसकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। छोटी सी आयु में कठिनता से पूर्ण होने वाली इच्छा का उत्पन्न होना क्या कम आपत्ति है ॥ ६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

पदार्थ—(योनिम्) दूसरे शरीर को (अन्ये) अन्य लोग, जिन्होंने ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं की, (प्रपद्यन्ते) प्राप्त करते हैं [अर्थात् दूसरे शरीर में चले जाते हैं] (शरीरत्वाय) कार्यों का फल भोगने अथवा आगे के लिये कार्य करने को शरीर प्राप्ति के लिये (देहिनः) जीवात्मा। (स्थाणुम्) गति रहित या संकल्पज गति से शून्य योनियों को (अन्ये) कई महापापी लोग (अनुसंयन्ति) प्राप्त करते हैं। (यथाकर्म) कर्मानुसार (यथाश्रुतम्) संस्कारी ज्ञान के अनुसार।

भावार्थ—ऋषि बतलाते हैं, हे नचिकेता ! जिन लोगों को मनुष्य शरीर में ब्रह्मज्ञान हो जाता है उनकी मरने के बाद जो दशा होती है, उसका वर्णन तो हो चुका। जिन्होंने मनुष्य देह प्राप्त करके भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं किया, वे पुनः मनुष्यदेह प्राप्त करते हैं, अथवा गौ आदि पशु-पक्षियों की योनियों में जन्म लेते हैं। जो सबसे नीचे कर्मों वाले हैं, वे ऐसी योनियों या शरीरों को प्राप्त करते हैं जो संकल्पज गति से रहित होते हैं। फलित यह कि जैसा कर्म और ज्ञान होता है, वैसे शरीर मिलते हैं।

प्रश्न—'स्थाणु' शब्द का अर्थ अन्य टीकाकार वृक्षादि योनियां करते हैं, तुमने 'संकल्पज गति से रहित, गतिशून्य' अर्थ कैसे किया ?

उत्तर—क्योंकि कणाद आदि महर्षि वृक्षों का शरीर नहीं मानते, जैसा कि वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य से प्रतीत होता है कि वे वृक्षों को विषय मानते हैं और इन्हें मिट्टी पत्थर की भाँति वर्णन करते हैं*। शरीर का लक्ष्य पूरा करने के लिये जीव का जाना उपनिषद् ने वर्णन किया है। अतः वह अर्थ उचित नहीं है। इसका अभिप्राय वे योनियां हैं जो वृक्षों में निश्चेष्ट होकर पड़ी रहती हैं।

प्रश्न—कणाद ने भले ही वृक्षों को विषय कहा हो किन्तु मनु ने स्पष्ट शब्दों में वृक्षों को स्थावर योनि कहा है ?

उत्तर—स्थावर का अभिप्राय स्थान है किन्तु यदि कोई हठ से कहे कि वृक्ष योनि ही है तो उसे जानना चहिए कि वेद ने स्पष्ट शब्दों में वतलाया है कि सृष्टि दो प्रकार की ही है, एक भोक्ता, दूसरी भोग्य। जिसमें जीव है वह चेतन सृष्टि भोक्ता= भोगने वाली है। जिसमें जीव नहीं वह भोग्य सृष्टि है। वह भोगने खाने आदि के वास्ते बनी है। इन्हीं को स्थावर, जङ्गम, जड़, चेतन आदि अनेक नाम से कहा जाता है। इसका तो कोई

---

* वैशेषिक दर्शन में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के पहले दो प्रकार बतलाये गये हैं, एक नित्य—परमाणु रूप, दूसरे अनित्य। फिर अनित्य के तीन भेद वतलाये गये हैं। १. शरीर २. इन्द्रिय और ३. विषय। शरीर उसे कहते हैं जहाँ रहकर जीवात्मा सुख-दुःख भोगता है। इन्द्रिय भोगने के साधन=हथियार को कहते हैं। विषय उसे कहते हैं, जो भोगा जाय। अनित्य पृथ्वी के तीसरे भेद—विषय में ही वृक्षों, मिट्टी, पत्थर आदि को गिनाया गया है।

अपलाप नहीं कर सकता कि वनस्पतियाँ खाने के लिए बनाई गई हैं। इसी विचार को लेकर कपिल ने कहा कि जिसमें चेतन=जीवात्मा नहीं वह भोग्य सृष्टि कहलाती है।

प्रश्न—यदि वृक्ष को योनि माना जाय, तो क्या दोष है ?

उत्तर—प्रथम तो वृक्ष में चेतन का लक्षण करना, न करना, उलटा करना' रूपी संकल्पज गति को सिद्ध करना होगा। दूसरे यह सिद्ध करना होगा कि वृक्ष कर्म योनि हैं, भोग योनि हैं या उभय योनि ? तीसरे यह बतलाना होगा'कि वे किस अवस्था में हैं। चौथे खाने के लिये, वृक्षों से भिन्न कोई अन्य सृष्टि सिद्ध करनी होगी। पाँचवें--यह भी बताना होगा कि दुःखादि गुण ❀ समवाय सम्बन्ध से होते हैं या किसी अन्य सम्बन्ध से ? सारांश यह कि इस अशुद्ध सिद्धान्त में इतने दोष हैं कि स्थानाभाव के कारण यहाँ विशेष नहीं लिखा जा सकता +।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वैतत् ॥८॥

❀ सम्बन्ध कई प्रकार के होते हैं उनमें से एक समवाय सम्बन्ध है। द्रव्य गुण का, द्रव्य कर्म का, जाति व्यक्ति का जो सम्बन्ध है, वह समवाय सम्बन्ध होता है, यह नित्य होता है।

+ भाष्यकार वृक्षों में जीव नहीं मानते। स्थानाभाव से हम उनके इस मत का यहाँ विवेचन नहीं करते। इनके इस मत का समर्थन वेद शास्त्रों से नहीं होता। (स्वामी वेदानन्द)

पदार्थ—(यः) जो (एषः) यह अन्तर्यामी (सुप्तेषु) सोए हुओं में (जागर्ति) जागता है (कामं+कामम्) प्रत्येक कामना के अनुसार (पुरुषः) सर्वव्यापक परमात्मा (निर्मिमाणः) सर्व जगत् का निर्माण करता हुआ। (तदेव) वही (शुक्रम्) जगत् का रचने वाला मूल है (तत्) वह (ब्रह्म) ब्रह्म=सबसे बड़ा है। (तत्-एव) वही (अमृतम्) अविनाशी (उच्यते) कहा जाता है (तस्मिन्) उस ब्रह्म में (लोकाः) सूर्य आदि लोक (श्रिताः) आश्रित हैं, ठहरे हुए हैं (सर्वे) सब (तत्) उसको (उ) तो (न) नहीं (अत्येति) लंघन कर सकता (कश्चन) कोई। (एतत्+वै+तत्) जिस ब्रह्म के विषय में तूने प्रश्न किया था, वह यही है।

भावार्थ—सर्वान्तर्यामी परमात्मा समस्त जीवों के सोने की दशा में भी जागता हुआ उनकी रक्षा करता है। यद्यपि उसे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है तथापि जीवों की आवश्यकताओं के अनुसार प्रत्येक वस्तु की रचना करता है। यद्यपि जीव उसकी आज्ञा का पालन नहीं करते वरन् अनेक कार्य उसकी आज्ञा के विरुद्ध करते हैं तो भी वह उन पर से करुणा का कर नहीं हटाता और सुषुप्ति अवस्था देकर उनको आनन्द देता है। वही सब जगत् का रचने वाला है, वही सबसे बड़ा है, वही अमृत=मुक्तस्वरूप है। जिसका पान कर जीव अमर हो जाते हैं। जो लोग उसके नियमों के अनुसार चलते हैं, वे मुक्ति-सुख प्राप्त करते हैं। उसी के सहारे सूर्य, पृथ्वी आदि लोक बसते हैं। उसने एक दूसरे में आकर्षण शक्ति उत्पन्न कर दी है जिससे बँधे हुए ये सब लोक आकाश में स्थित हैं। जैसे मनुष्य का फेंका हुआ पत्थर तभी तक आकाश में रहता और ऊपर को जाता है, जब तक शक्ति उसमें रहती है। ज्योंही

शक्ति समाप्त हो जाती है, त्योंही वह नीचे की ओर गिरता है ऐसे ही प्रत्येक लोक उसकी ही शक्ति से गति कर रहा है। कोई भी लोक उसके नियम को तोड़ नहीं सकता। सब नियमपूर्वक गति कर रहे हैं। इसी नियम के ज्ञान से ज्योतिषी बतला सकता है कि हजार वर्षों बाद अमुक तिथि को ग्रहण होगा और वह होता है। हे नचिकेता! जिस ब्रह्म के विषय में तूने प्रश्न किया था, वह ब्रह्म यही है।

प्रश्न— उपनिषद् ने तो यह बतलाया कि कोई उसके नियम को तोड़ नहीं सकता किन्तु हम देखते हैं कि लोग रात दिन पाप करते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यदि परमात्मा के नियम के विरुद्ध न किया जाय, तो वह पाप कहला ही नहीं सकता। पुन: उपनिषद् का यह कथन कैसे सत्य=सङ्गत हो सकता है?

उत्तर— एक परमात्मा के नियम हैं, दूसरे परमात्मा के आदेश। परमात्मा के नियम को कोई नहीं तोड़ सकता। यथा— परमात्मा का नियम है कि आंख से देखें, कान से सुनें, नाक से सूँघें इत्यादि, कोई नाक से नहीं सुन सकता, कान से नहीं देख सकता, आँख से नहीं सूँघ सकता। परमात्मा का नियम है कि अग्नि की शिखा=ज्वाला ऊपर की ओर जले, कोई अग्नि-शिखा को नीचे की ओर नहीं कर सकता। सूर्य चन्द्र आदि को कोई बदल नहीं सकता। सर्दी के दिनों में रात्रि बड़ी और दिन छोटा होता है, कोई दिन को बड़ा और रात्रि को छोटा नहीं कर सकता। वायु जब पश्चिम से चल रही है, उसे कोई पुरवा= पूर्व से चलने वाली नहीं कर सकता। भाव यह कि परमात्मा के नियमों को तोड़ने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। आदेशों का उलंघन हो सकता है, जिसका दण्ड भी मिलता है। आदेशों के

अनुसार या विरुद्ध चलने, न चलने में जीव स्वतन्त्र हैं। यदि आदेश के अनुसार आचरण करते हैं तो सुख पाते हैं। यदि आदेश के अनुसार नहीं चलते या विरुद्ध चलते हैं तो दुःख पाते हैं।

प्रश्न— ईश्वर जीवों को अपना आदेश पालन करने में बाधित=विवश क्यों नहीं करता ?

उत्तर—चूँकि आदेशानुसार चलने न चलने में जीवों का ही लाभ या हानि है अतः ईश्वर इसमें उन्हें विवश नहीं करता, इसमें सब जीव स्वतन्त्र हैं। जिसमें वे स्वतन्त्र हैं उनमें बाधित करना ईश्वर अन्याय मानता है ॥८॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपं बहिश्च ॥९॥

पदार्थ— (अग्निः) अग्नि (यथा) जैसे (एकः) एक है (भुवनम्) उत्पन्न, संयोजक पदार्थों में (प्रविष्टः) प्रविष्ट होकर (रूपं+रूपम्) प्रत्येक रूप के साथ (प्रतिरूपं) उसी रूपवाली (बभूव) हो जाती है (एकः) एक (तथा) ऐसे ही (सर्वभूतान्तरात्मा) समस्त पदार्थों के भीतर व्यापक होने वाला आत्मा अर्थात् ब्रह्म (रूपं+रूपम्) प्रत्येक रूप के साथ (प्रतिरूपं) उसी रूप वाला तथा (बहिः) बाहर (च) भी होता है।

भावार्थ— जैसे प्रत्येक पदार्थ में एक ही अग्नि विद्यमान् है और जिस आकार के पदार्थ हैं, उसी आकार वाला प्रतीत होता है क्योंकि अग्नि का अपना कोई आकार नहीं। प्रत्येक आकार में जो रूप दीखता है, वह उसके भीतर अग्नि की सत्ता को सिद्ध कर रहा है। अर्थात् आकार रहित अग्नि प्रत्येक

आकार को प्रकट कर रहा है। परमात्मा प्रत्येक पदार्थ के भीतर व्यापक है,कोई पदार्थ उससे रिक्त नहीं है। सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ के भीतर भी विद्यमान है। संयोगज पदार्थों की अपेक्षा से अज [उत्पन्न न होने वाले] पदार्थ और आकाश सूक्ष्म होते हैं, अतः प्रत्येक संयोगज—मूर्त्तिमान् पदार्थ के अन्दर आकाश है। जिसके भीतर आकाश हो, वह संयोगज है अज नहीं। परमात्मा अज [परमाणुओं, आत्माओं] पदार्थों तथा आकाश से भी सूक्ष्मतर है, अतः वह सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ के भीतर भी विद्यमान है। परमाणु के भीतर आकाश नहीं रह सकता किन्तु परमात्मा परमाणु में रहता है। यह नियम नहीं है कि जहाँ आकाश हो, वहीं परमात्मा हो, वरन् वह परमाणुओं के भीतर भी जहाँ आकाश नहीं रह सकता, विद्यमान है, और बाहर भीं है। यदि परमात्मा केवल पदार्थों के भीतर ही होता तो पदार्थ परमात्मा से बड़े होते क्योंकि छोटा पदार्थ बड़े के अन्दर रह सकता है। इस सन्देह को मिटाने के लिए कहा कि वह बाहर भी है अर्थात् वह सब का आधार है, उसका आधार कोई नहीं, वह सबके भीतर और बाहर रहने वाला है ॥९॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥

पदार्थ— (वायुः) वायु [जिसमें उठाकर चलने की शक्ति है] (यथा) जैसे (एकः) एक है (भुवनम्) उत्पन्न पदार्थों में (प्रविष्टः) प्रविष्ट होकर (रूपं+रूपम्) प्रत्येक रूप के साथ (प्रतिरूपः) वैसे ही रूप वाला (बभूव) होता है (एकः) एक (तथा) वैसे ही (सर्वभूतान्तरात्मा) समस्त जीवों के भीतर रहने

वाला आत्मा (रूपं+रूपम्) हर एक रूप के साथ (प्रतिरूपः) उस ही रूप वाला होता है और (बहिः) बाहर (च) भी है।

भावार्थ— जैसे वायु प्रत्येक संयोगज पदार्थ में प्रविष्ट होने पर उसी के आकार सा प्रतीत होता है। वायु का अपना कोई आकार नहीं,वह जैसे पदार्थ में रहता है,वैसा ही उसका आकार बन जाता है। यदि मकान चतुरस्र है तो उसमें चलने वाला वायु भी उसी आकार का होगा। यदि गृह सम चतुरस्र है तो वायु भी उसी आकार का होगा। यदि गृह गोल है, तो वायु का आकार भी गोल होगा। जैसे वायु प्रत्येक पदार्थ के साथ उस ही आकार वाला प्रतीत होता है, परमात्मा की भी यही दशा है कि वह जिस पदार्थ में रहता है उसी ही आकार में रहता है क्योंकि उसका अपना कोई आकार नहीं। यदि पदार्थ के अन्दर ही होता तो उसे आकार वाला कह सकते थे किन्तु वह पदार्थ के बाहर भी है। परमात्मा इस जगत् के अन्दर बाहर होने से जगत् के आकार वाला नहीं कहला सकता।

प्रश्न— प्रत्येक पदार्थ के भीतर तो परमात्मा की सत्ता समझ में आ सकती है किन्तु पदार्थों के बाहर उसे कैसे मानें ?

उत्तर— यदि परमात्मा जगत् के भीतर ही हो तो वह सबसे महान् ब्रह्म नहीं कहला सकता क्योंकि व्यापक और व्याप्य का यही भेद है कि व्याप्य व्यापक के भीतर रहता है [अर्थात् व्यापक की अपेक्षा व्याप्य थोड़े से स्थान में रहता है,जहाँ व्याप्य होता है, व्यापक वहाँ भी रहता है और उससे अतिरिक्त स्थान में भी] जैसे लोहे के कड़ाहे का जल। और व्यापक वह है जो व्याप्य के भीतर बाहर दोनों स्थानों में रहता है जैसे लोहे के पात्र में आग, वह भीतर बाहर दोनों ओर होती है। यदि अग्नि

दो ओर न हो तो पात्र छूने पर दोनों ओर से गरम प्रतीत न हो।

प्रश्न— लोहे के पात्र के बाहर भी आकाश रहता है अतः अग्नि अन्दर बाहर दोनों ओर रह सकती है किन्तु आकाश के बाहर क्या वस्तु है, जिसके भीतर रहने से परमात्मा को आकाश में व्यापक अर्थात् आकाश के भीतर बाहर रहने वाला माना जाये।

उत्तर— जो व्यापक होगा, वह व्याप्य की अपेक्षा अवश्य बड़ा स्वीकार करना होगा। चूँकि आकाश लोहे के पात्र का आधार [व्यापक] है, अतः आकाश लोहे के पात्र से बड़ा है। परमात्मा आकाश से भी महान् है अतः वह आकाश से बाहर भी है, जिस तरह पात्र के भीतर बाहर दोनों ओर आकाश हैं। यदि पूछा जाये कि आकाश किसके अन्दर है ? तो कहना होगा कि सब वस्तुओं के भीतर बाहर। यदि कोई कहे कि पदार्थों के बाहर आकाश किस में रहता है ? यदि कहो परमात्मा में तो यही उत्तर परमात्मा के सम्बन्ध में भी दिया जा सकता है किन्तु इसमें आत्माश्रय दोष आता है क्योंकि इससे वह स्वयं ही व्याप्य और स्वयं ही व्यापक हो जाता है,एक में व्याप्य व्यापकभाव वन भी नहीं सकता। व्याप्य का व्यापकसे अल्प होना आवश्यक है। परमात्मा सबसे महान् है अतः सब उसके भीतर हैं। वह सबसे सूक्ष्म है अतः वह सबके भीतर है। उसको अपेक्षा न कोई सूक्ष्म है और न कोई उससे महान् है, जिसका व्याप्य वह बने ॥१०॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥

पदार्थ—(सूर्यः) सूर्य (यथा) जैसे (सर्वलोकस्य) समस्त संसार का अर्थात् सब देखने वालों का (चक्षुः) देखने का साधन (न) नहीं (लिप्यते) लिप्त होता (चाक्षुषैः) चक्षु सम्बन्धी (बाह्यदोषैः) बाह्य दोषों से, [अर्थात् जो दोष आँख में आते हैं, वह सूर्य में नहीं आ सकते] (एकः) एक (तथा) ऐसे ही (सर्वभूता-न्तरात्मा) सब पदार्थों के अन्दर रहने वाला परमात्मा (न) नहीं (लिप्यते) लिप्त होता (लोकदुःखेन) संसार के दुःख से (बाह्य) बाहर भी रहने वाला।

भावार्थ— जब यह कहा गया कि परमात्मा प्रत्येक पदार्थ के भीतर है कोई पदार्थ उससे रिक्त=खाली नहीं, तो यह शङ्का हुई कि क्या वह मल मूत्रादि गन्दे मलिन पदार्थों में भी रहता है? यदि हाँ तो क्या उसको दुर्गन्ध आदि से कष्ट न होता होगा ? हम तो सहसा दुर्गन्धित पदार्थों के पास जाने से घबरा जाते हैं, वह अपवित्र और दुर्गन्धमय पदार्थों में कैसे रहता होगा? इसके समाधान में बतलाते हैं कि जिस प्रकार सूर्य समस्त संसार का चक्षु अर्थात् देखने का साधन है किन्तु चक्षु का सहायक होने पर भी आँख में होने वाले रोगों से वह रोगी नहीं होता ऐसे ही परमात्मा समस्त जगत् में व्यापक होता हुआ सांसारिक दुःखों से लिप्त नहीं होता। संसार में जितने दोष हैं, वे स्थूल हैं। स्थूल सूक्ष्म से बाहर रहता है, अन्दर नहीं जा सकता। जब भीतर जा ही नहीं सकता तो क्या हानि कर सकता है। निस्सन्देह सर्वव्यापक होने के कारण परमात्मा मलिन से मलिन पदार्थ में भी विद्यमान है, किन्तु इस नियम के कारण कि स्थूल पदार्थ के गुणों का संक्रमण सूक्ष्म में नहीं हो सकता, दुर्गन्धमय पदार्थों के गुण परमात्मा में नहीं जा सकते। गुण गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है, जहाँ गुणी होगा, वहीं उसके गुण भी होंगे। चूँकि स्थूल द्रव्य सूक्ष्म में

बैठ नहीं सकता, अतः उसके गुण भी वहाँ नहीं जा सकते। पानी में अग्नि प्रविष्ट होकर उसे गरम कर सकता है किन्तु अग्नि में जल प्रविष्ट होकर उसे शीतल नहीं कर सकता। ऐसे ही पृथ्वी आदि स्थूल पदार्थों के गुण परमात्मा में नहीं जा सकते। और स्थूल का सूक्ष्म पर प्रभाव भी नहीं पड़ता। अतः समस्त संसार के भीतर रहता हुआ परमात्मा संसार के दुःखों से लिप्त नहीं होता ॥११॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

पदार्थ—(एकः) एक अकेला (वशी) सबको नियम में रखने वाला (सर्वभूतान्तरात्मा) सब पदार्थों के भीतर रहने वाला सर्वव्यापक परमात्मा (एकं) एक (रूपम्) जगत् के कारण रूप को (बहुधा) अनेक प्रकार से (यः) जो (करोति) करता है, (तम्) उस (आत्मस्थम्) आत्मा के भीतर रहने वाले को (ये) जो (अनुपश्यन्ति) अनुभव करते या अन्दर देखते हैं (धीराः) धैर्य-शाली बुद्धिमान् पुरुष, (तेषाम्) उनको (सुखम्) सुख (शाश्वतम्) स्थिर (न), नहीं (इतरेषाम्) दूसरों को।

भावार्थ— यह वह वाक्य है, जो सब मतों को एक करके परमात्मा की पूजा में लगाता है, जो यौक्तिक रीति से परमात्मा की एकता का उपदेश करता हैं। मतवादियों के आठ विवाद हैं जिनको दूर करके यह उपनिषद्-वचन सब को एक करता है। वे आठ विवाद के स्थान ये हैं–१. बहुत से लोग कहते हैं, ईश्वर है, अनेक जन कहते हैं, ईश्वर नहीं है, यह आस्तिकों (ईश्वर-वादियों) तथा नास्तिकों (अनीश्वरवादियों) का झगड़ा है।

२. दूसरा झगड़ा यह है कि ईश्वर एक है या अनेक ? बहुत से एक ईश्वर मानते हैं, और कई❀ तीन से चौबीस तक मानते हैं, यह विवाद एकेश्वरवादियों तथा अनेकेश्वरवादियों का है। ३. तीसरा झगड़ा यह है कि ईश्वर कहाँ है ? इस सम्बन्ध में कोई तो उसे सर्वत्र (सर्वव्यापक) मानते हैं और कोई उसे+ चौथे आसमान पर, सातवें आसमान पर, बैकुण्ठ, क्षीरसागर, गोलोक, ब्रह्मलोक, कैलाश, मोक्षशिला आदि में। ईश्वर को अपरिच्छिन्न और परिच्छिन्न मानने वालों का यह विवाद है ४. चौथा विवाद यह है कि ईश्वर कर्मों का फल किस भाँति देता है ? कोई कहता है ईश्वर कर्मों का फल देता ही नहीं, कोई कहता है चित्रगुप्त लिखता रहता है, कोई मुनकिर नकीर नामक दो देव-दूत (फरिश्ते) मानता है, यह झगड़ा कर्मफल के विषय में है[1]।

❀ ईसाई ब्रह्म, पवित्रात्मा तथा ईसा इन तीनों को समान मानते है, अतः वे तीन ईश्वर मानने वाले हैं। जैन चौबीस तीर्थङ्कर मानते हैं, उन्हें ही परमेश्वर मानते हैं, अपने मन्दिरों में उनकी मूर्त्तियाँ बनाकर पूजा आराधना करते हैं।

+ ईसाई ईश्वर को चौथे आस्मान पर, मुसलमान सातवें आस्मान और पौराणिकों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय गोलोक आदि में ईश्वर का होना मानते हैं। विस्तार के लिए 'सत्यार्थ प्रकाश' का ग्यारहवाँ, बारहवां, तेरहवां और चौदहवां समुल्लास देखिये।

[1]. जैन कहते हैं, ईश्वर कर्मों का फल नही देता, कर्म अपने आप ही फल देते हैं। पौराणिक कहते हैं कि यमराज का प्रधान लेखक चित्रगुप्त है, वह सबके भले बुरे कर्मों का विवरण लिखता रहता है। मरने पर जब जीव यमराज के सामने पहुँचता है तो चित्रगुप्त उसका कर्मलेखा प्रस्तुत करते हैं। मुसलमान कहते हैं मुनकिर नक़ीर नामक दो देवदूत मनुष्य के भले बुरे कर्मों को लिखते हैं। प्रलय वाले दिन=न्याय के दिन, वे परमात्मा के सामने अपने लेखों को पेश करेंगे।

५. पाँचवा झगड़ा यह है कि ईश्वर ने जगत् को किस वस्तु से उत्पन्न किया ? कोई कहता है, ईश्वर ने उत्पन्न ही नहीं किया, कोई कहता है, 'कुन्' कहने से जगत् उत्पन्न हो गया, कोई कहता है, प्रकृति से उत्पन्न हुआ [२]। ६. छठा झगड़ा यह है कि जीव ब्रह्म में भेद है या अभेद ? कोई केवलाद्वैत मानता है कोई विशिष्टाद्वैत, कोई द्वैताद्वैत आदि आदि स्वीकार करता है[३]। ७. सातवां झगड़ा यह है कि अनादि पदार्थ कितने हैं ? कोई एक, कोई तीन, और कोई कोई ९२ तक मानने वाले भी हैं। बहुत से सभी पदार्थों को अनादि मानते हैं❀। ८. आठवां झगड़ा यह है कि मुक्ति का साधन क्या है ? कोई ज्ञान से मोक्ष मानता है, कोई स्नान से, कोई किफ़ारा से, कोई शफ़ाअत से +। इन

---

२. जैन बौद्ध तथा योरुप के जड़वादी ईश्वर की सत्ता ही नहीं मानते, उसे जगत्कर्ता कैसे मानें ? मुसलमान कहते हैं संसार का उपादान कारण material cause कोई नहीं। ईश्वर ने 'कुन्' कहा, और जगत् अभाव से भावरूप हो गया। वैदिक धर्मी कहते हैं कि जगत् का उपादान कारण न मानना तर्कशून्य मत है। जगत् का उपादान कारण प्रकृति है।

३. शङ्कराचार्य के अनुयायी केवलाद्वैतवादी है। रामानुजाचार्य के अनुयायी विशिष्टाद्वैत मानते हैं। निम्बार्काचार्य भास्कराचार्य के शिष्य द्वैताद्वैत के मानने वाले हैं।

❀ मुसलमान ईसाई आदि एक ईश्वर को ही अनादि मानते हैं। वैदिकधर्मी ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति—इन तीन को अनादि मानते हैं। पश्चिमी रसायनशास्त्री ९२ तत्त्वों को अनादि मानते हैं। जैन जगत् के आचार्य सभी पदार्थों को अनादि मानते हैं।

+ वैदिकधर्मी ज्ञान से, ईसाई कफारा से, मुसलमान शफाअत से तथा कई पौराणिक स्नान से मुक्ति मानते है।

आठ झगड़ों का उपनिषत् ने निर्णय कर दिया है। पहले झगड़े का निर्णय यह किया है कि जगत्कर्त्ता ईश्वर एक है। 'एक है' कहने से पहले दो प्रश्नों का समाधान हो गया। 'है' कहने से 'नही है' का खण्डन हो गया, और 'एक' कहने से 'अनेक' होने का खण्डन हो गया। अब प्रश्न होता है, कि यदि वह एक है तो उसका हेतु ? इसका समाधान दिया है कि सर्वभूतान्तरात्मा होने से अर्थात् सर्वव्यापक होने के कारण। सर्वव्यापक एक से अधिक माने जायें तो एक जैसों=समानों का परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध नहीं बन सकता। स्थूल का प्रवेश सूक्ष्म में तो हो सकता है, या अल्प महान् में हो सकता है किन्तु समान जाति में सूक्ष्मता या अल्पता नहीं हो सकती। यदि आधे आधे व्यापक माने जायें तो वे सर्वव्यापक नहीं हो सकते। ईश्वर को सर्वव्यापक कहने से 'ईश्वर कहाँ है ?' इस तीसरे झगड़े का निर्णय हो गया कि ईश्वर किसी स्थान विशेष में नहीं, वरन् सर्वत्र है।

जब ईश्वर को सर्वव्यापक कहा, तो प्रश्न होता है कि वह सर्वत्र कैसे है ? और उसके होने का क्या प्रमाण है ? उत्तर मिलता है कि सर्वभूतान्तरात्मा, सब प्राणियों के अन्दर रहने वाले आत्माओं की तरह। जिस प्रकार हमारे शरीर की व्यवस्थित=नियमपूर्वक चेष्टा आत्मा की सत्ता का प्रमाण है, इसी प्रकार संसार में सूर्य चन्द्र, भूमि, ग्रह, नक्षत्रादि नियम से गति कर रहे हैं, इस नियम को समझकर ही विज्ञानी बतला सकते हैं कि अमुक मास में अमुक नक्षत्र अमुक स्थान पर होगा। यह नियमित गति परमात्मा की सत्ता को सिद्ध कर रही है। अतः सबके भीतर विद्यमान भगवान् सबके कर्मफलों का विधान करते हैं, कर्म-फलदाता के बिना तो कर्म का फल अपने आप

हो नहीं सकता। इसी से परमात्मा को यहाँ 'वशी'=सबको नियम में रखने वाला, कहा। इससे चौथे विवाद का निर्णय हो गया।

प्रश्न—यह क्यों न मान लिया जाये कि चित्रगुप्त सबका लेखा रखता है या मुनकिर नकीर सब कर्म लिखते हैं ?

उत्तर—किसी लेखक, सहायक या एजेण्ट की आवश्यकता परिछिन्न को तो पड़ सकती है। बताओ वह अपरिच्छिन्न=असीम परमात्मा कहाँ नहीं है, जहाँ उसका एजेंट प्रतिनिधि या पैगम्बर रहकर कार्य करे ? चित्रगुप्त आदि की सत्ता तो परमात्मा को परिच्छिन्न=सीमा वाला, होने के कारण मानी जा रही है। परमात्मा अपरिच्छिन्न है, अतः इनकी आवश्यकता नहीं। लिखना भूलने के रोग का उपाय है। यदि परमात्मा को विस्मरण=भूलने का रोग, होता तो उसके प्रतिनिधि या मुख्य लेखक या देवदूत लेख लिखते। जब उसमें भूल ही नहीं है तब लिखने की क्या आवश्यकता? ५वें झगड़ेके समाधानके लिये कहा कि वह प्रकृति से जगत् उत्पन्न करता है। अनेक लोग यह कहेंगे कि यह क्यों न माना जाये कि उसने 'कुन्' कहा और जगत् उत्पन्न हो गया। प्रश्न होता है 'कुन्' किस से कहा ? जब तक सम्बोध्य [=जिससे कहा जाये] न हो तो कहें किससे ? अनेक लोग यह कहते हैं कि ऐसा क्यों न मान लिया जाय कि अनादि काल से जगत् ऐसा ही चला आता है अर्थात् अनादि है। इसका उत्तर यह है कि कोई विकारी पदार्थ अनादि नहीं हो सकता। छठे विवाद के निर्णय के लिये 'आत्मस्थ' कहा, अर्थात् जीव और ब्रह्म में भेद है। ब्रह्म जीव के भीतर भी व्यापक है। वह आत्मा में रहने वाला परमात्मा है। सातवें विवाद की शान्ति के लिये कहा कि तीन पदार्थ अनादि हैं—एक देखने वाला

जीवात्मा, दूसरा जिसको वह देखता है अर्थात् ब्रह्म । जीव, ब्रह्म और प्रकृति ये तीन अनादि पदार्थ हैं ।'मुक्ति(शांति) का क्या साधन है ?' इस आठवें विवाद का निर्णय यों है कि ईश्वर को एक, समस्त संसार में व्यापक, अपरिच्छिन्न, सर्वान्तर्यामी अर्थात् सबके भीतर के विचारों को जानने वाला, कर्मफल-प्रदाता, प्रकृति से जगत् की रचना करने वाला, जीवों से भिन्न जानने, मानने और तीन अनादि पदार्थों के मानने से मुक्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं । अर्थात् ज्ञान से मुक्ति होती है, स्नान आदि से नहीं ।।१२।।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।।१३।।

पदार्थ— (नित्यः) एकरस रहने वाला (नित्यानाम्) नित्यों में (चेतनः) ज्ञानवान् (चेतनानाम्) ज्ञानवानों में भी (एकः) एक (बहूनाम्) अनेकों को (यः) जो (विदधाति) बनाता है, पूर्ण करता है (कामान्) कामनाओं को, आवश्यकताओं को (तम्) उस (आत्मस्थम्) आत्मा के भीतर रहने वाले को (ये) जो (अनुपश्यन्ति) अन्दर देखते हैं या अनुभव करते हैं (तेषाम्) उन्हें (शान्तिः) शान्ति, एकाग्रता (शाश्वती) स्थिर, (न) नहीं (इतरेषाम्) दूसरों को ।

भावार्थ— वह नित्य या अनादि पदार्थों में नित्य है । प्रकृति में विकार होते हैं, अतः उसमें अवस्थादि परिणाम होते हैं, जीव को विभिन्न योनियों में जाना पड़ता है, इस कारण उसके साथ उत्पत्ति शब्द का प्रयोग होता है । किन्तु परमात्मा एकरस है, उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता, उसमें न

नित्यों में भी नित्य है, वह चेतनों में भी चेतन=ज्ञानी है, अर्थात् सर्वज्ञ है। दूसरों (जीवों) के सम्बन्ध में, अल्पज्ञता के कारण किसी वस्तु के न जानने से अज्ञान शब्द का व्यवहार हो सकता है, परमात्मा तो सर्वज्ञ है, वह ज्ञानियों में भी श्रेष्ठ ज्ञानवान् है। वह एक है किन्तु समस्त जीवों की आवश्यकताओं को पूर्ण करता है, प्रत्येक को वह पदार्थ जिन पर जीवन का निर्भर होता है, देता है। उन्हीं को शाश्वत=स्थिर शान्ति मिलती है, जो जीव मन के मल, विक्षेप, आवरण—तीन दोषों को वारण करके आत्मा में रहने वाले परमात्मा के दर्शन करते हैं। जिस प्रकार नेत्र में लगे अञ्जन को देखने के लिये दर्पण, प्रकाश, दर्पण की निर्मलता, दर्पण की निश्चलता और आवरण से रहित होना आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा में रहने वाले परमात्मा को देखने के लिये मन में ब्रह्मचर्याश्रम द्वारा ज्ञान=प्रकाशको प्राप्त करने, गृहाश्रम में दूसरों के अनिष्ट=बुरा चिन्तन करने से उत्पन्न होने वाले सब मलों को निष्काम परोपकार से दूर करने, वानप्रस्थाश्रम के द्वारा वैराग्य प्राप्त करके अथवा योग के अङ्गों के अनुष्ठान के अभ्यास से मन की चंचलता का नाश करने, संन्यासाश्रम द्वारा अहंकार के आवरण को दूर करने की आवश्यकता होती है। जिन्होंने इन आश्रमों के अभ्यास या योगादि साधनों से मन के दोष दूर न कर दिये हों, उनको स्थिर शान्ति नहीं मिल सकती ॥१३॥

तदेतदिति मन्यन्ते अनिर्देश्यं परमं सुखम् । कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥

पदार्थ—(तत्) उसको (एतत् इति) यह 'ऐसा है' इए

भांति (अनिर्देश्यम्) निर्देश न करने योग्य, न बताने योग्य (परमम्) सब से उत्तम (सुखम्) सुखस्वरूप परमात्मा। (कथं+नु) कैसे तो (तत्) उसको (विजानीयाम्) मैं जान सकूँ कि (किं+नु) क्या (भाति) चमकता है (विभाति) प्रकाश करता है (वा) अथवा ।

भावार्थ— सब लोग यह मानते हैं कि वह 'ऐसा है' ऐसा संकेत करके उस सुखमय परमात्मा का ज्ञान नहीं कराया जा सकता । दूसरे कई लोग 'यह भी ब्रह्म नहीं, यह भी ब्रह्म नहीं' ऐसा 'नेति नेति' कह कर उस ब्रह्म का उपदेश करते हैं । चूँकि वह सबसे सूक्ष्म है, अतः उसको जतलाने के लिये ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे उसके सम्बन्ध में 'यह है' ऐसा बतलाया जा सके । अतः नचिकेता कहता है कि ऐसी दशा में, मैं उसे क्योंकर जान सकता हूँ कि वह प्रकाश का कारण है, जिससे सभी पदार्थ प्रकाशित होते हैं या वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है । वह क्या पदार्थ है ? इसका मुझे कैसे ज्ञान हो ॥१४॥

आचार्य नचिकेता की उक्त जिज्ञासा का समाधान करते हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥

पदार्थ— (न) नहीं (तत्र) उस ब्रह्म में (सूर्यः) सूर्य (भाति) प्रकाश करता है (न) नहीं (चन्द्रतारकम्) चांद तारे (न) न ही (इमाः) ये (विद्युतः) बिजलियां (भान्ति) चमकती हैं (कुतः) कहां (अयम्) यह (अग्निः) आग । (तम्+एव) उसी के ही (भांतम्) प्रकाश से (अनु) प्रकाश

पाकर (भाति) प्रकाशित होता है (सर्वम्) सब सूर्यचन्द्र तारे आदि। (तस्य) उसके (भासा) प्रकाश से (सर्वम्) सब (इदम्) यह जगत् (विभाति) स्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है।

भावार्थ—परमात्मा का दर्शन करने कराने के लिये सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सूर्य का प्रकाश भौतिक होने के कारण आत्मा के भीतर जा ही नहीं सकता। परमात्मा का दर्शन तो आत्मा के भीतर होता है। जब सूर्य का प्रकाश आत्मा के भीतर जा नहीं सकता, तो वह परमात्मा के दर्शन कैसे करा सकता है ? चाँद का प्रकाश भी यहाँ कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि भौतिक होने से वह भी आत्मा के भीतर प्रवेश नहीं पा सकता। यही अवस्था तारागणों की है। बिजली का प्रकाश भी परमात्मा के दर्शन नहीं करा सकता। पुन: अग्नि के प्रकाश से उसके दर्शन कैसे कर सकते हैं ? इसी परमात्मा के प्रकाश को लेकर ये सब सूर्य,चन्द्र,तारे और बिजली प्रकाशित होती हैं। यदि परमात्मा इन को प्रकाश न दे तो ये कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकते। इनके भीतर जो कुछ प्रकाश है, वह इनका निजी नहीं वरन् परमात्मा का दिया हुआ है, जैसे प्रत्येक मनुष्य जानता है कि लोहे में गति अपनी नहीं है, वरन् किसी अन्य की दी हुई है। घड़ी बनाने वाले ने लोहे का अवयव बनाकर घड़ी बना दी और उसको चाबी देकर चला दिया। मूर्खों के विचारानुसार तो घड़ी अपने स्वभाव से चल रही है, किन्तु बुद्धिमान् तथा विद्वान् जानते हैं कि घड़ी में जो गति है, वह घड़ी बनाने वाले की दी हुई व्यवस्थापिका गति है। जितने समय तक इस चाबी का बल-वेगाख्य संस्कार—रहेगा, घड़ी चलती रहेगी। किन्तु इस क्षणिक या अस्थिर प्रभाव को जो घड़ी बनाने वाले ने चाबी के द्वारा घड़ी में प्रविष्ट किया है, जिस

समय पृथक् किया जायेगा उस समय घड़ी वैसी की वैसी,निश्चेष्ट लोहे की दशा में होगी। ऐसे ही जितने लोक लोकान्तर हैं, वे सब परमात्मा की बनाई घड़ियाँ हैं,जो उसके विधान के अनुसार चल रही हैं, व्यक्तिगत रूप में किसी भी लोक में गति करने का सामर्थ्य नहीं है। जितना प्रभाव जिस लोक में उस पूर्णशिल्पी-विश्वकर्मा ने रखा है, उतना ही वह लोक कार्य कर रहा है। यमाचार्य नचिकेता को बतलाते हैं कि संसार में जो प्रकाश है वह सब परमात्मा का है। जब वह ही प्रकाश का दाता है तब उस प्रकाश से हम उसे कैसे देख सकते हैं? उस प्रकाश की वास्तविकता और मूल पर विचार करने से यह तो ज्ञात हो सकता है, कि जिससे यह प्रकाश आया, वह परमात्मा है। जैसे घड़ी और उसके भीतर गति रहित लोहा आदि को देखकर बुद्धिमान् मनुष्य समझ सकता है कि इसको किसी बुद्धिमान् शक्तिमान् ने बनाया है, क्योंकि लोहे में तो स्वभाव से चलने का सामर्थ्य नहीं है। यद्यपि घड़ी में घड़ी का बनाने वाला दिखाई न दे, तथापि घड़ी का कार्य उसकी सत्ता का प्रकाश कर रहा है।

प्रश्न—क्या परमात्मा जीवात्मा के भीतर ही दिखाई देता है, बाहर प्रकृति में दिखाई नहीं देता? यदि नहीं दिखाई देता तो उसके होने में प्रमाण?

उत्तर—परमात्मा प्रकृति के भीतर भी है,प्रकृति में नियमबद्ध संयोग-विभाग का होना परमात्मा की सत्ता का प्रमाण है। संयोग विभाग परस्पर विरोधी गुण हैं, जो किसी एक वस्तु के स्वाभाविक गुण नहीं हो सकते, अतः ये नैमित्तिक ही मानने पड़ेंगे। अन्य कोई ऐसा पदार्थ है नहीं जो परमाणुओं को पकड़ मिला या पृथक् कर सके; न कोई उनका पकड़ने का साधन ही दिखाई देता है। अतः उनको गति देने वाला उनके भीतर होना

ही चाहिये। गति दो प्रकार से आ सकती है, या तो प्राण आदि भीतर से दें या बाहर से आकर्षण-विकर्षण करें इन दोनों प्रकारों पर विचार करें तो सिद्ध होता है कि गति भीतर से आती है। परमाणुओं के भीतर आकाश के न होने से प्राण आदि नहीं रह सकते अतः भीतर की गति परमात्मा से आई स्वीकार करनी पड़ती है। प्रकृति के मलिन होने से उसके भीतर परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। जैसे सूय का प्रतिबिम्ब भूमि पर पड़ता है, किन्तु देखा उसी स्थान में जाता है जहाँ स्वच्छ जल या दर्पण आदि हों, अतः परमात्मा के दर्शन आत्मा के भीतर ही हो सकते हैं ॥१५॥

—❀❀—

अथ कठोपनिषत्षष्ठवल्ली प्रारम्भः

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रम् तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत् ॥१॥

पदार्थ—(ऊर्ध्वमूलः) जिसका मूल ऊपर को है वह (आवाक्-शाखः) जिसकी शाखायें नीचे की ओर हैं वह (एषः) यह प्रत्यक्ष दीखने वाला मनुष्य देह (अश्वत्थः) पीपल के वृक्ष के समान (सनातनः) नित्य रहने वाला। (तत्+एव) वही शुक्रम् शुद्ध, जगत् का कारण (तत्) वह (ब्रह्म) सबसे महान् (तत् एव) वही (अमृतम्) नाश रहित (उच्यते) कहलाता है। (तस्मिन्) उसी ब्रह्म में (लोकाः) लोक योनियाँ (श्रिताः) आश्रित हैं। (सर्वे) सब [अर्थात् ब्रह्म ही समस्त लोक लोकन्तरों को धारण करता है] (तत्+उ)

उसको तो (न) नहीं (अत्येति) उल्लंघन करता या विरुद्ध चलता (कश्चन) कोई ।

भावार्थ— मनुष्य का शरीर ऐसा वृक्ष है जिसका मूल ऊपर की ओर है, और शाखायें नीचे की ओर। यह वृक्ष अन्य सब वृक्षों के विपरीत ऐसा ही बनता है। इस शरीर वृक्ष का कारण ब्रह्म ही है, जो सबसे महान् और अविनाशी है, जिसके आश्रय यह समस्त जगत् चल रहा है। उसके नियम को कोई नहीं तोड़ सकता।

प्रश्न—इस शरीर का मूल, जो ऊपर की ओर है, कौनसा है ? और शाखा आदि कौन से हैं ?

उत्तर— सिर इस वृक्ष का मूल है, और पेट आदि इसका मोटा तना है, जो टाँगों से दो भागों में विभक्त हो जाता है, हाथ-पाँव और उनकी अँगुलियाँ आदि इसकी शाखायें हैं।

प्रश्न—शरीर को वृक्ष, सिर को मूल और अन्य अङ्गों को शाखायें क्यों कहा ?

उत्तर—चूँकि शरीर भी वृक्ष की भाँति सूखने वाला और शीर्ण=कटने फटने वाला है,जैसे वृक्ष का नाश होता है, ऐसे ही शरीर का भी नाश होता है, अतः शरीर को वृक्ष कहा। यदि सिर को नीचे करके शरीर को खड़ा किया जाय❀ तो शरीर सर्वथा एक वृक्ष प्रतीत होने लगता है। इसके अतिरिक्त वृक्ष में रस मूल द्वारा पहुँचता है, इस शरीर को भी भोजन सिर के द्वारा× ही पहुँचता है, अतः सिर ही इस शरीर का मूल है। दूसरे प्रत्येक कर्म जो किया जाता है, उसका मूल ज्ञान है, और कर्म शाखायें हैं। ज्ञान के बिना कोई कर्म योग्य रीति से नहीं

❀ जैसे शीर्षासन में किया जाता है × मुख सिर में ही है।

हो सकता, और सारी ज्ञानेन्द्रियाँ सिर में हैं, जिस कर्म के लिये यह शरीर बना है, उसका मूल [=ज्ञानेन्द्रियाँ] सिर में हैं, अतः सिर मूल है। शेष कर्मेन्द्रियाँ जो इसकी शाखायें हैं, वे सिर की अपेक्षा शरीर के निचले हिस्सों में हैं। इसी प्रकार अनेक हेतु हैं जिनके कारण सिर शरीर-वृक्ष का मूल और शरीर के शेष अङ्ग शाखायें कहलाती हैं ॥१॥

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद् भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुर मृतास्ते भवन्ति ॥२॥

पदार्थ— (यत्) जो (इदम्) यह प्रत्यक्ष दीखने वाला (किं च) कुछ-थोड़ा बहुत (जगत्) उत्पत्तिविनाशयुक्त जगत है (सर्वम्) सब-समष्टि रूप से (प्राणे) प्राण के आश्रय से (एजति) अपने कर्म के लिये गति करता है (निःसृतम्) निकला हुआ=उत्पन्न हुआ। (महद्+भयम्) बहुत भयङ्कर (वज्रम्) अष्टधातु से निर्मित वज्र के समान कठोर (उद्यतम्) उठा हुआ है अर्थात् उत्पत्ति और विनाश का कारण है (ये) जो मनुष्य (एतत्) इस तत्व को (विदुः) जानते हैं (अमृताः) मुक्त (ते) वे (भवन्ति) हो जाते हैं।

भावार्थ—यह जगत् जो परमात्मा ने उत्पन्न किया है, और जो परमात्मा की अपेक्षा बहुत ही अल्प=छोटा है, परमात्मा की सत्ता के कारण ही प्राणियों के जीवन का कारण है। परमात्मा के कारण ही समस्त जगत् में गति पाई जाती है। जैसे घड़ी में जो गति प्रतीत होती है, आपाततः तो वह घड़ी के अवयवों के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण दीखती है, किन्तु वास्तव में उस गति का कारण घड़ी बनाने वाले की वह गति है जो वह चाबी देकर और घड़ी के अवयवों में व्यवस्था स्था-

पित करके देता है, ऐसे ही जो गति जगत् में दीखती है, उसका कारण अचेत और गति शून्य प्रकृति नहीं है, वरन् परमात्मा है। यह जगत् बड़ा भयङ्कर है। जैसे वज्र के लगने से बहुत चोट लगती है, ऐसे ही संसार के कार्यों में भय बना रहता है। दुर्बलों को बलवानों से भय रहता है, धनियों को चोरों से, डाकुओं से और राजा से भय होता है, छोटे राजाओं को बड़े राजाओं से भय लगता है, बड़े राजाओं को मृत्यु से डर लगता है। सारांश यह कि संसार में कोई ऐसा प्राणी नहीं जिसको भय न होता हो। यह उत्पत्ति वाला शरीर अवश्य नष्ट होगा, किसी बड़े से बड़े बलशाली प्राणी या राजा का सामर्थ्य नहीं कि इस देह को मृत्यु से बचा सके। जो लोग इस तत्त्व को जान जाते हैं कि इस संसार का प्रत्येक पदार्थ नाशवान् है और कि संसार के पदार्थों में चित्त लगाना अर्थात् राग करना दुःख का हेतु है, केवल एक ईश्वर ही ऐसा है जिसकी उपासना के द्वारा दुःख से छूट सकते हैं, वे संसार का राग छोड़ कर परमात्मा के जानने का यत्न करते हैं। और जो परमात्मा के जानने का यत्न करते हैं, और जो परमात्मा को जानते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं।

प्रश्न—जगत् में जो गति दीखती है, क्या वह उसकी अपनी स्वाभाविक नहीं है? साइंस=भौतिक-पदार्थविद्या से तो यह ज्ञात होता है कि गति प्रकृति के भीतर से प्रकट होती है, बाहर से गति देने वाला कोई नहीं दीखता।

उत्तर—ईश्वर सबसे अधिक सूक्ष्म होने के कारण सबके भीतर विद्यमान् है, अतः सबके भीतर जो गति दीखती है उसका हेतु ईश्वर है। ईश्वर परिच्छिन्न और स्थूल नहीं है, जो बाहर से गति देता हुआ दिखाई दे। जैसे शरीर को गति देने वाला जीवात्मा अन्दर से गति देता है किन्तु दिखाई नहीं देता ऐसे ही

परमात्मा भी जीवात्मा ,की भाँति भीतर से गति देता हुआ दिखाई नहीं देता।

प्रश्न—शरीर के भीतर जो गति है, वह रुधिर की गति के कारण से है, और बाह्य जगत् में जो गति दिखाई देती है उसका कारण आकर्षण है। न कोई जीवात्मा है न परमात्मा।

उत्तर—यदि शरीर के भीतर केवल गति ही पाई जाती तो कहा जा सकता था कि इस गति का कारण रुधिर-सञ्चार= रुधिर की गति है, किन्तु शरीर के भीतर गति के साथ ज्ञान भी विद्यमान् है, जो सिद्ध करता है कि कोई ऐसा है जो ज्ञान के साथ गति दे रहा है। 'करना, न करना और उलटा करना' रूपी तीन प्रकार की गति जो संकल्प के साथ पाई जाती है, वह रुधिर सञ्चार के कारण नहीं हो सकती। जैसे इञ्जिन में गति स्टीम Steam वाष्प के कारण होती है किन्तु वह एक ही प्रकार की हो सकती है। हाँ ड्राईवर=इञ्जिन चलाने वाले की विद्यमानता से वह तीन प्रकार की हो जाती है। यदि इञ्जिन में ड्राईवर न हो, तो तीन प्रकार की गति नहीं हो सकती। ऐसे ही शरीर में तीन प्रकार की गति जीवात्मा की सत्ता=विद्यमानता से होती है। यदि जगत् में गति का कारण आकर्षण होता, तो वह एक ही प्रकार की गति होती। जगत् में 'उत्पत्ति, स्थिति, संहृति' (विनाश), रूप तीन प्रकार की जो गति है, यह परमात्मा की सत्ता का प्रमाण है। आकर्षण तो परमात्मा के नियम से उत्पन्न होता है। जैसे घड़ी के अवयवों में जो आकर्षण है, वह अवयवों के कारण से नहीं वरन् घड़ी बनाने वाले के अवयवों की रचना उस प्रकार की करने के कारण से है। परमाणुओं में आकर्षण मानकर कोई भी संयोगज पदार्थों की रचना नहीं कर सकता, क्योंकि जब समान वस्तुएँ एक दूसरे का

आकर्षण करें, तब मिलाप नहीं हो सकता। जब बड़ी वस्तु छोटी को अपनी ओर खींचे तब मिलाप हो सकता है।

परमाणुओं को इस विधि से मिलाना कि उसमें आकर्षण उत्पन्न हो जाये, परमात्मा के अतिरिक्त और किसी की शक्ति में नहीं है। जो लोग ईश्वर के बिना संसार के नियम को चलाना चाहते हैं, वे बहुत छोटे विचार के मनुष्य हैं। बुद्धिमान् जानते हैं कि ये सब कार्य परमात्मा के नियम से हो रहे हैं। जैसे घड़ी में जो व्यवस्थापिका-गति है जिसके कारण यह बताया जा सकता है कि घड़ी की यह सुई अमुक समय अमुक स्थान पर होगी और यह सुई अमुक काल में अमुक चिह्न पर होगी, वह गति घड़ी बनाने वाले के नियमपूर्वक चाबी देने से है। ऐसे ही संसार के समस्त ग्रहनक्षत्र तारे, जो नियमानुसार भ्रमण करते हैं, जिससे विद्वान् ज्योतिषी बता सकता है कि अमुक समय में अमुक ग्रह आदि अमुक स्थान में पहुँचेगा, सैकड़ों नहीं वरन् सहस्रों वर्ष पहले बताया जा सकता है कि अमुक तिथि को अमुक स्थान में सूर्यग्रहण होगा, अमुक समय में चन्द्रग्रहण होगा, परमात्मा की सत्ता का प्रमाण हैं। सारांश यह कि जिस तरह इञ्जिन की (Steam) वाष्प के अनुसार तीन प्रकार की गति ईश्वर की सत्ता का प्रमाण हैं, केवल स्टीम से वह सम्भव नहीं, ऐसे ही शरीर में तीन प्रकार की गति जीवात्मा की सत्ता का प्रमाण है, केवल प्राणों या रुधिर-संचार से वह नहीं हो सकती। ऐसे ही संसार में नियमानुसार जो कार्य हो रहा है, जिससे नियन्त्रित होकर प्रत्येक लोक अपना काय कर रहा है, वह परमात्मा की सत्ता का साधक है। इस भाव को अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं ॥२॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ॥३॥

पदार्थ—(भयात्) भय से (अस्य) इसके (अग्निः) अग्नि (तपति) जलाने के नियम का, ऊपर जाने के नियम का पालन करता है, (भयात्) भय से, नियम से, (तपति) जलाता है, प्रकाश देता है या गति देता है (सूर्य्यः) सूर्य्य (भयात्) भय से, नियम से (इन्द्रः) बिजली काम करती है (च) और (वायुः) वायु चलता है (च) और (मृत्युः) मौत (धावति) दौड़ता है (पंचमः) पांचवां ।

भावार्थ—परमात्मा के नियम से पांच वस्तुएं गति करती हैं कोई उनको इस नियम से पृथक् नहीं कर सकता, क्योंकि परमात्मा का भय अति महान् है । परमात्मा के नियम से अग्नि की शिखा ऊपर को चलती है । यदि लाखों मनुष्य मिलकर भी प्रयत्न करें, तो शिखा नीचे की ओर नहीं चल सकती । सूर्य्य परमात्मा के नियम में कार्य्य करता है, सूर्य्योदय का जो समय निश्चित है,करोड़ों मनुष्य अथवा संसार के बड़े-बड़े राजा भी उस में हेरफेर नहीं कर सकते। विद्यु त परमात्मा के नियन्त्रण में चलती है, जो बड़ी से बड़ी वस्तुओं को फोड़कर निकल जाती है, कोई उसे रोक कर उसकी गति में परिवर्तन नहीं कर सकता । वायु परमात्मा के नियम में चलती है,जिस समय वायु पूर्व की ओर चल रही हो, कोई मनुष्य उसे पश्चिम की ओर नहीं चला सकता । मृत्यु परमात्मा के नियन्त्रण में कार्य करता है । संसार के बड़े-बड़े सम्राट् लाखों सेनाओं, दुर्गों, तोपों, डायनामेट के गोलों के रहते भी एक क्षण के लिये भी मौत को नहीं रोक सकते।मौत परमात्मा का ऐसा वारंट है कि बड़े बड़े सम्राटों को भी पकड़ कर ले जाता है । सारांश यह कि परमात्मा के नियम को रोकने का सामर्थ्य

किसी में नहीं है। वैसे तो परमात्मा के द्रोही अनेक हो चुके हैं, अब भी हैं और आगे भी होंगे, किन्तु यह बल किसी में नहीं है कि कोई परमात्मा के मृत्यु-वारंट से बच सके। समस्त शक्ति एवं सामर्थ्य परमात्मा के नियम के भीतर ही कार्य दे सकता है, उसके विरुद्ध चलने में सब नष्ट हो जाता है।

प्रश्न—उपनिषत् ने बताया है कि विद्युत् परमात्मा के नियन्त्रण में चलती है किन्तु बहुत से ऐसे मनुष्य हैं जो भौतिक पदार्थविद्या के बल से विद्युत् से काय लेते हैं, और उसको तार आदि में बन्द करके अपने नियम में चलाते हैं।

उत्तर—जिन वस्तुओं में बिजली को बाँध रखने का सामर्थ्य ब्रह्म ने दिया है उन्हीं से वे कार्य्य लेते हैं, अतः वे परमात्मा के नियम में रहते हुए कार्य्य करते हैं. उसके नियम के विरुद्ध नहीं।

प्रश्न—अनेक मनुष्य दूसरों को शस्त्रादि से मार देते हैं, यद्यपि उस समय उनकी मौत नहीं आई होती।

उत्तर—जिस समय मौत न आई हो उस समय कोई शस्त्र अस्त्र कार्य्य नहीं देता। इसका प्रमाण फ्रांस की सम्राज्ञीके जीवनसे मिलता है,अनेक लोगों ने गोलियां चलाईं किन्तु एक भी सफल न हुई,और फ्रांस के सभापति आदि एक ही गोली से चल बसे ॥३॥

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥४॥

पदार्थ—(इह) इस शरीर में (चेत्) यदि (अशकत्) सका (बोद्धुम्) जान [अर्थात् यदि यह जान सका कि समस्त जगत् में जो क्रिया हो रही है, वह सब ब्रह्म की शक्ति से है] (प्राक्) पूर्व (शरीरस्य) शरीर के (विस्रसः) नाश होने से (ततः) तो, उस ज्ञान से (सर्गेषु) सृष्टि के आरम्भ में (लोकेषु) पृथिवी आदि लोकों में (शरीरत्वाय) शरीर के कार्यों के लिये (कल्पते) समर्थ होता है।

भावार्थ—यदि इस जन्म में मनुष्य को यह समझाने की योग्यता हो जाये कि समस्त जगत् में जो गति हो रही है वह ब्रह्म की शक्ति से हो रही है, तो वह मुक्त हो जाता है। प्रकृति यदि स्वभाव से गतिमति हो, तो परमाणु आपस में मिल न सकेंगे। यदि वह स्वभाव से गतिरहित हो तो भी परमाणु आपस में नहीं मिल सकते। अतः गति का मूलकारण ब्रह्म है। शरीरनाश से पूर्व इसका जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। यदि मनुष्य इस तत्त्व को न जान पाये तो उसका फल यह होता है कि सर्गारम्भ में जब संसार बन रहा होता है, और पृथिवी आदि लोक बनते हैं, तब वह शरीर को धारण करता है। अर्थात् जो जान जाते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। और जो नहीं जान पाते, वे पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्कर में भ्रमण करते हैं। वास्तव में मनुष्य-शरीर सृष्टिरचना की अन्तिम सोपान है, जो सबसे अन्त में बनता और सबसे पूर्व नष्ट होता है। यदि इस सोपान=सीढ़ी, से लक्ष्य पर पहुँच गया, तो सफलता होगई। यदि गिर गया तो अधम अवस्था में पहुँच गया। प्रत्येक मनुष्य को अवश्य इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हम अन्तिम सोपान पर आ पहुँचे हैं, जहां थोड़ा भी प्रमाद सारे परिश्रम को नष्ट कर देगा। जितना शीघ्र हो सके परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जितनी प्राकृतिक वस्तुएँ हैं, वे न तो जीवात्मा के लिये कभी उपयोगी थीं, न अब हैं, न आगे होंगी' क्योंकि आत्मा पर प्राकृतिक प्रभाव हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्रकृति स्थूल है और आत्मा सूक्ष्म।

प्रश्न—सारे कर्म्म तो प्राकृतिक करणों [हाथ, पैर आदि] से होते हैं, पुनः प्रकृति जीवात्मा के लिये उपयोगी क्यों नहीं ?

उत्तर—कर्म्म का फल अन्तःकरण की शुद्धि अथवा मैलापन होता है। यदि बुरा कर्म्म किया, तो अन्तःकरण पर बुरे

संस्कार पड़ेंगे, जिससे मन मलिन हो जायेगा। यदि कर्म्म शुभ और निष्काम होंगे तो अन्तःकरण पर भले संस्कार पड़ेंगे और मन शुद्ध होगा। शुभ कर्मों के शुभ संस्कारों का फल सांसारिक सुख है। कर्म्म से मुक्ति या आत्मा की उन्नति नहीं हो सकती। आत्मा की उन्नति केवल परमात्मा के ज्ञान और उपासना से होती है ॥४॥

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥५॥

पदार्थ—(यथा) जैसे (आदर्शे) दर्पण में [मनुष्य अपना मुख देख लेता है] (तथा) वैसे (आत्मनि) शुद्ध, निर्मल, बुद्धि रूपी अन्तःकरण में [ध्यान से आत्मा को देखता है] (यथा) जैसे (स्वप्ने) स्वप्न में [स्वप्न दशा में इन्द्रियों और वस्तुओं का सम्बन्ध न होने पर भी पदार्थ प्रत्यक्ष-से दीख वा सुन पड़ते हैं] (तथा) वैसे (पितृलोके) ज्ञानी जनों के उपदेश में [बन्धे हुए ध्यान से आत्मा को देखता है] (यथा) जैसे (अप्सु) जल में (परि+इव) सब ओर से [गोलाकार स्पष्ट अवयवों की प्रतीति के बिना] (ददृशे) शरीर दीखता है (तथा) वैसे (गन्धर्वलोके) गाने वालों के विज्ञानसम्बन्धी गान में किये ध्यान से [आत्मा को देखता है] (छायातपयोः+इव) जैसे छाया और घाम-धूप में भेद स्पष्ट प्रतीत होता है, वैसे (ब्रह्मलोके) ब्रह्मरन्ध्र=मूर्द्धा=मस्तक में किये निर्बीज निर्विकल्प समाधि से* बुद्धि और पुरुष का भेद स्पष्ट दीख पड़ता है।

---

* चित्त की वृत्तियों के निरोध (रोकने) को समाधि कहते हैं। योग और समाधि एक वस्तु हैं। सब ओर से हट कर किसी एक वस्तु

भावार्थ—सब ध्यानों में मूर्द्धा में किया ध्यान सबसे उत्तम है, वहां समाधि लगा, आत्मा परमात्मा को स्पष्ट रूप से जानकर मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है ।।५।।

में चित्त के लगने को 'चित्त की एकाग्रता' कहते हैं, किसी भी विषय में लगे बिना, चित्तवृत्तियों का निर्व्यापार हो जाना 'निरोध' कहलाता है । 'चित्त की एकाग्रता' की अवस्था को योगी 'संप्रज्ञात' समाधि नाम देते हैं, और चित्त की निरुद्ध अवस्था को 'असंप्रज्ञात' समाधि कहते हैं । चित्त का जब किसी विषय से सम्बन्ध होता है, उसका ज्ञान अवश्य होता है, एकाग्र दशा में एक पदार्थ में चित्त लगा है, अतः उसका ज्ञान अवश्य होता है, इसलिये उस अवस्था का नाम 'संप्रज्ञात' [जिसमें ज्ञान हो रहा है] है । 'निरोध' की अवस्था में किसी बाह्य विषय से चित्त का सम्बन्ध नहीं रहता, अतः उसको असंप्रज्ञात [जब बाह्य विषयों का भान ही नहीं होता] कहते हैं । संप्रज्ञात समाधि को 'सबीज समाधि' भी कहते हैं, क्योंकि सङ्कल्प विकल्प उठने का बीज 'विषय' वहां है । सबीज समाधि के सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार चार भेद हैं । इनके लक्षणों के लिये योगदर्शन प्रथम पाद देखिये । इनमें चौथे निर्विचार के दृढ़ मूल होने पर मन और आत्मा सर्वथा विमल हो जाते हैं, जैसा कि योगदर्शन में कहा है—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ।।१।४७।।

निर्विचार समाधि की दृढ़ता पर अध्यात्म स्वच्छ हो जाता है। उसका फल है 'ऋतंभरा प्रज्ञा'=सर्वथा यथार्थ ज्ञान कराने वाली बुद्धि, जिसमें असत्य का लवलेश भी नहीं होता । 'ऋतंभरा प्रज्ञा' के संस्कार अन्य संस्कारों को रोकने वाले होते हैं । उससे चूंकि आत्मा और प्रकृति का भेद भान होता है, अतःप्रकृति में दोषदर्शन के कारण आत्मा उपरत होजाता है, उससे 'पर वैराग्य' उत्पन्न होता है, वह 'पर वैराग्य ऋतंभरा के संस्कारों का भी निरोध कर देता है । अब सब प्रकार के

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥६॥

पदार्थ=(इन्द्रियाणाम्) आंख, नाक, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों तथा जिह्वा आदि कर्मेन्द्रियों की (पृथग्भावम्) पृथक् सत्ता को [अर्थात् ये आत्मा से भिन्न हैं, आत्मा नहीं हैं] (उदयास्तमयौ) उन्नति-अवनति को, उत्पत्ति--विनाश को (च) और (यत्) जो [अर्थात् इन्द्रियां उत्पन्न होती और नष्ट होती हैं] (पृथक्) अपने स्वरूप से पृथक् (उत्पद्यमानानाम्) उत्पन्न पदार्थों का (मत्वा) मनन करके या जान कर (धीरः) बुद्धिमान् या विशुद्ध बुद्धि वाला (न) नहीं (शोचति) शोकग्रस्त होता ।

भावार्थ—जब तक मनुष्य इन्द्रियों को अपना स्वरूप= आत्मा समझता है, तभी तक चिन्ता और दुःख रहते हैं। इन्द्रियां उत्पत्ति और विकार वाली हैं, इनको आत्मा मानने वाला इनके नष्ट होने के भय से सदा व्याकुल और चिन्तानिमग्न रहेगा। जिस समय मनुष्य को यह बोध हो जाता है, कि मैं जीवात्मा हूँ और कि जीवात्मा नित्य है और कि ये इन्द्रियां उत्पत्ति-विनाश वाली हैं, ये आत्मा कैसे हो सकती हैं ? जब इन्द्रियां मुझसे भिन्न हैं तब उनके विकृत होने से मेरी क्या हानि या लाभ ? मैं नित्य हूँ, मुझ में तो कोई विकार नहीं। किन्तु इन्द्रियां तो अशुद्ध और विकार वाली हैं अतः मुझे अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये, न कि इनके विकारों में फंसना, उस

संस्कारों के बीज जल चुके हैं, अतः अब 'निर्बीज' समाधि होजाती है। इस अवस्था में आत्मा सर्वथा अन्तर्मुख होता है, अतः उसे अपने अन्दर सदा रहने वाले परमात्मा के दर्शन होते हैं।

आत्मा और प्रकृति का भेद ज्ञात होने पर प्राकृतिक विषयों से जो सर्वथा ग्लानि होती है उसे 'पर वैराग्य' कहते हैं।

समय वह शरीर और इन्द्रियों की चिन्ता से मुक्त हो जाता है। नित्य आत्मा की तो कोई हानि हो नहीं सकती सारा दुःख उत्पति-विनाश-युक्त इन्द्रियों के कारण से है।

प्रश्न—इन्द्रियों को अपने स्वरूप से भिन्न कैसे जाना जा सकता है ?

उत्तर—प्रतिदिन हम अपने जीवन में दो अवस्थाओं को देखते हैं एक जागरित अवस्था, और दूसरी सुषुप्ति दशा। जागरित अवस्था में हम इन्द्रियों को अपना स्वरूप=आत्मा, मानते हैं और उसके विषयों को भोगते हैं, आंख से अच्छा रूप देखते हैं, कान से मनोहर शब्द सुनते हैं, नाक से अच्छी सुगन्ध सूंघते हैं, रसनेन्द्रिय से रस लेते हैं, उस दशा में सब दु:ख भी आ जाते हैं अर्थात् ईर्ष्या, लोभ, कामवासना आदि आ घेरते हैं। सुषुप्ति दशा में जिनमें कोई इन्द्रिय नहीं होती, किसी प्रकार का दुःख, चिन्ता और शोक नहीं होता, क्योंकि उस समय इन्द्रियाँ जो आत्मा से भिन्न हैं, प्रथक् होती हैं, उनसे आत्मा का सम्बन्ध नहीं होता। विधाता ने इस दृष्टान्त से स्पष्ट रीति से सुझा दिया है कि जब इन्द्रियां में 'अहंकार' होगा अर्थात् जीव इनको 'मैं' 'मेरा' मानेगा, तब सब प्रकार के दुःख होंगे। ज्यों ही इनके 'अहंकार' से रहित हुआ, त्यों ही सब दुःख भागें।

प्रश्न—इन्द्रियों के उत्पत्ति वाली होने तथा आत्मा के नित्य होने में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—इन्द्रियों में विकार हैं जिससे उनकी शक्ति में न्यूनता और अधिकता होती रहती है। विकारवान् पदाथ उत्पत्ति वाला होता है। विकार छः हैं उनमें उत्पत्ति पहला विकार है। उत्पन्न वस्तु में उपचय=वृद्धि, या अपचय=ह्रास हो सकता है, दूसरी में नहीं। जीवात्मा विकारशून्य है, अतः नित्य है।

प्रश्न—जीव की शक्ति में भी उपचय-अपचय [वृद्धि, ह्रास] देखा जाता है। इससे निश्चय होता है कि यह भी उत्पत्ति वाला है।

उत्तर—करणों के कारण चेतन की शक्ति में उपचय अपचय प्रतीत होता है, वास्तव में होता नहीं। दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से आंख दूर के पदार्थ को देख सकती है। अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा सूक्ष्म वस्तु को देख सकती है। साधारणतया आंख न बहुत सूक्ष्म को देखती है और न बहुत दूर। इसमें आंख की अपनी शक्ति में कोई भेद नहीं आया। यह तो करण शक्ति का भेद है। आत्मा संयोगज नहीं है, अतः करणों की शक्ति के तारतम्य से होने वाली कार्य की न्यूनता अधिकता से आत्मा विकार वाला या परिणामी नहीं हो सकता ॥६॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनः मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥

पदार्थ—(इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों और उनके विषयों से (परम्) पर=सूक्ष्म है (मनः) मन, (मनसः) मन से (सत्त्वम्) बुद्धि (उत्तमम्) उत्तम है (सत्वात्) बुद्धि से (अधि) अधिक सूक्ष्म या उतम (महान् आत्मा) महत्तत्त्व=समष्टि बुद्धि=ब्रह्माण्ड का मन (महतः) समष्टि बुद्धि से (अव्यक्तम्) प्रकृति अर्थात् जगत् का उपादानकारण (उत्तमम्) उत्तम है, सूक्ष्म है।

भावार्थ—इन्द्रियों और उनके विषयों से मन सूक्ष्म है, बुद्धि मन से भी अधिक सूक्ष्म है, क्योंकि वह मन का कारण है और बुद्धि की अपेक्षा समष्टि-बुद्धि (ब्रह्माण्ड का मन) अधिक सूक्ष्म है, और प्रकृति समष्टि-मन की अपेक्षा सूक्ष्मतम है।

प्रश्न—तुमने यहाँ मन के दो भेद किये हैं, एक शरीरस्थ मन तथा दूसरा ब्रह्माण्ड का मन।

उत्तर—एक स्थान पर तो छान्दोग्योपनिषद् में * मन को भोजन से बना स्वीकार किया है। दूसरे, सांख्य दर्शन में मन को प्रकृति का कार्य बताया गया है, इसको महत्तत्त्व भी कहते हैं। भोजन से बना मन छोटा तथा शरीर के अन्दर ही सकता है, बाहर नहीं। प्रकृति से बना मन महत् परिणाम वाला होने के कारण महत्तत्त्व कहलाता है, यह ब्रह्माण्ड का मन है। परमात्मा को पुरुष कहते हैं, ब्रह्माण्ड मानो उसका शरीर-सा है। सांख्य सिद्धान्तानुसार, उत्पत्ति के निमित्त इस ब्रह्माण्ड शरीर में अहंकार की आवश्यकता है, और अहंकार मन का कार्य है, जब तक मन न हो अहंकार हो नहीं सकता।

प्रश्न—ब्रह्म के लिये अहंकार की आवश्यकता मानना उचित नहीं।

उत्तर—वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि—'इस सृष्टि से पूर्व ब्रह्म था, उसने अपने आपको जाना कि "मैं ब्रह्म हूँ"। इसी "अहं ब्रह्मास्मि" वाक्य को आजकल वेदान्ती महावाक्य कहकर इससे जीव तथा ब्रह्म की एकता सिद्ध करते हैं।

प्रश्न—ब्रह्म के सम्बन्ध में यह बात उपनिषत् में अपनी ओर से लिखी है या इसका मूल वेद में है।

उत्तर—यजुर्वेद के तीसरे अध्याय के १७वें मन्त्र में परमात्मा ने बतलाया है कि "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहमस्मि" अर्थात् जो पूर्णपुरुष सूर्य के भीतर भी प्रकाश करता है वह मैं हूँ। अतः उपनिषत् का यह वचन वेदमूलक और युक्तिसंगत है ॥७॥

---

* अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः (६. ५. १) अर्थात् खाये हुए अन्न की तीन दशाएं होती हैं, उसका स्थूलतम भाग पुरीष=मल बनता है, मध्यम भाग मांस बनता है, सूक्ष्मतम भाग मन बनता है।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च ।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥८॥

पदार्थ—(अव्यक्तात्) अव्यक्त=प्रकृति=जगत् के उपादानकारण से (तु) भी (परः) सूक्ष्म (पुरुषः) परमात्मा है (व्यापकः) सब की अपेक्षा सूक्ष्म होने से सब में व्यापक [अर्थात् सबके अन्दर बाहर है] (अलिंगः) लिंगरहित, इन्द्रियागोचर (एव) भी (च) और (यत्) जिसको (ज्ञात्वा) जानकर (मुच्यते) मुक्त हो जाता है (जन्तुः) प्राणी (अमृतत्वम्) अमृतत्व को, अर्थात् जब न मरे ऐसी अवस्था को (च) और (गच्छति) प्राप्त करता है ।

भावार्थ—परमात्मा जगत् के उपादानकारण (प्रकृति) से सूक्ष्म है । वह प्रकृति के प्रत्येक अखंड अंश=परमाणु,में व्यापक है । कोई ऐसा पदार्थ नहीं, जिसके भीतर बाहर परमात्मा न हो । अतः वह सबसे सूक्ष्म है, अतः उसका कोई ऐसा चिह्न नहीं जो इन्द्रियों से अनुभव किया जा सके । केवल उसी को जान लेने से जीवात्मा मुक्ति प्राप्त कर लेता है ।

प्रश्न—तुमने मुक्ति को अमृत क्यों न कहा ? तुम तो मुक्ति से पुनरावृत्ति=वापस लौटना, मानते हो ।

उत्तर—जीवात्मा की दो अवस्थाएँ हैं,एक वह जिसका अन्त मृत्यु है, अर्थात् पुनर्जन्म के कारण शरीरों में आना, दूसरी वह जिसका अन्त जन्म है, मृत्यु नहीं, जिसको अमृत कहा जाता है । अर्थात् जिस दशा में शरीर के बिना,अन्दर रहने वाले परमात्मा से आनन्द प्राप्त किया जाता है, इसको मुक्ति भी कहते हैं । यदि मुक्ति में शरीर होता तो इसका अन्त मृत्यु होता । चूंकि मुक्ति में भौतिक शरीर नहीं होता, जिसके पृथक् होने का नाम मृत्यु रखें अतः उसका नाम अमृत रखा गया ।

प्रश्न—अनेक जन मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं मानते । वे कहते हैं, वह मुक्ति ही क्या, जिससे लौटना हो ?

उत्तर—मुक्ति का अर्थ छूटना है । छूटता वह है जो पहले बंधा हो । बन्धन का अर्थ बन्धना है । बन्धता वह है जो मुक्त हो,ये शब्द ही बतला रहे हैं कि मुक्त बन्धता है । यदि मुक्त का बन्धन न माना जाये, तो बन्धन को स्वाभाविक मानना पड़ेगा, फिर मुक्ति का होना असम्भव हो जायेगा । अतः जो लोग मुक्ति से पुनरावृत्ति नही मानते उन्होंने इस सिद्धान्त पर विचार ही नहीं किया । शङ्कराचार्य जी आदि तो मुक्ति से पुनरावृत्ति मानते हैं ॥ ८ ॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् । हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

पदार्थ—(न) नहीं (संदृशे) सामने (तिष्ठति) ठहरता (रूपम्) रूप-आकार (अस्य) इस ब्रह्म का (न) नहीं (चक्षुषा) आंख से (पश्यति) देखता है (कश्चन्) कोई (एनम्) इस ब्रह्म को (हृदा) हृदय से (मनीषा) बुद्धि रूप (मनसा) सत्यासत्य का विचार करने वाली शक्ति से (अभिक्लृप्तः) सर्वत्र और सब ओर से प्रकाशकरने वाला परमात्मा जाना जा सकता है । (ये) जो (एतम्)

✻छान्दोग्योपनिषद के अन्तिम वचन 'न च पुनरावर्त्तते' के श्रीशङ्कराचार्यकृत भाष्य पर टीका करते हुए उनके शिष्य स्वामी आनन्दगिरि ने लिखा है इसका अर्थ है कि इस कल्प में नहीं लौटते । अभिप्राय यह है कि दूसरे कल्प में अवश्य लौटते हैं । यह बात है भी उचित, क्योंकि मुक्ति की अवधि एक कल्प है । जो लोग जीव ब्रह्म का अभेद मानते हैं उनका कथन है कि अविद्या के कारण ब्रह्म अपने आप को जीव मान बैठता है,

इस परमात्मा को (विदुः) जानते हैं (अमृताः) मृत्यु से रहित, मुक्त (ते) वे जन (भवन्ति) हो जाते हैं।

भावार्थ—किसी मनुष्य की आंखों के सामने उस परमात्मा का कोई रङ्ग--रूप, आकार--प्रकार दृष्टिगोचर नहीं होता अतःआँखों से कोई मनुष्य उसको नहीं देख सकता। आंख उस वस्तु को देख सकती है जिसमें रूप हो, रूपरहित किसी वस्तु को आंख नहीं देख सकती ॥ ६ ॥

यदि परमात्मा रूपरहित है, तो वह किस प्रकार जाना जाता है, इसके समाधान में कहते हैं—

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥

पदार्थ—(यदा) जब (पंच) पांच (अवतिष्ठन्ते) ठहर जाती हैं, निश्चल हो जाती हैं, चंचलतारहित हो जाती हैं (ज्ञानानि) योगाभ्यास द्वारा अपने विषयों से हटाई हुई ज्ञानेन्द्रियाँ (मनसा + सह) मन के साथ (बुद्धिः) सत्वगुणमयी बुद्धि (च) भी (न) नहीं (विचेष्टते)

यही उसका बन्धन है : अर्थात् अविद्या के कारण ब्रह्म बन्धन में आता है। ब्रह्म तो मुक्त है, सदा मुक्त है। 'ब्रह्म का बन्धन में आना' का अर्थ हुआ मुक्त ब्रह्म का बन्धन में आना। मुक्त का बन्धन में आना ही पुनरावृत्ति है। अतः शङ्कराचार्यादि का सिद्धान्त ठहर ही नहीं सकता यदि वे मुक्ति से पुनरावृत्ति न मानें। थोड़ासा और विचार कीजिये। मुक्ति यदि अभाव पदार्थ है, तब तो इससे वापसी का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि अभाव=प्रध्वंसाभाव का आदि तो होता है, अन्त नहीं होता। किन्तु ऐसा भाव पदार्थ कोई भी नहीं जिसका आदि हो और अन्त न हो। मुक्ति दुःख ध्वंस पूर्वक ब्रह्मानन्द की प्राप्ति को कहते है। अर्थात् मुक्ति भाव पदार्थ है,अभाव नहीं। अतः इसका आदि होने से अन्त भी अवश्य होगा। मुक्ति का अन्त होने पर मुक्त जीव फिर शरीर धारण करते हैं।

चेष्टा करतीं, विषयों में प्रवृत्त नहीं होतीं। विद्वान् जन (ताम्) उस अवस्था को (आहुः) कहते हैं (परमाम्+गतिम्) परम गति=सर्वश्रेष्ठ अवस्था=जीवन्मुक्त दशा।

भावार्थ—जब इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि स्थिर हो जाती हैं, विषय वासनाओं में प्रवृत्त नहीं होतीं, वह सर्वोत्तम दशा होती है, उसी के लिए ही सारे यत्न हैं ॥१०॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥

पदार्थ—(ताम्) उसको (योगम्+इति) योग (मन्यन्ते) मानते हैं (स्थिराम्) स्थिर (इन्द्रियधारणाम्) इन्द्रियधारणा=इन्द्रिय की अचंचल अवस्था को (अप्रमत्तः) प्रमादरहित, अत्यन्त सावधान (तदा) तब (भवति) होता है। (योगः) योग (हि) सचमुच (प्रभवाप्ययौः) उत्पत्ति विनाश है अर्थात् पवित्र, शुभ, कल्याणकारी संस्कारों की उत्पत्ति से दुष्ट, अहितकारी संस्कारों का विनाश है।

भावार्थ—जब योगाभ्यास द्वारा इन्द्रियाँ सर्वथा वश में कर ली जाती हैं, तब योगसिद्धि का निश्चय होने लगता है। योगाभ्यास में यमनियमादि के अभ्यास से दुष्ट विचार, दुष्ट आचार का त्याग और पवित्र विचार तथा शुद्धाचार का धारण अत्यन्त आवश्यक होताहै अतः व्यवहार शुद्धि से दुष्ट संस्कारों का अप्यय=अभाव=विनाश और शुभ संस्कारों का प्रभाव=उदय=उत्पत्ति होती हैं। योगसिद्धि होने पर साधक सर्वथा सावधान हो जाता है, वह कोई ऐसा कर्म नहीं करता जिससे पतन हो, क्योंकि वह विषयों की वास्तविकता को समझ चुका होता है ॥११॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥

पदार्थ—(न) न (एव) तो (वाचा) वाणी से (न) न (मनसा) मन से (प्राप्तुम्) प्राप्त किया (शक्यः) जा सकता है (न) न (चक्षुषा) आंख से। वरन् (अस्ति+इति) ब्रह्म है (इति+ब्रुवतः) ऐसा कहने वाले से (अन्यत्र) अन्यत्र (कथम्) कैसे (तत्) वह (उपलभ्यते) प्राप्त किया जाता है। [अर्थात् उसकी सत्ता का संवेदन आत्मा को होताहै, आत्मनिष्ठ ध्यानी ही उसकी सत्ता के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कह सकते हैं, कि 'यह है'। दूसरा कोई कैसे कहे। अर्थात् स्वयं अनुभव करना चाहिये।]

भावार्थ—इन्द्रियाँ रूप, रस, गन्ध आदि विषयों को ग्रहण करती हैं। परमात्मा शब्द आदि से सर्वथा भिन्न होने के कारण इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता। आस्तिक साधक अपने अभ्यासजनित अनुभव के आधार पर कहते हैं कि परमात्मा है और अवश्य है, किन्तु इन्द्रियों से परोक्ष है। पदार्थों में जो तारतम्य=न्यूनता अधिकता, छोटाई बड़ाई दिखलाई देती है, यह बताती है कि एक ऐसी दशा भी चाहिये, जिसमें तारतम्य न हो, जिससे और कोई महान् न हो वह अवस्था परमात्मा की है। संसार में ऐश्वर्य का तारतम्य दिखाई देता है, कोई लक्षाधिपति है, तो कोई करोड़ों का स्वामी है। इसी प्रकार जहाँ ऐश्वर्य की पराकाष्ठा हो, जिसे और ऐश्वर्य प्राप्त करने की कामना न हो वह परमात्मा है। इसी प्रकार ज्ञानियों में भी भेद है, कोई कुछ जानता है, कोई कुछ। कोई भी पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, किन्तु ज्ञान की यह भिन्न अवस्थाएँ संकेत कर रही हैं कि कोई ऐसा होना चाहिये जिसमें अज्ञान का लवलेश न हो, जो सर्वज्ञ हो, वह परमात्मा है। संसार में कार्यकारण शृंखला सर्वत्र कार्य कर रही है। जगत् में सर्वत्र विकार—उत्पत्ति, विनाश आदि कार्य करते दृष्टिगोचर होते हैं, इससे जगत् के जन्म=उत्पत्तिमान् होने का

निश्चय होता है। उत्पत्ति के लिए कर्त्ता चाहिए, संसार में दीखने वाले मनुष्य आदि किसी में इस विशाल संसार के रचने का सामर्थ्य नहीं दीखता, विकारवान् होने के कारण रचा हुआ यह अवश्य है, अतः इसके रचने वाला कोई न कोई अवश्य होना चाहिए वही परमात्मा है ।।१२।।

अस्तीत्ये वोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।

अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ।।१३।।

पदार्थ— (अस्ति) 'वह ब्रह्म है' (इति) इस धारणा से (उपलब्धव्यः) उसे प्राप्त करना चाहिये (तत्त्वभावेन) वास्तविक दशा के द्वारा (च) और (उभयोः) दोनों की (अस्ति) वह है। इति) इस प्रकार (उपलब्धस्य) प्राप्त करने वाले का (तत्त्वभावः) तात्विक स्वरूप (प्रसीदति) शुद्ध होता है।

भावार्थ—'है' और 'नहीं है' [अस्ति और नास्ति] की विवेचना करने से निश्चय होता है कि परमात्मा है। ऐसा मानना और जानना और तदनुसार आचरण करना कल्याणकारी है। जो मनुष्य भाव और अभाव पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जानकर सर्वत्र विद्यमान् परमात्मा को जान लेता है, उसका आत्मा और अन्तःकरण विमल हो जाते हैं, उसके सब दोष धुल जाते हैं और अपूर्व सुखदायिनी शान्ति प्राप्त होती है ।।१३।।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।।१४।।

पदार्थ— (यदा) जब (सर्वे) सब (प्रमुच्यन्ते) छूट जातीं हैं (कामाः) विषयों की अभिलाषायें (ये) जो (अस्य) इस मनुष्य के (हृदि) हृदय में, अन्तःकरण में

(श्रिता) रह रही थीं, बसी हुई थीं। (अथ) तब (मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य (अमृतः) अमृत=मुक्त (भवति) हो जाता है। और (अत्र) इसी जन्म में (ब्रह्म) को, मुक्ति (समश्नुते) भली प्रकार प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—चिरकाल से हृदय में नाना प्रकार के विषय भोगों की वासनाओं ने घर कर रखा है। उन्हीं वासनाओं से बँधा जीव बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में आता है। जब साधक योगाभ्यास द्वारा इन सारी वासनाओं का समूलोन्मूलन करता है, तब उसकी मुक्ति होती है। वासनाओं के कारण विषयों में राग होता है। राग बन्धन का हेतु है। विवेक द्वारा विषयों में दोष-दर्शन करने से राग नष्ट हो जाता है, फिर विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती। विषयों में प्रवृत्ति न होने से आत्मा की पराङ्मुखता=बहिर्मुखवृत्ति नष्ट हो जाती है और आत्मा अन्तर्मुख होता है। अन्तर्मुख होते ही उस आत्मा में रम रहे अन्तर्यामी ब्रह्म के दर्शन होते हैं ॥१४॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनु शासनम् ॥१५॥

पदार्थ—(यदा) जब (प्रभिद्यन्ते) टूट जाती हैं, (हृदयस्य) हृदय की, अन्तःकरण की (इह) इसी जन्म में (ग्रन्थयः) गाँठें (अथ) तब (मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) हो जाता है। (एतावत्) इतना ही (अनुशासनम्) परम्परा से चला आता शास्त्रोपदेश है।

भावार्थ—नचिकेता के तीसरे प्रश्न का उत्तर समाप्त करते हुए यमाचार्य कहते हैं—नचिकेता! चिरकालीन वासनाओं के कारण अन्तःकरण में राग-द्वेष, लोभ-मोह, मद, ईर्ष्या, मत्सर,

काम, क्रोध की अनेक गाँठें पड़ जाती हैं। उनके कारण किसी को मित्र, किसी को शत्रु, किसी को अपना, किसी को पराया समझने लगता है, इससे उन गाँठों में बल पड़ता है, ऐंठन आती है। विवेकशील इन गाँठों के कारण को पहचान कर उसे नष्ट करने का उपाय करता है। इससे अहङ्कार, ममकार की सब गाँठें खुल जाती हैं। गाँठें जब खुल गईं, बन्धन स्वतः ही छूट गये, फिर मुक्त होने में क्या त्रुटि रह गई। नचिकेता! ब्रह्म-विद्या का यही सार है ॥१५॥

संकेत से मरण समय में मुक्त मनुष्य की पहचान बताते हैं—

शतं चैका हृदस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

पदार्थ—(शतं) सौ (च) और (एका) एक (हृदयस्य) हृदय की (नाड्यः) नाड़ियाँ हैं (तासाम्) उनमें से (मूर्धानम्) सिर की (अभि) ओर (निःसृता) निकली है (एका) एक (तया) उस नाड़ी के साथ (ऊर्ध्वम्) ऊपर को (आयन्) आता हुआ (अमृतत्वम्) मुक्ति को (एति) प्राप्त करता है (विष्वङ्) सब ओर से (अन्याः) दूसरे (उत्क्रमणे) जन्म-मरण का निमित्त (भवन्ति) होती हैं।

भावार्थ—शरीर में अनेक छिद्र हैं, मरण समय इनमें से किसी न किसी के द्वारा आत्मा निकल जाता है। यमाचार्य कहते हैं कि हृदय की अनेकों नाड़ियों में एक नाड़ी ऊपर को अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र की ओर जाती है। जीवनमुक्त योगी मृत्यु का समय आया देख प्राणों को रोककर आत्मा को इस नाड़ी के

द्वारा बाहर निकाल देते हैं। इसके बाद उनकी मुक्ति हो जाती है। इसी नाड़ी को सुषुम्ना भी कहते हैं। जिन्होंने मानुष जीवन का भोग-विलास में विनाश किया है, उन्हें तो आत्मा का तथा आत्मा की उत्क्रान्ति आदि का ज्ञान ही नहीं होता। अतः उन्हें अपनी मृत्यु समीप आई हुई भी नहीं दीखती। उनके प्राण किसी अन्य मार्ग से निकलते हैं। फलतः वे जन्म-मरण के प्रवाह में पड़े रहते हैं ॥१६॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥

पदार्थ— (अंगुष्ठमात्रः) अंगुष्ठमात्र=हृदय स्थान में रहने वाला (पुरुषः) शरीरेन्द्रिय आदि का रक्षक (अन्तरात्मा) अन्तरात्मा (सदा) सदा (जनानां) मनुष्यों के (हृदये) हृदय में (संनिविष्टः) प्रविष्ट है, स्थित है। (तम्) उसको (स्वात्) अपने (शरीरात्) शरीर से (प्रवृहेत्) निकाले, पृथक करे (मुञ्जात्) मुञ्ज से (इव) जैसे (इषीकाम्) सींक को, तीली को (धैर्येण) धैर्यपूर्वक। (तम्) उसको (विद्यात्) जाने (शुक्रमम्) शुद्ध (अमृतम्) अविनाशी। [तं विद्याच्छुक्रममृतम्। का दूसरी बार पाठ उपदेश की समाप्ति को सूचित करता है।]

भावार्थ— जब शरीर में चेष्टा है, तब तक इसमें जीवात्मा का अवश्य वास है। इसका स्थान बहुत छोटा है— हृदयाकाश मात्र। चिरकाल की वासनाओं के कारण, इसे शरीर से मोह हो गया है, अज्ञान के कारण शरीर के नाश के साथ अपना नाश मानता है। सच पूछो तो यह शरीर बहुत बड़ा

बन्धन है। जैसे कोई कैदी बहुत दीर्घ काल कारावास में रहा हो, तो उसे उस जेल से ममता हो जाती है, वह उसे छोड़ने के विचार से कांप जाता है। यही अवस्था चिरकाल से शरीर—कारावास में रहने से जीवात्मा की हो गई है। बुद्धिमान् विवेकी को चाहिए कि धैर्यपूर्वक लगातार अभ्यास से आत्मा को शरीर की अनिष्टकारिता का बोध कराये, और इसे बाहिर निकाले। मुँज से सींक निकालने का संकेत बतलाता है कि पञ्चकोशों से आत्मा का भेद समझकर कार्य करे। आत्मा वास्तव में शुद्ध और अमृत है किन्तु शरीर इन्द्रियों आदि को अपना स्वरूप मानने से अपने आपको मलिन और विनाशी मान रहा है। मनुष्य को चाहिए कि आत्मा को उसके यथार्थ रूप में समझे ॥१७॥

मृत्यु प्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥

पदार्थ—(मृत्युप्रोक्तां) मृत्यु की उपदेश की हुई (नचिकेतः) नचिकेता (अथ) तब (लब्ध्वा) प्राप्त करके (विद्याम्) विद्या को (एताम्) इस (योगविधिम्) योगविधि को (च) भी (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (ब्रह्म प्राप्तः) ब्रह्म को प्राप्त करके (विरजः) दोषरहित=विरक्त (अभूत) हो गया। (विमृत्युः) मृत्यु रहित (अन्यः) दूसरा (अपि) भी हो (एवम्) ऐसे, इसी तरह (यः) जो (अवित्) जाने (अध्यात्मम्) अध्यात्म को (एव) ही।

भावार्थ—पाठकों का उत्साह बढ़ाने के लिये ग्रन्थकार यथार्थ घटना का उल्लेख करता है। ब्रह्मविद्या और सम्पूर्ण योगविधि का विधिवत् अनुष्ठान करने से नचिकेता के मल

विक्षेप आवरण आदि सब दोष दूर हो गये क्योंकि अभ्यास से उसने ब्रह्मप्राप्ति करली थी। इसी प्रकार जो साधक अध्यात्म को जानेगा, अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा और परमात्मा को यथार्थ रूप से जानेगा, वह भी मुक्त हो जावेगा। अर्थात् यह करनी की विद्या है, केवल कथनी से कुछ नहीं बन सकता ॥१८॥*

इति कठोपनिषत्=षष्ठवल्ली समाप्ता, द्वितीयोऽध्यायश्च ।
इति श्रीमद्दर्शनानन्दस्वामि कृतस्य कठोपनिषद्भाष्यस्य
श्रीमत्स्वामिवेदानन्दतीर्थ कृतं सटिप्पणं भाषान्तरं पूर्त्तिमगात् ॥
ओं शान्तिः शान्ति शान्तिः ॥ शुभं भूयात् ॥

—*—

अथ कठोपनिषत्सारः

'उपनिषद्'=उप+नि+षद् का अर्थ है पास जाकर सर्वथा विचारण करना कराना, जानना, पाना अर्थात गुरु के पास जाकर अपना अज्ञान निवारण कर कराके अध्यात्म को जानना तथा पाना। पुरातन काल में आत्मस्वरूप के जिज्ञासु ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के पास जाकर उनकी सेवा में रहते थे और इस उपनिषद्विद्या का अभ्यास करके आत्म-तत्व को प्राप्त किया

---

* ऐसा प्रतीत होता है कि कठोपनिषत् का भाष्य समाप्त करने से पूर्व ही भाष्यकार स्वामी जी का देहान्त हो गया। प्रथम संस्कृत से ज्ञात होता है, अन्तिम के छठे वचन के आगे उनका भाष्य नहीं है। वैसे भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह अंश स्वामी जी की रचना का नहीं है। हमने इस संस्करण में कुछ थोड़े से फेर-फार के साथ उसी को वैसा रहने दिया है। सम्भव हुआ तो अगले संस्करण में भाष्यकार के भाव और शैली के समान शेष वाक्यों का भाष्य कर देंगे।

करते थे। उस विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थों का नाम भी उपनिषत् पड़ गया। 'उपनिषत्' अब तो सैंकड़ों तक जा पहुँची हैं, किन्तु प्रमाणिक दस ही हैं। यथा—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य तथा वृहदारण्यक। हम बता चुके हैं कि ईशोपनिषत् सब उपनिषदों का मूल है, शेष उपनिषदें उसका व्याख्यान हैं यह कठोपनिषत् वास्तव में 'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ् शरीरम्।'—का विस्तृत व्याख्यान है। यह भी हम बता चुके हैं कि ब्रह्मविद्या का सबसे बड़ा गुरु मृत्यु है। इस उपनिषत् में उसी मृत्यु महागुरू से ब्रह्मविद्या का उपदेश कराया गया है। ब्रह्मविद्या के प्रायः सभी अङ्गों पर विस्तार से इस उपनिषत् में प्रकाश डाला गया है।

इस उपनिषत् में नचिकेता और मृत्यु=यम का सम्वाद है। नचिकेता जिज्ञासु है, यम उसकी शङ्काओं का समाधान करते हैं। कई भाष्यकारों ने यम और नचिकेता को वास्तविक व्यक्ति मानकर इसे इतिहास माना है। दूसरे इसे काल्पनिक कथानक मानते हैं। चाहे यह इतिहास हो चाहे यह रूपक, वस्तुस्थिति में कोई भेद नहीं पड़ता। हमारा अपना मत रूपक मानने वालों के साथ मिलता है। तीसरी वल्ली के १६ वें वाक्य में इस उपाख्यान को सनातन=सदा से चला आता हुआ कहा है, जैसे—

'नचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।'

अर्थात् 'मृत्यु का उपदेश किया हुआ नचिकेता-सम्बन्धी सनातन उपाख्यान।' यदि किसी समय विशेष की घटना होती तो इसे 'सनातन' कैसे कहते।

हमारे विचार में 'नचिकेता' का अर्थ है सन्देह न करने वाला अपने लक्ष्य से च्युत न होने वाला। अस्तु।

उपनिषत् का आरम्भ बहुत सुन्दर रीति से हुआ है। एक सज्जन 'उशन् वाजश्रवस' संन्यासाश्रम में प्रवेश करने की कामना से सर्वस्वदक्षिण=सर्ववेदस यज्ञ करते हैं। सब सम्पत्ति दान दे डालते हैं। दक्षिणा में दी गई गौएँ बहुत बूढ़ी थीं, इतनी बूढ़ी कि स्वयं जल भी न पी सकती थीं, दूध देने की बात तो दूर रही, उस 'उशन्' का पुत्र 'नचिकेता' यह देखकर सोचता है कि पिता जी से पुण्य के बदले पाप हो रहा है। यज्ञ में अहत अक्षत अविकलाङ्ग पदार्थों का उपयोग किया जाता है, ये क्षीणकाय गौएँ देकर पिताजी को पाप लगेगा, इससे तो अच्छा है कि पिताजी मेरा दान कर दें। इस विचार के आते ही उसने अपने पिता से कहा कि मुझे किसके प्रतिदान करोगे, दो बार कहने पर पिता ने कोई उत्तर न दिया, तीसरी बार कहने पर मानो आवेश में आकर पिता ने कहा 'मृत्यवे त्वां ददामि'=तुझे मौत के प्रति देता हूँ अर्थात् तुझे मृत्यु के हवाले करता हूँ। आपाततः तो इसका यही अर्थ प्रतीत होता है कि तू मर जा। किन्तु कोई भी पिता पुत्र का मरना पसन्द नहीं करता, और फिर सन्यास दीक्षा लेने में तत्पर कोई विरक्त, जिसको यह घोषणा करनी पड़ती है 'मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु' मुझ से किसी प्राणी को भय न हो, कैसे ऐसे कठोर वचन कह सकता है? इस वचन का तात्पर्य है 'तू मृत्यु का रहस्य जान।' जैसे—यज्ञोपवीत संस्कार करते समय आचार्य शिष्य के दक्षिणस्कन्ध पर अपना दक्षिण हाथ रख कर कहता है

ओं प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसः अन्तक ! इदं ते परि ददामि अमुम् ॥ (मं० ब्रा० १।६।२०।)

अर्थात् 'तू प्राणों की ग्रन्थि है, शिथिल मत हो। हे

अन्तक ! यह अमुक बालक [यहाँ बालक का नाम लेना है] तुझे देता हूँ ।'

यहाँ 'अन्तक' के प्रति बालक के देने का प्रतिपादन है। अन्तक का अर्थ है मृत्यु। कठोपनिषत् में कहीं यम, कहीं मृत्यु और कहीं अन्तक शब्द का प्रयोग है। क्या यज्ञोपवीत के समय आचार्य नये शिष्य को मारने की तैयारी कर रहा है? मानना पड़ेगा, कि आचार्य का यह अभिप्राय कभी नहीं हो सकता। वरन् आचार्य के उस कथन का तात्पर्य यह हो सकता है कि तू मौत के रहस्य को जान। संसार के लोगों को मृत्यु बहुत भयानक लगती है। तू इसे जान, कि वह क्या है? अतः उशन् का अभिप्राय भी नचिकेता को मारने का नहीं वरन् मृत्यु की वास्तविकता समझने की प्रेरणा का है।

पिता के इस वचन को सुनकर नचिकेता सोच में पड़ गया। उसके चित्त में आया, मैं सर्वथा निकृष्ट तो हूँ नहीं, फिर पिताजी ने ऐसी बात मुझे क्यों कही?

नचिकेता आचार्य के घर जाता है। आचार्य वहां उपस्थित नहीं, तीन दिन बाद आचार्य आता है। उसे घर वाले एक अतिथि के आने और तीन दिन भूखे रहने की बात कहते हैं। आचार्य जलादि लेकर नचिकेता के पास जाते हैं। उसे नमस्ते कहते हैं। उसके भूखे रहने के कारण क्षमा याचना भी करते हैं, और उसे तीन वर माँगने को कहते हैं।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। घर आये अतिथि का सत्कार करना चाहिये, गृहस्थ का यह कर्त्तव्य है कि वह देखे कहीं उसके घर आकर कोई अतिथि भूखा प्यासा तो नहीं रहा। अध्यात्म विद्या के प्रसङ्ग में इस बात की चर्चा बहुत महत्त्वपूर्ण है। अध्यात्माभास के लिये भी लौकिक शिष्टाचार अत्यन्त

आवश्यक है। यम तो अतिथि को रिझाने में अपना कल्याण मानते हैं, तभी तो उन्होंने कहा—'स्वस्ति मे अस्तु' ताकि मेरा भला हो।'

अब नचिकेता का शिष्टाचार देखो। जब वर माँगने लगा, तो सबसे पहला वर अपने पिता के चित्त की शान्ति, और चिन्ता-शून्यता का माँगा। पिता कहता है 'मृत्यवे त्वां ददामि'—तुझे मृत्यु के हवाले करता हूँ। किन्तु नचिकेता कहता है—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥ कठो० १ वल्ली

हे यमराज महाराज! मेरा पहला वर, यह है, कि मेरे पिताजी उद्विग्न हो रहे होंगे, उनका उद्वेग=घबराहट दूर हो जावे। उनका चित्त निश्चिन्त हो जाये। मुझपर उन्हें क्रोध है, वह हट जाये। आपसे जब छूट के जाऊँ, तो मुझसे प्रसन्न मुख होकर बात करें।

उपनिषत्कार, मानो, पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि इस अध्यात्म मार्ग में चलने वाले को लोकव्यवहार अत्यन्त विशुद्ध और शास्त्रमर्यादा के अनुकूल बनाना चाहिये। यदि हमारा आचार-व्यवहार शुद्ध, निर्मल एवं शास्त्रमर्यादा के अनुसार नहीं है, तो इस मार्ग में चलने का तो साहस ही नहीं करना चाहिये। उपनिषत् के कथन के अनुसार तो यह मार्ग—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ कठो० ३। १४।

छुरे की तेज दुर्लंघ्य धारा है। ज्ञानी जन इस मार्ग को दुर्गम बताते हैं।

यम ने उसे आश्वासन=तसल्ली दी और कहा ऐसा ही होगा। तब उसने दूसरा वर मांगा। दूसरा वर यह है:—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१२॥

स त्वमग्निँ् स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रुहि तँ् श्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वरेण वृणे ॥१३॥ कठोपनिषत् १ वल्ली

हे गुरुदेव! मैंने सुन रखा है कि स्वर्गलोक में कोई भय नहीं, न वहाँ तू=मौत है, और न बुढ़ापे का डर है, भूख प्यास भी नहीं सताती, शोक मोह से छूट कर आनन्दविभोर रहता है। स्वर्गवासी मुक्ति पाते हैं। और उस स्वर्ग देने वाले अग्नि=योगाग्नि को जानते हैं। मुझ श्रद्धालु को उसका उपदेश कीजिये। यह मेरा दूसरा वर है।

अनेक लोग, जो मध्यकाल के संस्कारों में पले हैं, समझते हैं कि नचिकेता ने यहाँ पौराणिक स्वर्गप्राप्ति के साधनभूत यज्ञ-विधि को जानने की इच्छा की है किन्तु उनका यह भ्रम है। इस प्रश्न में नचिकेता ने स्वर्ग के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह तो मुक्ति के अतिरिक्तकुछ नहींहै। क्योंकि पौराणिक स्वर्गसे तो—

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकमाविशन्ति।

पुण्य समाप्त होने पर पुनः मृत्युधाम में आना पड़ता है। किन्तु नचिकेता कहता है—

स्वर्गलोकाः अमृत्वं भजन्ते।

स्वर्गस्थ मोक्ष भोगते हैं। पौराणिक स्वर्ग में भूख प्यास, च्युति का भय आदि सब कुछ हैं किन्तु नचिकेता के स्वर्ग में—

स्वर्गेलोके न त्रयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जराया विभेति । उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते ब्रह्मलोके ॥

न भय है, न मौत है, न बुढ़ापे का डर है । न भूख प्यास, न शोक मोह । वहां तो आनन्द ही आनन्द है । अतः नचिकेता का स्वर्ग कोई काल्पनिक केवल पुस्तकस्थ स्वर्ग नहीं, वरन् मोक्षधाम उसका स्वर्ग है । तभी तो यम ने बताते हुए कहा—

अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि स्वमेतन्निहितं गुहायाम् १ ॥ १४ ॥

वह अग्नि अनन्त लोक की प्राप्ति का साधन तथा प्रतिष्ठा है, अर्थात् सबका आधार सा है । (आनन्द से ही सभी जीते हैं) किन्तु यह तुम्हारे हृदय की गुफा में है ।

यदि यह स्वर्ग कहीं अन्यत्र होता, जैसा कि मतवादी लोगों ने कल्पना कर रखी है, तो यम यह कभी न करते कि 'तुम इसे अपने हृदय में छिपा हुआ जानो ।'

समझाते हुए यम ने इस 'स्वर्ग्य अग्नि' को 'लोकादि अग्नि' कहा है । अनेक लोगों ने 'संसार का आदि अग्नि' अर्थ किया है । यह सन्तों के संकेत हैं, पोथी-पण्डित इन्हें नहीं जानते, अतः लोगों को व्यर्थ भ्रमाते हैं—'लोकादि' का अर्थ है **लोकं संसारमत्ति नाशयति सः लोकादिः**=जो संसार को खा जाये उसे लोकादि कहते हैं । विषयवासना का चक्कर ही संसार है, राग द्वेष में फँसकर इधर उधर दौड़ने का नाम ही संसार है । ज्ञान=यथार्थ बोध होने पर विषयवासना दग्ध हो जाती है । गीता में क्या ही अच्छा कहा है—

'ज्ञानाग्नि सर्वकर्म्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुनः'

ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मों को [संसार के देने वाले कर्म्मों को] भस्म कर देता है ।

यज्ञाग्नि तो कर्मों का विस्तार कराता है । अत: नचिकेता का प्रश्न यज्ञाग्नि के सम्बन्ध में न होकर योगाग्नि=योगज्ञान के सम्बन्ध में है ।

यम ने जो उत्तर दिया है, उसका यहाँ उल्लेख नहीं है, केवल इतना ही है कि उसमें जो जितनी और जिस प्रकार की इष्टकाएं =ईंटें लगती हैं, यम ने वे बतला दीं । इसी के कारण लोगों को भ्रम हुआ है । यम ने नचिकेता को योग के अङ्ग धारणा, ध्यान आदि की विधि बतलाई । नचिकेता कुशाग्र बुद्धि वाला था, उसने भी वह सुनकर दोहारा दी ।

अनेक जनों को देखा है कि वे योगी गुरु के मुख से योग-विधि सुनकर भी नहीं बता सकते, क्योंकि उनकी समझ में ही बात नहीं आई होती ।

आगे जो तीसरा प्रश्न है, उसकी तय्यारी के लिये भी योग साधन की आवश्यकता है। फिर उपनिषत् के अन्त में कहा है कि—

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् । ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूत् ॥ कठो० ६।१८

तब नचिकेता मृत्यु की उपदिष्ट इस विद्या तथा सम्पूर्ण योग-विधि को प्राप्त करके, ब्रह्म को प्राप्त हुआ और विरज=दोषरहित हो गया ।

यदि दूसरे वर द्वारा उसने योगविधि का ज्ञान नहीं चाहा, तो योगविधि का उपदेश इस उपनिषत् में कहां किया गया है ? अत: यही मानना उचित है कि दूसरे वर द्वारा नचिकेता ने योगविधि की जिज्ञासा की । नचिकेता ने गुरुमुख से सुनकर उसे उसी समय, यह जानने के लिये कि मैं ठीक समझा हूं कि नहीं

वह सुना दिया । गुरु नचिकेता को इस मेधाबुद्धि से अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहा यह विद्या संसार में तेरे नाम से प्रसिद्ध होगी अर्थात् अब लोग इसे 'नचिकेत अग्नि' कहा करेंगे । नचिकेत अग्नि के चयन=अनुष्ठान का फल मुक्ति बतला कर यम ने कहा, तीसरा वर माँग ।

यह तीसरा वर ही कठोपनिषत् का प्राण है, ब्रह्मज्ञान है। यदि इस प्रश्न को समझ लिया जाये, तो ब्रह्मविद्या हस्तामलकवत् हो जाये । नचिकेता ने ऐसा प्रश्न किया है कि जिसमें कई प्रश्न हैं । इसे प्रश्नों का प्रश्न कहना अनुचित नहीं । नचिकेता ने कहा, महाराज !

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥

कठो० १।२०

मनुष्य के मरने पर यह सन्देह होता है कि मरने के पीछे जीवात्मा रहता है या नहीं, कोई कहता है मरने के पश्चात् भी रहता है, कोई कहता है नहीं रहता है । आपके उपदेश से मैं इस रहस्य को समझना चाहता हूँ, यह मेरा तीसरा वर है ।

कई लोगों का भ्रम है कि यह प्रश्न केवल पुनर्जन्मविषयक है । वास्तव में यह बात नहीं है । इस प्रश्न में इतने प्रश्न गर्भित हैं—१. क्या पुनर्जन्म होता है ? २. होता है तो किसका पुनर्जन्म होता है ? किन कारणों से होता है ? अर्थात् कर्मों के फल के अनुसार होता है या वैसे ही ? ३. कौन पुनर्जन्म कराता है । ४. कर्मफल प्रदाता कोई है या नहीं ? ५. पुनर्जन्म मानने की अवस्था में पुनर्जन्म ग्रहण करने वाला शरीर इन्द्रियादि है या इनसे कोई भिन्न ? ६. पुनर्जन्म से छूटने का उपाय क्या है ?

इन प्रश्नों की विवेचना किये बिना पुनर्जन्मविषयक निर्णय

नहीं हो सकता। ध्यान से देखें तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस प्रश्न द्वारा नचिकेता ने शरीर, इन्द्रिय, मन, आत्मा, परमात्मा कर्म्म कर्म्मजन्य, सस्कारों के स्वरूप विषय में जिज्ञासा की है। नचिकेता को उपनिषत् के आरम्भ में कुमार कहा गया है, कुमार का अर्थ है बालक। जब कोई बालक कोई गम्भीर प्रश्न कर बैठता है तो समाधान करने वाले को सोचना पड़ता है कि प्रश्नकर्त्ता की योग्यता इतनी है भी या नहीं ? इसी भाव से ग्रन्थकार ने यम के मुख से कहलाया है—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा नहि सुविज्ञेयमणुरेष धर्म्मः।
अन्यंवरं नचिकेतोवृणीष्व मा मोपरात्सीरति मा सृजैनम्॥
(कठो० १।२१)

'नचिकेता ! पहले समय में बड़े बड़े विद्वानों ने इस पर विचार किया है कि यह बात अत्यन्त सूक्ष्म है, सरलता से नहीं समझी समझाई जा सकती, तू दूसरा वर माँग ले, इसे छोड़ दे, इसके लिये मुझे मत दबा, अर्थात् मैं वर देने में वचनबद्ध हूँ किन्तु यह प्रश्न मत पूछ।'

नचिकेता उसको कहते हैं जिसे अपने लक्ष्य में सन्देह न हो अतः दृढ़मति नचिकेता कहता है—"महाराज ! आप कह रहे हैं बड़े २ विद्वानों ने इसके सम्बन्ध में संशय किया है और आप इसे सुविज्ञेय=सरल भी नहीं मानते, तब यह निश्चय है कि आप इस प्रश्न का यथाथ उत्तर जानते हैं। आप से अधिक यथार्थ रूप में इस प्रश्न की मीमांसा कौन कर सकेगा, अतः मुझे यही वर माँगना है, क्योंकि मुझे इसके समान कोई वर दीखता ही नहीं था।

जब कोई पहले पहले अध्यात्म मार्ग में चलने की सोचता है तो उसके सामने अनेक प्रलोभन आया करते हैं। कोई वीर पुरुष

ही उन प्रलोभनों से बचकर आगे जा पाता है । नचिकेता के आगे भी प्रलोभन आये । उसे चिरजीवी बेटों, पोतों, हाथी, घोड़ों, धन-धान्य राज-पाट, लम्बा जीवन, सब इच्छाओं को पूरा करने का सामर्थ्य, मर्त्यलोक में दुर्लभ पदार्थों की प्राप्ति, मनुष्यों को प्राप्त न होने वाली बाजे गाजे करणोपकरणयुक्त सुन्दर स्त्रियों के लेने का प्रलोभन दिया गया और कहा गया, ये सब ले लो किन्तु मरणं मानुप्राक्षी मृत्यु से होने वाली अवस्था के सम्बन्ध में प्रश्न मत कर । नचिकेता अपनी बात का धनी था । उसने जो उत्तर दिया है वह प्रत्येक अध्यात्मतत्त्व-जिज्ञासु को स्मरण रखना चाहिये । नचिकेता ने विनयभाव से उत्तर दिया—

श्वोभावामर्त्यस्य यदन्तकैतत सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तवनृत्यगीते ।।२६।।
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्या लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्मचेत्वा ।
जीविष्यामो यावदोशिष्यसित्वंवरस्तु मेवरणीयःसएव।२७।
अजीर्य्यताम मृतानामुपेत्य जीर्य्यन्मर्त्यः क्वधःस्थःप्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्ण रतिप्रमोदानति दीर्घेजीवितेकोरमेत।२८।
यस्मिमन्निदं विचिकित्सन्तिमृत्यो यत्साम्पराये महतिब्रूहि नस्तत् यो ऽयं वरो गूढमनु प्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेतो वृणीते ।२६।

'महाराज ! जितने पदार्थ आप ने मेरे सामने प्रस्तुत किये हैं ये सब आज हैं, कल नहीं हैं [अर्थात् मैं तो नित्य का अभिलाषी हूँ अनित्य का नहीं] और फिर ये सब तो इन्द्रियों के तेज को जोर्ण करते हैं, नष्ट करते हैं, अर्थात् इनके सेवन का फल रोगादि है । आप तो दीर्घ जीवन देते हैं, किन्तु मुझे प्रतीत होता है कि

मनुष्य को अनन्त जीवन भी मिले और आत्मज्ञान न हो, तो वह व्यर्थ है, अतः नाच गान का सामान अपने पास रहने दीजिये मुझे नहीं चाहिये। धन से किसी को तृप्त होते देखा नहीं, धन की तृष्णा समाप्त होने में नहीं आती। यदि मैं मृत्यु का रहस्य जान पाऊँ तो मुझे सब धन मिल जायेगा। जब तक भोग है तब तक जीऊँगा ही अतः मुझे वर तो वही चाहिये। आप अनन्त जीवन और सब भोग सामग्री प्रदान करते हैं, मैं ही देखता हूँ, कि इस जीवन को पाकर भी आत्मज्ञान के बिना बड़ी दुर्दशा होती है। हर समय राग-रंग, भोग-शोक में ग्रस्त रहना होगा। इस कष्ट-बहुल, ब्रह्मानन्दशून्य अनन्त जीवन को कौन बुद्धिमान् पसन्द करे। मुझे तो इस ससार का सार बताइये, जिसमे बड़े बड़े ज्ञानियों को भी सन्देह है। मुझे तो उस तत्त्व के दर्शन कराइए जो हमसे गुप्त है। अतः नचिकेता और वर नहीं चाहता।'

कितनी दृढ़ता है! इस दृढ़ता से प्रसन्न होकर यम ने समाधान करना आरम्भ किया। सबसे पहले उसे सांसारिक और आध्यात्मिक=पारमार्थिक मार्गों का भेद बताया। सांसारिक मार्ग को प्रेयो-मार्ग कहते हैं। पारमार्थिक मार्ग का नाम श्रेयो-मार्ग है। मनुष्य के सामने दोनों आते हैं। श्रेयो-मार्ग का ग्रहण करने वाले का भला होता है, किन्तु प्रेयोमार्ग पर चलने वाला लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है। मूर्ख अविवेकी ही 'प्रेय' से प्रीति करते हैं। ज्ञानशील विवेकी तो श्रेयी का ही अवलम्बन करते हैं। अविद्या के कारण मनुष्य प्रेयोमार्ग पर चलता हैं। तत्वज्ञानी विद्यावान् श्रेयोमार्ग को पकड़ता है। जैसे विद्या और अविद्या एक दूसरे से उलटी हैं, इनका परिणाम भी एक दूसरे से उलटा है, ऐसे ही श्रेयः और प्रेय भी एक दूसरे के विपरीत हैं, अज्ञानियों के पीछे चलने से वही दशा है जो अन्धे के पीछे चलने से होती है।

यह सम्प्रायः=आनी जानी दुनियाँ का तत्व अज्ञानी, प्रमादी

तथा धनमद से उन्मत्त मनुष्य को ज्ञात नहीं हो पाता, उनका मन्तव्य है, बस यही प्रथम और अन्तिम शरीर। न इससे पूर्व कोई शरीर था और न बाद में होगा। ऐसे लोग जन्म मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं। यह ऐसा तत्व है जिसको सुनने वाले ही थोड़े हैं। सुनने वालों में भी बहुत थोड़े इसे समझते हैं। क्योंकि इसको बता सकने वाले दुलभ होते हैं। साधारण मनुष्य तो इसे समझा ही नहीं सकता। नचिकेता! इस तत्व का जब साक्षात्-कार हो जाता है तब कोई भी तर्क, कोई भी युक्ति इस तत्व से बुद्धि को विचलित नहीं कर सकती। हे नचिकेता! मैं उस कल्या-णनिधान को जानता हूँ। अनित्य पदार्थों का मोह त्याग कर मैं उस परम नित्य तत्व को जान चुका हूँ। उसके दर्शन होने पर शोक मोह छूट जाते हैं।

यम के इस प्रवचन से ज्ञात होता है कि यम ने सब से पूर्व इस संसार की व्याख्या और रचना को मन में रख कर इसके बनाने वाले का ज्ञान देना उचित समझा है तभी तो उसने इसी स्थान में आगे कहा है:—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि
ओमित्येतत् ॥ २।१५ ॥

सारे वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, सभी तप मानों इस पद का व्याख्यान हैं। इस पद की कामना से साधक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हैं। हे नचिकेता! संक्षेप से कहता हूँ वह पद 'ओम्' है।

यह 'ओम्' साधकों का सबसे बड़ा सहारा है। ओम् पद की महिमा बताने के बाद १८वें १९वें श्लोकों में इस ओम्-पद वाच्य परब्रह्म को अजर-अमर, सर्वज्ञ, अकारण (जिसका कोई कारण

नहीं है और जो स्वयं किसी का उपादान कारण न हो)सनातन, पुरातन, बताया है। संसार में वह व्यापक है, संसारी पदार्थों के विकृत होने पर भी वह विकृत नहीं होता।

प्रश्न होता है, नचिकेता के प्रश्नानुसार तो सबसे प्रथम आत्मस्वरूप का निरूपण होना चाहिये। यहाँ पहिले परमात्म-तत्व का वर्णन क्यों किया है ? इसका समाधान यह है कि कठोपनिषत् योग की पुस्तक है। योग में चित्त-वृत्ति निरोध का एक उपाय 'ईश्वर प्रणिधान' ईश्वर की अटल श्रद्धायुक्त भक्ति बताया गया है। उस ईश्वरप्रणिधान, विशेषतः प्रणव—(ओ३म्—) जप का फल आत्मदर्शन भी बताया गया है।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमो प्यन्तरायाभावश्च। [यो.सा.२६]

ओम्—जप से प्रत्यक् चेतन=आत्मा की प्राप्ति तथा योग-मार्ग के विघ्नों का नाश होता है।

इसी बात को १।२० में यहाँ भी कहा गया है। यथा—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुःप्रसादान्महिमानमात्मनः॥

वह परमात्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा महान् से महान् है, वह परमात्मा इस प्राणी की हृदय गुफा में छिपा है, निष्काम, वीत-राग मनुष्य ही प्रभु की कृपा से उस तथा आत्मा की महिमा का साक्षात्कार कर पाता है।

उपनिषत् का 'तम......मात्मनः' और योगदर्शन का 'ततः प्रभावश्च' एक ही बात को कहते हैं।

ईशोपनिषत् के 'तदेजति.......' मन्त्र को 'आसीनोदूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः' शब्दों में कहकर, उसकी सर्वव्यापकता का

पुनः कथन कर उसके ज्ञान से शोक, मोह का अभाव बताकर बताया है कि यह सर्वव्यापक होता हुआ भी क्यों नहीं मिलता।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥२।२२॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।२।२३।

यह परमात्मा व्याख्यान करने से नहीं मिलता, न बुद्धि से और न बहुत पढ़ने से, जिसको यह चुन लेता है, वह पा लेता है, उसको यह अपना विस्तार जता देता है। जो दुराचार से नहीं हटा, न सावधान हुआ है, जिसमें शान्ति नहीं है, मन जिसका चंचल है, वह प्रज्ञान के द्वारा इसे नहीं पा सकता।

जो दुराचार, दुर्विचार, दुरुच्चार, दुर्व्यवहार छोड़कर, मन की चंचलता हटाकर चित्त को शान्त और समाहित करेगा, वह प्रभु प्रसाद का अधिकारी बनेगा, उसे ही प्रभु चुनेंगे। भगवान् को पाने के लिये व्याख्यान करना, बहुत पढ़ना आदि पर्याप्त नहीं है।

तीसरी वल्ली का आरम्भ जीव और ब्रह्म के स्पष्ट भेद के वर्णन से किया गया है। इसमें ब्रह्म को आतप=धूप=प्रचण्ड प्रकाश कहा गया है। अर्थात् उसमें किसी भी प्रकार का कोई अज्ञान नहीं है। जीव को छाया कहा है, अर्थात् जीव में प्रकाश=ज्ञान तो है, किन्तु अन्धकार मिश्रित=अज्ञान सहकृत है। दूसरे शब्दों में जीव अल्पज्ञ है।

इस तीसरी वल्ली में आत्मा, शरीर और इन्द्रियों का भेद और इनका पारस्परिक सम्बन्ध बहुत सुन्दर शब्दों में वर्णन किया

गया है। रूपकालङ्कार से शरीर को रथ, आत्मा को रथ का स्वामी, इन्द्रियों को रथ के घोड़े, मन को लगाम तथा बुद्धि को कोचवान् बताया गया है। तात्पर्य यह कि शरीर तो भोगने का ठिकाना है, और इन्द्रियाँ भोगने का साधन हैं, मन से यदि निग्रह न करें, तो इन्द्रियां वश से बाहर हो जाए, बुद्धि इस मन को वश में रखती है। संसार के पदार्थ भोगने के लिये हैं। इन्द्रियों और मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं, क्योंकि इन साधनों के बिना आत्मा भोग नहीं कर सकता। सार यह कि बुद्धि द्वारा मन और इन्द्रियों को सदा अपने वश में रखना चाहिए। बुद्धि को कभी भी प्रमादी नहीं होने देना चाहिये। जैसे कोचवान की असावधानता या प्रमाद से घोड़े अपने घास की ओर दौड़ते हैं, उससे घोड़े स्वयं भी घायल होते हैं। घोड़ों के घायल होने से हानि तो घोड़ों के स्वामी की ही होती है, ऐसे ही इन्द्रियों की क्षति से आत्मा के भोगकार्य में बाधा पड़ती है।

अन्त में उपदेश किया—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥३।१४॥

उठो, जागो, पहुँचकर वरों को जानो। यह मार्ग तीक्ष्ण छुरे की धार है। बहुत कठिन दुर्गम है। ऐसा ज्ञानियों का कथन है।

मौत के मुँह से छूटना चाहते हो तो आत्मा को जानो। यथा—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥३।१५॥

वह आत्मा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित है, इन गुणों के विकारों से वह विकृत नहीं होता। वह अनादि है, अनन्त है,

ध्रुव है, उसे जानकर मनुष्य मृत्यु मुख से बच जाता है।

प्रश्न होता है, इन्द्रियां आत्मा के कारण=ज्ञान के साधन हैं, इनसे आत्मा का ज्ञान क्यो नहीं होता। इस प्रश्न का समाधान करने के लिये चौथी वल्ली प्रवृत्त हुई है। वहां आरम्भ में ही कहा है कि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरःप्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥४।१॥

विधाता ने यह इन्द्रियां बहिर्मुख बनाई हैं, अतः आत्मा इनके द्वारा बाहर ही देखता है आत्मा के भीतर नहीं। कोई धीर मनुष्य ही आंख, नाक, कान आदि मूँद कर ही आत्मा को देख पाता है।

अर्थात् आत्मदर्शन के लिये बड़ा धैर्य चाहिये। जो चंचल है, स्थिरमति नहीं है, उसके लिये आत्मदर्शन असम्भव है।

जिन मूर्खों को आत्मदर्शन नहीं हुए वे ही भोगों में फंसते हैं जैसा कि कहा है—

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥४।२॥

अज्ञानी जन ही बाह्य विषयों की कामना करते हैं। अतः वे मृत्यु के विस्तृत जाल में फंसते हैं। धैर्यशाली अमृत का रहस्य जान कर इन विनश्वर पदार्थों के द्वारा उस अविनाशी को नहीं चाहते।

विषयों से तृप्ति कभी नहीं होती उनकी कामना बार-बार सताती है, उससे विषयवासना बलवती होती है। उसकी बलवत्ता

जन्ममरण के प्रवाह में डालती है, क्योंकि शरीर के बिना तो भोग मिल नहीं सकता। अतः पुनः २ मरना पड़ता है।

आगे समझाया है कि आंख नहीं देखती, देखता तो आत्मा है, इस प्रकार कान आदि की बात समझनी चाहिये, अतः सार पदार्थ परमात्मा है। जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति का द्रष्टा आत्मा ही है। यही जीवात्मा फल भोक्ता है, अर्थात् कर्म का परिणाम इसे ही मिलता है। यही अपने भविष्य का स्वामी है। भूतकाल में किये कर्मों का भोक्ता होने के कारण आत्मा ही भूत का भी स्वामी है। शरीर और इन्द्रियां तो क्षणिक हैं, क्षण क्षण में बदलती रहती हैं। जब तक कोई स्थिर तत्व इनसे भिन्न न माना जाये, कर्मफल व्यवस्था बन नहीं सकती। जब सृष्टि नहीं थी, तब भी यह आत्मा था। प्राण इस आत्मा की सत्ता का प्रमाण देते हैं। यह अखण्ड आत्मतत्व हृदयाकाश में छिपा रहता है। इसके आगे अपनी बात को, मानो, प्रमाणित करने के लिये वेद का एक मन्त्र प्रस्तुत किया है, वह यह मन्त्र है—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः॥४८॥

दो प्राणियों में जैसे अग्नि छिपा है, गर्भिणी में जैसे गर्भ छिपा है, इसी भांति यह आत्मा-अग्नि मनुष्य के हृदयाकाश में छिपा है। तत्वज्ञानी, सावधान, जागरूक, श्रद्धाभक्ति सम्पन्न मनुष्य उस आत्माग्नि की परिचर्या करते हैं।

इस प्रकार नाना उपायों से आत्ममहिमा गाकर अन्त में कहा—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यँस्तानेवानु विधावति ॥४।१४॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥४।१५॥

जैसे पहाड़ों पर, विषमस्थलों पर बरसा हुआ जल इधर उधर ही भागता है, ऐसे इन धर्मों को, गुणों को—गुणी से पृथक् मानने वाला मनुष्य गुणों के पीछे ही दौड़ता है। किन्तु शुद्ध जल यदि शुद्ध पात्र में डाला जाये, तो वह वैसा ही होता है, ऐसे ही ज्ञानी मुनि का आतमा होता है।

अर्थात् इन्द्रियों के विषय विषम हैं, जो उनकी कामना करता है, वह उनके पीछे ही लगा रहता है। इसके विपरीत आतमज्ञानी ब्रह्म में लीन होकर परमानन्द का भागी बनता है।

इसके आगे पाँचवीं वल्ली में आतमा का स्वरूप तथा उसका नाना शरीरों में कर्मों के अनुसार आना वर्णन करते हुए कहाहैः—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५।५॥

कोई भी प्राणी न प्राण के द्वारा जीता है और न अपान के द्वारा, वरन् किसी अन्य के द्वारा, जिसमें ये दोनों आश्रित हैं।

दूसरे शब्दों में आतमा प्राण का भी प्राण है।

इतनी लम्बी भूमिका के पश्चात् यम सीधे शब्दों में उसके प्रश्न का समाधान करते हैं—

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम् ॥५।६॥
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमनु संयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥५।७॥

अहो ! नचिकेता ! मैं तुम्हें वह सनातन गुप्त ज्ञान बतलाता हूँ, अर्थात् मरने के बाद आत्मा की जो दशा होती है। कई जीव शरीर धारण करने के लिये नाना योनियों में जाते हैं। कई स्थावरों को प्राप्त होते हैं। जैसा जिसका कर्म और ज्ञान होता है, वैसा फल मिलता है।

परमात्मा आत्मा का स्वरूप, आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन बुद्धि का पारस्परिक सम्बन्ध बताकर पुनर्जन्म का निश्चय किया जा सकता था। इतना ज्ञान नचिकेता को करा दिया गया है, अतः यम ने उसे बतलाया, कि भाई, आत्मा मरने के बाद अपने ज्ञानकर्म अर्थात् वासनाओं के अनुसार दूसरे शरीर में जाता है। अर्थात् शरीर आदि के साथ सम्बन्ध का नाम जन्म है। शरीरादि के साथ आत्मा का सम्बन्ध बार-बार होता रहता है। अर्थात् मरने के बाद भी आत्मा बना रहता है।

इसके बाद इस वल्ली में प्रसङ्ग से पुनः परमात्मा का वर्णन है। अग्नि, वायु, सूर्य की उपमा से वर्णन करते हुए उसे सबके भीतर तथा बाहर रहने वाला बतलाकर कहा है कि यद्यपि वह सर्वव्यापक है, तथापि सांसारिक दोषों से वह दूषित नहीं होता। वह अकेला होता हुआ भी सबका अन्तरात्मा होने के कारण एक प्रकृति से अनेक रूपों की रचना करता है। वह आत्मा के अन्दर रहता है, उसे बाहर देखने की आवश्यकता नहीं उसे अपने आत्मा के भीतर देखने वालों को ही शाश्वत सुख मिलता है। प्रकृति नित्य है किन्तु उसमें धर्म, लक्षण, अवस्था नामक परिणाम होते हैं, जीव को यथाकर्म, यथाश्रुत भली बुरी योनियों में जाना पड़ता है किन्तु परमात्मा अविकारी है,वह नित्यों में नित्य है। चेतन जीवात्माओं को सृष्टि के आरम्भ में ज्ञान देता है, अतः बुरे कामों से हटने की प्रेरणा करता रहता

है, अतः वह चेतनों का चेतन है। उसके दर्शन अपने आत्मा में करने चाहिये। नचिकेता कहते हैं :—

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥५॥१४॥

आप जैसे महात्मा उस अनिर्देश्य परमानन्द ब्रह्म को हाथ में पड़े पदार्थ की भाँति प्रत्यक्ष जानते हैं। उसे मैं कैसे जानूँ ? वहाँ क्या कुछ प्रकाश करता है ? यम कहते हैं:—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥५॥१६॥

वहाँ सूर्य नहीं चमकता, न तारे, न विजलियाँ चमकती हैं। इस अग्नि की तो बात ही क्या है ? उसके प्रकाश के अनुकूल ही सब प्रकाश होते हैं। वह अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित कर रहा है।

अर्थात् सूर्य, चन्द्र सबमें उसी की ज्योति है, वही प्रकाशकों का प्रकाशक है। इस प्रकार तुम उसे समझ सकते हो।

इसके बाद इसके रचयिता प्रभु का संकेत कर सबको उसका शासनानुवर्ती बतला कर कहा—

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ६ । ४ ॥

इस जन्म में शरीर नाश से पूर्व यदि रहस्य को जान सका, तो सर्गारम्भ में शरीर धारण करेगा, अर्थात् मुक्त होगा।

तलवकार ऋषि ने कहा— इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, कठ

ऋषि ने यम के मुख से कहलाया— 'इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक शरीरस्य विस्रसः' शब्द भेद तो है, किन्तु अर्थ वही है। सौ सयाने एको मत्त।

इसके बाद इन्द्रियों की पृथक्ता, इन्द्रियों से मन की उत्कृष्टता का वर्णन करके अनन्तर परमात्मा को सबसे उत्तम कहा, और साथ ही यह भी कहा कि न उसका कोई रूप है और न कोई चक्षु के द्वारा उसे देख सकता है,वह तो मनन की वस्तु है।

इसके बाद उस सर्वोत्तम परमात्मा तथा आत्मा के दर्शन के साधन योग का संक्षिप्त किन्तु सार-गर्भित वर्णन किया है।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमांगतिम् ॥६।१०॥
तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥६।११॥

जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां तथा मन स्थिर हो जाते हैं, अपना कार्य बन्द कर देते हैं, बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती है, उस अवस्था को परम गति कहते हैं। इन्द्रियों की उस स्थिर धारणा को योग कहते हैं। उस समय साधक सावधान, प्रमाद-रहित होता है। विषय वासना का नाश तथा ब्रह्मानन्द प्राप्ति ही योग है।

थोड़े से शब्दों में कितना सुन्दर वर्णन है। इन्द्रियों, मन और बुद्धि को अपने आधीन करने का नाम योग है।

परमात्मा की सत्ता आत्मानुभाव गम्य है। आंख,नाकादि के द्वारा उसका बोध नहीं किया कराया जा सकता।

परमात्मप्राप्ति का प्रमाण लिखते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥६।१४॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥६।१५॥

जब हृदय की सब कामनाएँ छूट जाएँ, उसकी वासना तक न रहे, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि हृदय की गाँठें जब खुल जाती हैं तभी मनुष्य को मुक्ति मिलती है। इतना उपदेश है अर्थात् ब्रह्मविद्या का सार इतना ही है कि मनुष्य वासनाओं से छुट्टी पा जाय। योगादि सब इसी के लिये किए जाते हैं। वेदादि शास्त्रों का प्रयोजन भी यही है।

योग साधन से प्राणों पर अधिकार हो जाता है। अतः योगी मरते समय सुषुम्ना के द्वारा प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र से बाहर निकालता है। इससे वह मुक्त होता है।

समाप्त करते-करते कहा—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्य्येण ॥५।७॥

ज्ञानगम्य अन्तरात्मा सदा मनुष्य के हृदय में छिपा है। जैसे मुंज से यत्नपूर्वक सींक को निकालते हैं, ऐसे यत्नपूर्वक अपने शरीर से आत्मा को निकालो।

अर्थात् जैसे मूंज और सींक भिन्न-भिन्न हैं, ऐसे ही शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। उनको एक समझना अज्ञान है।

नचिकेता का इस ज्ञान से कल्याण हुआ था। हम सबका भी इस ज्ञान से एतदनुकूल अनुष्ठान से कल्याण हो, यह उस कल्याण-निधान से कामना है।

इति श्रीमद्वेदानन्द तीर्थपराभिधानेन दयानन्द तीर्थ-स्वामिनोद्धृतः कठोपनिषत्सारः समर्पितः ।

॥ ओं शम् ॥

ओ३म्

प्रश्नोपनिषत् का भाष्य

ओ३म् सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्य्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैत ब्रह्मपराः ब्रह्मनिष्ठाः परब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपपन्नाः ॥ १ ॥

पदार्थ—(सुकेशा) यह नाम है (च) और। (भारद्वाजः) भारद्वाज ऋषि की सन्तान में। (शैब्यः) शैब्य की सन्तान में सदा होने वाली। (सत्यकामः) सत्य का नाम है। (सौर्य्यायणी) सूर्य की सन्तान में से। (च) और। (गार्ग्यः) गर्ग ऋषि की सन्तान। (कौशल्यः) कौशला नाम। (च) और। (आश्वलायनः) आश्वल ऋषि का पुत्र। (भार्गवः) भार्गव ऋषि की सन्तान में। (वैदर्भिः, वैदर्भि के पुत्र। (कात्यायनः) कत ऋषि का बेटा। (कबन्धी) कबन्धी नाम। (तेह) यह प्रसिद्ध तप करने वाले। (एते) यह पुरुष। (ब्रह्मपराः) ब्रह्म के भक्त। (ब्रह्मनिष्ठाः) ब्रह्म की प्राप्ति में लगे हुए। (परम्) इन्द्रियों से परे। (ब्रह्म) सर्वव्यापक परमात्मा को। (अन्वेषमाणाः) खोज करते हुए। (एष)यह प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी गुरु। (वै) निश्चयपूर्वक। (तत्सर्वम्) सबके भीतर रहने वाले आत्मा के उपदेश को प्राप्त करने के विचार से। (वक्ष्यति इति)उपदेश के योग्य समझकर। (समित्पाणयो) हाथ में अग्निहोत्र की समिधा लिये हुए। (ते) यह ऋषि लोग।(भगवन्तं)पूजने योग्य आचार्य।(पिप्पलादम्) पिप्पलाद नामी ऋषि के पास उपदेश सुनने को। (उपसन्नाः) पधारे।

भावार्थ—श्रुति और स्मृति ने निर्णय कर दिया है कि जिस अधिकारी को ब्रह्म जानने की लालसा हो, वह ब्रह्मज्ञानी गुरु के समीप जाकर उपदेश ग्रहण करे, परन्तु ब्रह्मज्ञानी गुरु के समीप भेंट लेकर जाना योग्य है,क्योंकि महानुभाव महात्माओं के समीप बिना भेंट जाना, उनका अनादर करना है। ब्रह्मज्ञानी के समीप कोई बहुमूल्य वस्तु लेकर जाना भी उनका अपमान करना है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानी को किसी वस्तु की अभिलाषा कदापि नहीं होती। अतएव ऋषियों ने समिधा अर्थात् हवन करने की लकड़िया हाथ में ले जाने का नियम नियत किया था, जिसके अर्थ यह थे कि मैं तप इत्यादि यज्ञ करके निज अतःकरण को शुद्ध करके और बाहर के आडम्बरों को त्याग कर केवल ब्रह्मज्ञान का जिज्ञासु होकर आया हूँ। जब तक इस प्रकार की जिज्ञासा और ब्रह्मज्ञान की भक्ति, चित्त में उत्पन्न न हो, तब तक वह ब्रह्मज्ञान का अधिकारी नहीं। संसार के सब पदार्थ समिधाओं की भाँति ब्रह्मज्ञान की अग्नि में भस्म करके, हम उसको जान सकते हैं। संसार के पदार्थ जीव से बाहर हैं और ब्रह्म का दर्शन जीव के भीतर होता है, इस कारण एक ही समय में जीव भीतर बाहर देख नहीं सकता। अतः जो मनुष्य संसारी वासनाओं में लिप्त हैं, जो मनुष्य विषय-भोग में लवलीन हैं, जिनको यश, प्रतिष्ठा और शासन की वासना जकड़े हुए है, वह ब्रह्मज्ञान के मार्ग पर जाने योग्य नहीं। इस मार्ग पर वह मनुष्य पहुँच सकते हैं, जो प्रत्येक बाह्य बन्धन से स्वतन्त्र हों अर्थात् जिनको बाह्य अभिलाषा कुछ भी न हो।

तान् ह स ऋषिरुवाच भूयएव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ, यथाकामं प्रश्नान् पृच्छत, यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २॥

पदार्थ—(तान्, उनको। (ऋषिरुवाच) ऋषि ने कहा। (भूय एव)

तुम दो बार। (तपसा) तप करते हुए। (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचारी होकर। (श्रद्धया) श्रद्धा से (संवत्सरं) एक वर्ष तक। (संवत्स्यथ) मेरे समीप रहो, फिर (यथाकामम्) यथा कामना। (प्रश्नान्) प्रश्नों को। (पृच्छत) पूछो। (यदि) यदि। (विज्ञास्याम:) मैं जानता होऊँगा। (सर्वेह) तो सभी तुम्हारे लिए। (वक्ष्याम:) कहूँगा अर्थात् उपदेश करूँगा।

भावार्थ—तपस्वी के तप को जानते हुए भी पिप्पलाद ऋषि ने परीक्षार्थ एक वर्ष तक उनको तप करने और ब्रह्मचारी होकर अपने समीप रहने का आदेश किया और कहा कि इतना तप करने के पश्चात्, जिस प्रकार के प्रश्न करने की इच्छा हो करना। यदि मैं जानता होऊँगा, तो तुमको ठीक बता दूंगा। इस कथा से क्या परिणाम निकलता है जो लोग तप और ब्रह्मचर्य्याश्रम से शून्य हैं वे ब्रह्म विद्या जानने के अधिकारी नहीं। वर्तमान समय में जो मनुष्य अनाधिकारी होकर ब्रह्मविद्या के ग्रन्थों को पढ़ते और ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं उससे व्यर्थ समय नष्ट होने के अतिरिक्त और कोई फल नहीं निकलता। जिस प्रकार बिना जोती हुई भूमि में जिसमें कभी हल न चलाया गया हो, जो बीज बोया जाता है, वह कभी फल नहीं लाता है, इसी प्रकार जिसने ब्रह्मचर्य और तप न किया हो उसको ब्रह्मविद्या के उपदेश से कोई लाभ नहीं होता। ऋषि लोग सत्य कथन करते हैं, यदि मुझे आता होगा, तब मैं उसको सब बता दूँगा, जिससे स्पष्ट प्रकट है कि वह आजकल के अविद्वान् मनुष्यों की भाँति सर्वज्ञ होने का मिथ्या पक्ष लेने वाले नहीं थे किन्तु प्रत्येक पक्ष करने के साथ निज शक्ति का भी विचार रखते थे। ऋषि स्पष्ट शब्दों में कहता है कि मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ परन्तु उनके चित्त की वृत्ति को जानता हुआ कि यह ब्रह्मविद्या के उपदेश को आये हैं कहता है कि तुमको जो इच्छा है, उसके सम्बन्ध में जो प्रश्न करोगे, उसको

मैं ज्ञानानुकूल बताऊँगा। जब तक मनुष्यों में सत्यता न हो तब तक धर्म के कार्य यथावत् नहीं चल सकते और जब तक धर्म के साथ न हो तब तक सफलता से सुख और शान्ति का मुख देखना कठिन है।

अथ कबन्धी कात्यानयमुपेत्यपप्रच्छ भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥३॥

पदार्थ—(अथ) एक वर्ष बीत जाने के पश्चात् (कबन्धी) कबन्धी नाम। (कात्यायनं) जो कत ऋषि के कुल में उत्पन्न हुआ था। (उपेत्य) पिप्पलादि ऋषि के समीप आकार (पप्रछ) पूछता है। (भगवन्) हे गुरु महाराज। (कुतः) कहाँ से या किससे। (ह वा)पूर्व सृष्टि की उत्पत्ति को ध्यानपूर्वक कहिये। (इमाः) यह जो प्रत्यक्ष दीखता है। (प्रजाः) मनुष्य पशु आदि जीव जन्तु और निर्जीव। (प्रजायन्त) उत्पन्न हुए हैं।

भावार्थ—यहाँ प्रश्न किया गया है कि प्रत्यक्ष देखने योग्य सृष्टि का कर्त्ता कौन है, क्योंकि जो वस्तु को ज्ञानानुकूल बनता है, वही उसकी अवस्था को जानता है और जो उसकी अवस्था ठीक प्रकार जानता है वही उसका ठीक सुधार कर सकता है। अतएव संसार के सुधार के लिये संसार के निर्माणकर्त्ता का जानना आवश्यक है, जो सृष्टि के रचियता को नहीं जानता वह संसार का सुधार नहीं कर सकता, क्योंकि जब तक यह न मालूम हो कि निर्माणकर्ता ने इसको किस अर्थ से बनाया है तब तक उस वस्तु सामान्य प्राण से, सूर्य की किरणों से उत्पन्न हुए प्राण ही करते हैं। बढ़ना-घटना आदि सब काम प्राणों से होते हैं। जीव का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं। प्राण परमात्मा के नियम से, जो उसने सूर्य आदि में नियत कर दिया है, अपना काम कर रहे हैं। निदान, प्राण ही जगत् को भोगने वाला है।

*से ठीक काम नहीं लिया जाता क्योंकि निर्माणकर्त्ताके आशय के अनुकूल काम लेना ही ठीक कार्य कहला सकता है, और उसके विरुद्ध कार्य करना उसको हानि पहुँचाना है। यथा हम यह जानते हैं कि नेत्र परमेश्वर ने मार्ग देखकर चलने को दिये हैं। यदि हम नेत्र बन्द करके चलते हैं, तो नेत्र निर्माण-कर्त्ता के सिद्धान्त के विरुद्ध काम करते हैं जिससे ठोकर खाकर कष्ट सहन करते हैं। यहाँ प्रजा से वास्तविक तात्पर्य शरीर तथा इन्द्रियों से है। यदि हमको विदित हो जावे कि यह शरीर और इन्द्रियां किसने किस अर्थ निर्माण की हैं तो हम इस शरीर से उचित लाभ उठाकर सन्मार्ग पर पहुँच जाते हैं। यदि न मालूम हो कि कर्त्ता कौन है और उसका बनाने में क्या प्रयोजन है, तो मार्ग पर पहुँचना असम्भव होता है। अतएव ऋषियों ने सबसे प्रथम प्रश्न यही करना उचित समझा कि इस जगत् का कर्त्ता कौन है? ऋषि उत्तर देते हैं:—

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिञ्च प्राणंचेत्येता मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥ ४ ॥

पदार्थ—(तस्मै) उस कात्यायन। (सह) वह पिप्पलाद ऋषि। (उवाच) स्पष्ट कहने लगे।। (वै) जब (प्रजाकामः) प्रजा के अर्थ से (प्रजापतिः) सब जीवों का नित्य राजा, जो परमात्मा है। (सः)उसने। (तपः क्रिया देने वाली शक्ति से। (अतप्यत्) क्रिया अर्थात् गति दी। (सः) उसने। (तपस्तप्त्वा) क्रियाशील के। (मिथुनम्) दो प्रकार की जोड़ी को। (उत्पादयत) उत्पन्न किया। (रयिञ्च) एक तो भोगने योग्य जड़ से। (प्राणञ्च) दूसरा भोगने वाला। (इत्यतो) यह दोनों भोगने योग्य और भोगने वाले। (मे) मेरे। (बहुधा)बहुत प्रकार की।(प्रजाः) जीवों के शरीर को। (करिष्यत्) करेंगे। (इति) समाप्ति का शब्द।

---

*पृ० ४ पर अन्तिम ५ लाइनें यहां की नहीं हैं अन्य शेष क्रम ठीक है।

भावार्थ—जब न्यायकारी और दयालु परमात्मा ने अपनी जीव रूप अनादि प्रजा के आनन्दार्थ अपने स्वाभाविक न्याय और दया से जगत् बनाने के अर्थ प्रकृति जो उसकी अनादि काल से सम्पत्ति है, उसको क्रिया देकर दो प्रकार का बनाया। एक तो जीवसंगति चैतन्य सृष्टि, जो विशेष प्राणों के साथ तीन प्रकार की शक्ति रखती है, अर्थात् करने, न करने और उलटा करने की जिसमें कि इच्छा रखने वाली प्रगट हो सके। दूसरे जीवों से रहित भोगने के योग्य विशेष प्राणों से पृथक् जड़ सृष्टि जिसका चैतन्य सृष्टि भोग करती है, जिसमें चेतनता नहीं, किन्तु प्रबन्धक चैतन्य है। इस दो प्रकार की सृष्टि से ही परमात्मा को प्रजा (जीव) बहुत प्रकार के फल कर्मों के अनुकूल भोग सकते हैं। जिनमें इच्छा रखने वाली चैतन्य और विशेष प्राण हैं, वह भोगने वाली सृष्टि है, जिसको चैतन्य सृष्टि कहते हैं। जिससे मनुष्य चतुष्पद, पखेरू, कृमि इत्यादि जीवधारी, अन्य जो भोगार्थ बने हैं यथा वनस्पति, मिट्टी इत्यादि। इन दो प्रकार की सृष्टि के नाम जड़ और चैतन्य, स्थावर, जंगम, चराचर, भोक्ता, भोग्य इत्यादि हैं। इस जोड़ी से ही यह सम्पूर्ण जगत् भरा हुआ है, कहीं चैतन्य है, कहीं जड़। निदान प्रजापति परमात्मा ने ही इसको उत्पन्न किया है और उसी के नियम में यह कार्य कर रहे हैं। उसके नियम के विरुद्ध होना अर्थात् चैतन्य का जड़ हो जाना और जड़ का चैतन्य होना असम्भव है।

प्रश्न—अन्य मनुष्य तो इसका पदार्थ यह करते हैं कि प्रजा की इच्छा से परमात्मा ने यह जगत बनाया है।

उत्तर—परमात्मा में यह इच्छा हो नहीं सकती, क्योंकि इच्छा प्राप्त इष्ट व लाभदायक की होती है। लाभदायक वह वस्तु होती है, जो न्यूनता को पूर्ण करे या दोष को दूर करे। परमात्मा में न न्यूनता है, न दोष है, फिर इच्छा किस प्रकार हो सकती है।

दूसरे इच्छा से जगत् की उत्पत्ति मानने में क्रम-दोष लगता है, क्योंकि जिस वस्तु को उत्पन्न करने की इच्छा हो, उसका लाभदायक और प्राप्त होना अवश्य है। लाभदायक होने के ज्ञान के वास्ते उस वस्तु का होना आवश्यक है। जब वह वस्तु उपस्थित है, तो उत्पन्न करने का विचार किस प्रकार होगा और वह वस्तु भी उत्पन्न होने की इच्छा से उत्पन्न हुई होगी, जिसके लिए फिर वही क्रम का चक्र लगा रहेगा।

प्रश्न—इसका क्या प्रणाम है कि जीवों के हेतु सृष्टि परमात्मा ने रची।

उत्तर—प्रजापति शब्द ही बताता है कि परमात्मा उत्पन्न करने से पूर्व भी प्रजापति था और जो अतिरिक्त जीव-रूप प्रजा के और हो नहीं सकता।

प्रश्न—यदि यह मान लिया जावे कि प्रजापति नाम परमात्मा का उत्पन्न करने के पश्चात् हुआ ?

उत्तर—परमात्मा का कोई गुण जिसके पश्चात् नाम रक्खा जावे, हो नहीं सकता क्योंकि उसके सब गुण-कर्म स्वाभाविक हैं। अब इसकी व्याख्या करते है :—

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चंद्रमारयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तञ्चामूर्तञ्च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥५॥

पदार्थ—(आदित्य) सूर्य जो सब वस्तुओं का विनाश करता है। (रयिः) भोगनीय। (प्राणः) प्राण है अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों का भोगनेवाला है। (रयिः) भोगने योग्य। (एव) ही। (चन्द्रमा) चन्द्रमा है। (रयिः) और भोगने। (एव) अथवा। (तत् सर्वम्) यह सब जगत्। (यत्) जो। (मूर्तम्) मूर्तिवाला है। (अमूर्ते) मूर्ति से रहित अवस्था है। (च) और (तस्मात्) इस कारण से। (मूर्तिः) मूर्ति अर्थात् ठोस वस्तु। (एव) ही। (रयिः) भोगने योग्य वस्तु है।

भावार्थ—संसार के जड़ पदार्थों में विनाश और न्यूनता को देखा जाता है, उसको भोगनेवाला सूर्य प्राण है, जिसके कारण प्रत्येक पदार्थ प्राण होकर नाश होता है। सूर्य प्रत्येक वस्तु के भीतर से पानी को किरणों से खींचकर भोगता है, जिससे पदार्थ नाश होते हैं। और जिसको भोगता है, वह चन्द्रमा है, अर्थात् जल का मुख्य भाग है। कारण यह है कि उष्णता जो सूर्य की है वह भोगनेवाली है और शीतलता जो चन्द्रमा की है, वह भोग्य है, मूर्ति का लक्षण है कि 'जिसके खण्ड मूर्छित अर्थात् ज्ञान से शून्य हों और वह संयोगावस्था में हो अतः ठोस वस्तुएँ मूर्तिवाली और द्रव तथा वायु रूप वाली अमूर्त्ति हैं, यह सब भोगने योग्य पदार्थ हैं और इनको भोगने वाला आदित्य (सूर्य) प्राण है।

प्रश्न—सूर्य को प्राण अर्थात् भोगनेवाला क्यों कहा, क्योंकि वह भी तो अग्नि का बना हुआ शरीर है।

उत्तर—सूर्य से वर्षा होती है और वर्षा से सब प्रकार की वनस्पति अर्थात् अन्न इत्यादि उत्पन्न होते हैं और सूर्य को किरणां वायु के साथ मिलकर प्राण उत्पन्न करती हैं, जिससे क्षुधा, तृष्णा मालूम होती है। निदान भोक्ता सूर्य ही है,चैतन्य जीवात्मा तो केवल भोग का ही भागी होता है। अब उसकी व्याख्या करते हैं।

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति, प्राच्या-न्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदु-दीचींयदधोर्यदूर्ध्वं यदन्तरादिशो यत्सर्वं प्रकाशयति, तेन सर्वान्प्राणाम् रश्मिषु सन्निधत्ते ॥६॥

पदार्थ—(अथ) भोगने वाली शक्ति की व्याख्या करते हैं। (आदित्यः)

सूर्य। (यत्) जिस कारण से। (प्राचीं) पूर्व दिशा। (उदयन्) उदय होता। (दिशम्) दिशा को।(प्रविशति)प्रवेश करता। (तेन) उससे। (प्राच्याँ) पूर्वी भाग में। (प्राणान्)प्राणों को। (रश्मिषु) किरणों में। (सन्निधत्ते) मिलता है। (यत् दक्षिणाम्) जिससे दक्षिण दिशा में। (यत्प्रतीचीम्) जिससे पश्चिम में। (यत् उदीचीम्) जिससे ऊपर में। (यदधः) जिससे नीचे। (यत् ऊर्ध्वम्) और जिससे ऊपर (यत् अन्तरा दिशाः) जिससे मध्य कोणों में। (यत्) जिससे (सर्वम्) सबको (प्रकाशयति) प्रकाश करता है। (तेन) उससे (सर्वान् प्राणान्) सब प्राणों को। (रश्मिषु) किरणों में (सन्निधत्ते) स्थापित करता है।

भावार्थ—यहाँ पर भोगनेवाली शक्ति का व्याख्यान करते हैं कि जब रात्रि के व्यतीत होने पर सूर्य पूर्व में उदय होता है, तो उस ओर की किरणों से प्रत्येक वस्तु के भीतर वायु से अग्नि संयोग करके प्राणों को स्थापित करता है अर्थात् क्रिया देने की शक्ति सूर्य की किरणों में है। जिस प्रकार इंजन में वायु पहले विद्यमान् होती है जिस समय पानी और आग के द्वारा भाप बनकर स्टीम बन जाता है, तो इंजन को हरकत दे सकता है, जिससे सम्पूर्ण काम चल जाते हैं। प्रत्येक वस्तु को पृथ्वी का आकर्षण अपनी ओर खींचता है, जिससे कोई वस्तु पृथ्वी से पृथक् नहीं हो सकती, परन्तु पृथ्वी की विपरीत सतोगुणी शक्ति अग्नि की है, जो नित्य पृथ्वी के विरुद्ध चलती है, क्योंकि उसका भण्डार सूर्य पृथ्वी से विपरीत दिशा में रहता है। इस कारण अग्नि प्रत्येक वस्तु को अपने भण्डार (सूर्य) की ओर ले जाना चाहती है, इस कारण अग्नि और पृथ्वी में हर समय संग्राम लगा रहता है। यदि अग्नि की शक्ति भूमि की शक्ति से अधिक हो, तो वस्तुएं सीधी ऊपर को चली जावें। अतः सर्व-

व्यापक सर्वज्ञ परमात्मा ने ऐसा प्रबन्ध कर दिया है कि शक्ति तो अग्नि में पृथ्वी से अधिक है, जिससे वह प्रत्येक वस्तु को पृथ्वी से पृथक् कर लेती है, परन्तु पृथ्वी की सहायता के लिये जल को नियत कर दिया है कि वह पृथ्वी की सहायता करके वस्तुओं को पृथ्वी से पृथक् न होने दे। अतः जब पाँव पृथ्वी से उठ जाता है, तो झट पानी पड़कर अग्नि की शक्ति को निर्बल कर देता है, जिससे वस्तु पृथ्वी पर फिर आ जाती है। अग्नि इस पानी को विनाश करके फिर वस्तु को उठाती है, फिर और जल आकर उसको निर्बल करके रोक देता है। इस प्रकार यह पदार्थ न तो पृथ्वी के साथ ही चिपटे रहते हैं और न सूर्य की ओर जाने पाते हैं, अतः वायु उनको हरकत देकर पृथ्वी के साथ-साथ चलाती है। इस उपचार से पानी बराबर स्टीम बनकर उड़ जाता है। अब यह शक्ति प्राण-शक्ति कहलाती है कि जो सूर्य की किरणों से उत्पन्न होकर सब जगत् को भोग रही है। इस कारण वेदान्त के विद्वान् मानते हैं कि क्षुधा और तृषा प्राणों का धर्म है, अर्थात् प्राण प्रत्येक समय भोजन और जल के अवयवों को भीतर से निकालते रहते हैं। जब तक प्राणों का प्रभाव भोजन पर पड़ा रहता है, तब तक कोई कष्ट मालूम नहीं होता, परन्तु जब प्राण भीतर से निकलने वाले भोजन को और जल को समाप्त करके शरीर के अवयवों में जो खाना और पानी मिला हुआ है, उस पर प्रभाव डालना आरम्भ करते हैं, तो पानी पर प्रभाव डालने का नाम तृषा है और भोजन पर प्रभाव डालने का नाम भूख है अर्थात् जो कुछ हमारे शरीर में या ब्रह्माण्ड में भोगा जा रहा है, वह सूर्य ही भोग रहा है। यह क्रिया प्रत्येक दिशा और कोण में सूर्य की किरणों से ही होती है। यदि सूर्य की किरणों से फैली हुई अग्नि जो प्राण बनाती है, विद्यमान न हो, तो सब

जीव जन्तु मर जावें। शुष्क पृथ्वी में जो वायु चलती है, उसको अग्नि के परमाणु अधिक मिलते हैं, इस कारण वह मनुष्यों को अधिक आरोग्यदायक होती है। जो भूमि नम है, वहाँ की वायु को अग्नि के परमाणु कम मिलते हैं अतः वह आरोग्यता के लिये हानिकारक है। निदान प्रत्येक वस्तु को जितने प्राणों की आवश्यकता है, यदि उतने हो प्राण मिल जावें, तो वह भले प्रकार उन्नति करते हैं। जहाँ प्राणों को शक्ति निर्बल मिली, वह बिगड़ जाती है। यदि भूमि गीली है, तो अग्नि के कम मिलने से प्राण ठीक काम नहीं कर सकते, जिससे मनुष्य की आरोग्यता बिगड़ जाती है। यदि पीने का जल न मिले, तो सूर्य की किरणें पृथ्वी से शक्तियुक्त होकर शरीर के अवववों को फैला देती हैं, जिससे वस्तु नष्ट हो जाती है। इसकी और भी व्याख्या करते हैं।

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥७॥

पदार्थ—(सः) वह सूर्य जिसका वर्णन आ चुका है। (एषः) जो प्रत्यक्ष नेत्र से दीखता है। (वैश्वानरः) सम्पूर्ण संसार के प्राणों का चलानेवाला। (विश्वरूपः) सब जगत् में भोग करने वाली शक्ति रूप से प्रकाशित। (प्राणः) जिसका नाम प्राण, जो अन्न आदि उत्पन्न करता है। (अग्निः) गरमी को। (उदयते) प्रकट करता है। (तत्) उसको। (एतत्) यह। (ऋचाभ्युक्तम्) ऋग्वेद के मन्त्र में भी कहा है।

भावार्थ—यह सूर्य जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, उसकी किरणों से अग्नि फैलकर जगत् में प्राण-शक्ति उत्पन्न करके अन्न को बढ़ाती, दूसरे जीव जन्तुओं को उत्पन्न करती और नियम में चलाती है। इस कारण चराचर जगत् के शरीरों में जो क्रिया हो

रही है, सब उसी सूर्य की है, जो जगत्मात्र का प्राण है। अतः जिसके द्वारा छः विकार होते हैं अर्थात् उत्पन्न होना, बढ़ना, एक सीमा तक बढ़कर रुक जाना, आकृति बदलना, घटना और नाश। इन षट् विकारों का कारण सामान्य प्राण, अर्थात् सूर्य की किरणों से उत्पन्न होनेवाली सामान्य क्रिया प्राण है और जाने वाले में जहाँ विशेष प्राण अर्थात् करने, न करने और उलटा आदि करने की शक्ति पाई जाती है, उसमें प्राणों के अतिरिक्त जीवात्मा भी होता है, जो उन प्राणों को अपनी इच्छानुकूल चलाता है। बढ़ना आदि काम जो प्राणों के हैं। वह सामान्य और विशेष प्राण दोनों में समान पाये जाते हैं, परन्तु विशेष प्राण वहां होंगे जहां जीव और प्राण दोनों होंगे। और सामान्य प्राण वहाँ होंगे जहाँ केवल प्राण होंगे। वास्तव में प्राणों से प्रेरणा होती है। प्राण ही खाते-पीते हैं, जीव तो केवल नियम में चलाता है, यथा इंजिन में ड्राइवर। यह हर दो प्रकार के चाहे विशेष प्राण से हों या सामान्य प्राण से, सूर्य की किरणों से उत्पन्न हुए प्राण ही करते हैं। बढ़ना-घटना आदि सब काम प्राणों से होते हैं। जीव का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं। प्राण परमात्मा के नियम से, जो उसने सूर्य आदि में नियत कर दिया है, अपना काम कर रहे हैं। निदान, प्राण ही जगत् को भोगने वाला है।

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिःशतधा वर्तमानः प्राणःप्रजानामुदयत्येष सूर्यः।८।

पदार्थ—(विश्वरूपं) समस्त भोगने वाली शक्तिरूप। (हरिणं) किरणवाला। (जातवेदसं) जिससे वेद अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होता है। (पारायणं) जो सब प्राणियों में रहता है। (तपन्तम्) जो भले प्रकार गरम हो रहा है। (ज्योतिः) प्रकाशक सूर्य। एकम्) जो लोक में एक

है। (सहस्ररश्मिः) जिसकी अनन्त किरणें हैं। (शतधा) सौ प्रकार से। (वर्तमानः) काम करती हुई विद्यमान् रहनेवाली। (प्राणः) जीवन का कारण। (प्रजानाम्) सब प्राणियों को। (उदयति) प्रकाश करता है। (एषः) यह। (सूर्यः) सूर्य।

भावार्थ—जो सूर्य है, जिसकी आभा अनन्त है, जो सैकड़ों प्रकार की वर्तमान प्रजाओं का प्राण होकर उनको जीवन दे रहा है, जो सब जगत् के भीतर काम करता हुआ और किरणों वाला है, जो रूप को उत्पन्न करने वाला और प्रत्येक प्राणी में एक ही ज्योति या प्रकाश से विद्यमान् और तप रहा है,इन सबका कारण है। इससे स्पष्ट विदित हो गया कि जगत् में जो क्रिया हो रही है, उसका कारण सूर्य है। अब भोग्य कृत की व्याख्या करते हैं।

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरञ्च तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते। ते चन्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्त्तन्ते तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामादक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एषो ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥९॥

पदार्थ—[संवत्सरः] वर्ष। [वै] निश्चय। [प्रजापतिः] जगत् की रक्षा करने वाला है, प्रत्येक वस्तु की रक्षा समय पर होती है। [तस्य] उस वर्ष के। [अयने] वासस्थान घर हैं। [दक्षिणं] एक दक्षिणायन। [च] और। [उत्तरम् च] दूसरे उत्तरायण। [तत्] उनमें। [इह वै] जो मनुष्य निश्चय करके। [इष्टापूर्ते] वेदानुकूल यज्ञ, बावली, कूप सर आदि बनाने। [कृतं] उनके फल की इच्छा रखते हुए। [उपासते] करते हैं। [ते] वह लोग। [चन्द्रमसम्] भोग शक्ति प्रधान। [एव] ही। [लोकम्] शरीर को। [अभिजयन्ते] विजय करते अर्थात् प्राप्त करते हैं। [ते] वे। [एव] ही। [पुनरावर्त्तन्ते]बार-बार जन्म लेते हैं। [तस्मात्] इन कर्मों से। [एते] ये। [ऋषयः] ऋषि। [प्रजाकामाः] सन्तान की

इच्छा रखते हुए। [दक्षिण] निचला अर्थात् कुमार्ग पर। [प्रक्षिपद्यन्ते] चलते हैं। [यः] जो। [पितृयाणः] बार-बार जन्म देने वाला पितादि। [एषः] यह। [ह] किया हुआ। [वै] निश्चय। [रयिः] भोगने योग्य वस्तु हैं।

भावार्थ—वर्ष अर्थात् उस समय का एक भाग प्रजापति है। इसके जाने के दो माग हैं—एक दक्षिण, दूसरे उत्तर। आधे वर्ष सूर्य भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर रहता है। अर्द्ध वष तक दक्षिण की ओर, अर्थात् प्रजा भी दो प्रकार के काम करती है। एक वे काम जिसका फल जन्म-मरण है, जिसकी अभिलाषा मनुष्यों में लगी हुई है, जो कर्म प्रत्यक्ष वस्तु के प्राप्त करने के लिए किए जाते हैं। यथा यज्ञ करना,कूप सरित,बावली,वाटिका, उपवन इत्यादि बनवाना, इस तात्पर्य से कि दूसरे जन्म में भी ऐसा मिले,तो मन में इनके संस्कारों के स्थित रहने से माता-पिता के द्वारा उन पदार्थों को भोगने के अर्थ जन्म लेना पड़ता है। स्वार्थ वाले कर्म का फल चन्द्रलोक प्राप्ति है। यहाँ चन्द्रलोक से तात्पर्य वह शरीर है, जिसमें भोग भोगा जावे। इस स्वार्थ से कर्म करने वाले मनुष्य बार-बार इस संसार में जन्म लेते हैं। इस कारण जो ऋषि सन्तानार्थ कर्म करते हैं, वह मुक्ति से अर्थ निष्काम कर्म करने वाले की अपेक्षा नीच कहलाते हैं। यद्यपि पाप की अपेक्षा स्वार्थ कर्म शुभ है, परन्तु उन कर्मों से जो किसी प्रत्यक्ष स्वार्थ से नहीं किये जाते हैं, जो केवल धर्म समझ कर किये जाते हैं, नीच हैं। शास्त्र में उत्तम कर्मों के लिए उत्तर और नीच के लिये दक्षिण शब्द का प्रयोग किया गया है। निदान,जो पितृयाण बार-बार जन्म लेता है और शरीर के भोग को भोगता है, यही भोग्य है, इसको रयि कहा गया है।

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मान-

ऽन्विष्यादित्यमभिजयन्ते एतद् वै प्राणानामायतन-मेतदमृतमभयमेतत् परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष: श्लोक: ॥ १० ॥

पदार्थ—(अथ) उसके बाद। (उत्तरेण) शुभ और उत्तम कर्मों से या ज्ञान कर्म को दक्षिण मानकर ज्ञान से। (तपसा) गरमी-सरदी, मान-अपमान, भूख-प्यास आदि व्रतों के पालन में जो कष्ट होता है, उस। (ब्रह्मचर्येण) वेदानुकूल इन्द्रियों को वश में रखने से। (श्रद्धया) श्रद्धा से। (विद्यया) ज्ञान से। (आत्मानम्) परमात्मा या जीवात्मा को। (अन्विष्य) जानकर। (आदित्यम्) सूर्य लोक को।(अभिजयन्ते) वश में करते हैं। (एतद्वै) यही भोगता अर्थात् भोगने वाले का स्वरूप है। (प्रणानाम्) प्राणों के (आयतनम्) ठहरने की जगह है, इसके आधार प्राण स्थित रहते हैं। (एतत्) यही (परायणम) ज्ञान का अन्तिम मार्ग। (एतस्मात्) इस आत्मज्ञान से। (न) नहीं (पुन: आवर्त्तन्ते) इस कल्प में लौटते हैं। (इति) अन्तिम। (एष:) यह निरुद्ध ज्ञान का अन्त है। (तत्) उसका वर्णन करने वाला। (एष:) यह। (श्लोक:) श्लोक है।

भावार्थ—जो मनुष्य दूसरे नियम पर जिसको देवयान अर्थात् विद्वानों का मार्ग कहा गया है, कर्म करके, शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा मानापमान को सहन करता हुआ, ब्रह्मचर्य-व्रत को वेदाज्ञानुकूल पालन करने से इन्द्रियों को वश में रखकर गुरु आज्ञा में श्रद्धा रखता हुआ, रात-दिन विचार करके और सत् विद्या के द्वारा आत्मा को जान लेता है, वह आदित्य अर्थात भोक्ता के ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। यही भोक्ता अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा का ज्ञान है, मनुष्य जीवन का उद्देश्य मार्ग है। वहाँ पर पहुँच कर प्राणों का काम समाप्त हो जाता है। यह अमृत अर्थात् मुक्ति है और यही दशा प्रत्येक प्रकार के भय से रहित है। यह इस ब्रह्माण्ड के भीतर ज्ञान की सबसे

अन्तिम पदवी है। जिसके जानने के पश्चात् फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता, जिस प्रकार प्रत्येक जन्म में मरकर जन्म लेना पड़ता है और जन्म के पश्चात् मृत्यु आती है, यहाँ पहुँच कर वह क्रम टूट जाता है। इसको प्राप्त करके इस संकल्प के भीतर फिर जीवात्मा जन्म नहीं लेता। यही ज्ञान इस जन्म-मरण के चक्कर की जिसमें फँसा हुआ जीवात्मा दुःख उठा रहा है, समाप्ति है।

प्रश्न—जब कि जीवात्मा नित्य है तो वह सदा अमर है। इस दशा में अमृत क्यों कहा गया, जबकि सदा ही अमृत है।

उत्तर—जन्म के अर्थ, जीव और शरीर का संयोगहै, और मरण का अर्थ जीव और शरीर का वियोग है, फिर जन्म के पश्चात् मरण और मरण के पश्चात् जन्म होता है, परन्तु मोक्ष वह अवस्था है, जो मरकर नहीं छूटती, किन्तु जन्म से छूटतो है। इस कारण प्रत्येक योनि मरने से छूटती है और मोक्ष जन्म से छूटती है।

प्रश्न—इस दशा में मौत और मोक्ष में क्या भेद है? क्योंकि मोक्ष भी जन्म लेने से छूटती है और मृत्यु भी जन्म लेने से।

उत्तर—मृत्यु के समय कर्म विद्यमान् होते हैं, जिनके कारण से भोग योनि या उभय योनि में जाना अवश्य होता है, परन्तु मोक्ष में कर्म नहीं होते। दूसरे मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर संस्कारों के सहित विद्यमान् होता है, परन्तु मोक्ष में सूक्ष्म शरीर और संस्कार विद्यमान् नहीं होते, केवल कर्मयोनि में मोक्ष से लौटकर जीव आते हैं।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य मोक्ष में भी सूक्ष्म-शरीर, मन और इन्द्रियों को जीव के साथ मानते हैं।

उत्तर—सूक्ष्म शरीर दो प्रकार का है—एक तो सत्रह तत्वोंका योग जो भूतों के अंश से बना हुआ है। दूसरा

जीवात्मा की स्वाभाविक शक्तिरूप सूक्ष्म भूतों का बना हुआ, जो पुनर्जन्म में साथ रहता है। परन्तु मुक्ति में दूसरा स्वाभाविक शरीर रहता है, भौतिक नहीं रहता।

प्रश्न – बहुत से मनुष्य भौतिक सूक्ष्म शरीर को भी मुक्ति में जीव के साथ मानते हैं।

उत्तर—यह केवल अविद्या है, क्योंकि यदि भौतिक शरीर मुक्ति में भी नाश न हो, तो बन्धन में किस प्रकार नाश हो सकता है, क्योंकि उस समय कर्मों के संस्कार जो भोगने योग्य हैं. मन में विद्यमान् होते हैं। जो मुक्ति और बन्धन दोनों दशाओं में नाश न हो, वह नित्य हो जावेगा। जब सूक्ष्म शरीर नित्य हो गया, तो भौतिक कहला नहीं सकता, क्योंकि भौतिक उसे कहते हैं जो भूतों के अंशों से बना हो। जो बना है, वह नित्य कहला नहीं सकता। सम्भव है, बहुत से मनुष्य कहने लगें कि जिस प्रकार वेद बने हैं और नित्य भी हैं इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर बना भी है और नित्य भी है, परन्तु यह विचार सत्य नहीं क्योंकि वेद गुण हैं। परमात्मा ज्ञान स्वरूप का गुण का गुणी के साथ समवाय सम्बन्ध होता है। अतः जब से परमात्मा है तब से उसका ज्ञान वेद भी है।

प्रश्न—जब से परमात्मा है, यदि तब ही से वेद भी है, तो वेद-ईश्वरकृत हैं, क्यों कहते हैं ?

उत्तर— ईश्वर का ज्ञान अनन्त है, उसमें जीवों की मुक्ति के योग्य ज्ञान परमात्मा वेद के द्वारा देते हैं। अपने अनन्त ज्ञान में से विभाग करने के कारण वह वेद के कर्ता कहलाते हैं। विभाग से उत्पन्न हुए से कहलाये और इस उत्पत्ति से पूर्व वैसे ही विद्यमान् होने के कारण नित्य हो सकते हैं परन्तु भौतिक सूक्ष्म शरीर संयोग से उत्पन्न होता है। संयोग से उत्पन्न हुई कोई वस्तु नित्य हो ही नहीं सकती।

पंचपादम् पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे

अर्द्धे पुरीषिणम् । अथेमेऽन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्र षडरआहुरर्पितमिति ॥११॥

पदार्थ— (पचपादम्) पच ऋतु जिसके पांव के अनुकूल (द्वादशाकृतिं) द्वादश मास जिसकी आकृति ।(पितरम्) रक्षा करने वाले । (दिवा) सूर्य से ऊपर का आकाश । (आहुः) कहते हैं । (परे) परली ओर के । (अर्द्ध) अर्द्ध भाग में । (पुरीषिणम्) जिसके साथ जल का कारण-कार्य भाव का सम्बन्ध है अर्थात् वर्षा का कारण है । (अथ) अब और । (अन्ये) दूसरे विद्वान् । (परे) उस वर्ष को जो काल का उत्तम भाग है । (विचक्षणं) जो विशेषता के साथ दूसरों को दिखला सकता है । (सप्तचक्रे) जो भू आदि सप्त लोकों में घूमता है । अथवा सात रङ्गों की जिसकी किरणें हैं । (षट्) षट् ऋतु जिस वर्ष के अंङ्ग हैं । (आहुः) कहते हैं । (अर्पितम्) रथ में जिस प्रकार नाभि लगी होती है, ऐसे लगा हुआ ।

भावार्थः—जिस वर्ष को प्रजापति बताया था । अब उसका लक्षण बताते हैं कि वह संसार में पञ्च ऋतुओं को पिता की भाँति उत्पन्न करता है और रक्षापूवक नियम में चलाता है, यद्यपि ऋतुएं षट् हैं परन्तु यहाँ शरद ऋतु को हेमन्त में संयुक्त कर दिया है क्योंकि दोनो में शीत होता है । केवल न्यूनाधिक का अन्तर है । जिसकी आकृति द्वादश मास को एकत्रित करने से प्रकट होती है अर्थात् द्वादश मास का वृत्तान्त है । जिसका वर्षा के साथ उत्पन्न करने का सम्बन्ध अर्थात् जो वर्षा को उत्पन्न करता है, जिसके ऊपर के अर्द्ध भाग में सूर्य के ऊपर का भाग है । दूसरे विद्वान् लोग इस प्रकार भी त्रिभाग करते हैं कि वह काल का उत्तम भाग है जो षट् ऋतुओं का योग है । जिस प्रकार सूर्यादि सप्त लोकों को अपने सामने घुमाता है और जिस प्रकार चक्र नाभि में आरे लगे होते हैं, उसी प्रकार वर्ष के चक्कर में सब ऋतुएँ और मास आदि लगे हैं ।

प्रश्न—लक्षण तो वर्ष का करने लगे थे, परन्तु वर्णन बहुत

कुछ सूर्य की परिक्रमा का कर दिया।

उत्तर—सूयं क परिक्रमा से ही काल अर्थात् समय का विभाग होता है, इस कारण दिन, रात, मास, वर्ष सूयं की चाल से ही प्रकट होते हैं।

प्रश्न—सूर्य घूमता है या पृथिवी ? रात दिन तो भूमि की चाल से उत्पन्न होते हैं। इसे सर्य की चाल क्यों लिखा ?

उत्तर—यहाँ उपचार से दिखलाया है कि जैसे रेल में बैठ कर जब लाहौर पहुंचते है, तो कहते हैं कि लाहौर आ गया। यहाँ आना रेल में है, परन्तु कह लाहौर देते हैं।

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एवरयिः। शुल्कः प्राण स्तस्मादेते ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतरे इतरस्मिन् ॥१२॥

पदार्थ—(मासो) मास जो है। (वै) निश्चय करके। (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी उत्पत्तिकर्त्ता है। (तस्य) उसका (कृष्णपक्ष) अँधेरा पक्ष जो है। (रयिः) भोगने योग्य वस्तु है और। (शुक्लपक्ष) चन्द्रपक्ष। (प्राणः) भोक्ता है। (तस्मात्) इस कारण से। (एते ऋषयः) यह ऋषि लोग। (शुक्ले) उजाला पक्ष में। (इष्टं) यज्ञ को। (कुर्वन्ति) करते हैं। (इतरे) जो वेद के ज्ञान से शून्य हैं वे। (इतरस्मिन्) कृष्णपक्ष में यज्ञ करते हैं।

पदार्थ—पाँच गुणों के अतिरिक्त जो गुण अवयवों में न हो, वह अवयवी में हो नहीं सकता, इस हेतु वर्ष के भाग मास हैं। उनसे प्राण अर्थात् भोगने योग्य वस्तु का विभाग दिखाते हैं कि कृष्णपक्ष भोग्य वस्तु है और शुक्लपक्ष प्राण है। तात्पर्य यह है कि जिसमें ज्ञान है, वह भोक्ता और जो ज्ञान से रहित है, वह भोगने योग्य वस्तु है। जो मनुष्य वेदों के ज्ञाता हैं, वह ज्ञानानुकूल यज्ञादि सब कार्य करते हैं। वह शुक्लपक्ष में यज्ञ

आदि कर्म करते हैं। और जो मनुष्य ज्ञान से रहित हैं, वह वेद-विरुद्ध कर्म करके दुःख पाते हैं, क्योंकि जो अँधेरे में चलता है, वह निश्चय मार्ग पर नहीं पहुँच सकता, प्रायः ठोकर खाता है। और जो प्रकाश में अर्थात् उद्देश्य और पथ को देखकर कर्म करता है वह सफलता को प्राप्त होता है। देखकर चलनेवाले को ठोकरें भी नहीं मिलतीं। तात्पर्य यह है कि दो शक्तियाँ मार्ग पर ले जाने वाली होती हैं— एक नेत्र, दूसरे सूर्य। जो इन दोनों को काम में लाता है, वह दुःखों से बच जाता है। जो अँधेरे में चलता है या दिन के समय नेत्र बन्द करके चलता है, दोनों दशाओं में हानि उठाता है। इस हेतु आत्मिक मार्ग समाप्त करने के हेतु वेद और बुद्धि दोनों के अनुकूल काम करना चाहिये। वेद के अर्थों को बिना बुद्धि के काम में लिया जावे, या बुद्धि बिना वेद को काम में लाया जावे तो दोनों अवस्थाओं में सफलता नहीं मिल सकती। ऐसी भूल में संसार के मनुष्य लिप्त हुए दुःख पा रहे हैं।

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः। प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति। ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते, ब्रह्मचर्यमेव तद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते। ।१३।।

पदार्थ—(अहोरात्रः दिन-रात । (वै) निश्चय करके । (प्रजापतिः) संसार के प्रबन्ध के चलाने वाले हैं। (तस्य) उसका। (अह एव) दिन ही। (प्राणः) प्राण अर्थात् भोक्ता शक्ति है। (एव) ही। (रात्री) रात। (रयिः)भोगने योग्य वस्तु है। (प्राणं) प्राणों को। (ये) जो मनुष्य। (एते) यह। (प्रस्कन्दन्ति) सुखाते या विनाश करते हैं। (ये) जो। (दिवा) दिन। (रत्या) स्त्री से। (संयुज्यन्ते) सम्बन्ध करते हैं (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य। (एव) ही है। (तत्) वह। (रात्रौ) रात के समय। (रत्या) स्त्री से।(संयुज्यते) सम्बन्ध करते हैं।

भावार्थ—अब रात्रि-दिवस जो सूर्य के सम्मुख पृथिवी की परिक्रमा से उत्पन्न होते हैं, प्रजापति मानकर कहते हैं कि इन में से दिन प्राण हैं अर्थात् भोक्ता है। जो इस भोगने वाले दिन में भोग करता है, वह अपने प्राणों को हानि पहुँचाता है अर्थात् जीवन को न्यून करता है। इस कारण दिन के समय भोग करना पाप है जो मनुष्य रात्रि को सम्बन्ध करते हैं, वह एक प्रकार के ब्रह्मचारी हैं, क्योंकि इनमें अर्द्ध रत्रि तक विषय-वासना को रोकने की शक्ति है। जितना मन और इन्द्रियों पर अधिकार रख सके और वेदाज्ञानुकूल काम करे, यही ब्रह्मचर्य और जितना वेदाज्ञा के विरुद्ध इन्द्रियों का दास बनकर कर्म करे, यही हानि-कारक है। निदान, दिन में विषय-भोग आत्मा के बल को हानि पहुँचाने वाला है, या शरीर को रोगग्रसित करने वाला है। जितना रोका जावे, उतना लाभकारी है। सूर्य या दीपक किसी भी प्रकाश की दशा में यह प्राणों को हानिकारिक है।

अन्नम् वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥१४॥

पदार्थ—(अन्नम् वै) यह गोधूम, माष, चावल इत्यादि जो अन्न हैं। (प्रजापतिः) सब जगत् की उत्पत्ति और जीवन का हेतु होने से प्रजापति कहलाता है। (ततो ह वै) उस प्रसिद्ध अन्न से ही। (तत्) वह। (रेतः) स्त्री-पुरुष का रज-वीर्य उत्पन्न होता है। (तस्मात्) उस रज-वीर्य से। (इमाः प्रजाः) यह जीवयुक्त संसार (प्रजायन्त) उत्पन्न होती है।

भावार्थ—सब जगत् की उत्पत्ति और जीवन का हेतु होने से जैसे अन्न ही प्रजापति है, उस अन्न के खाने से स्त्री और पुरुष जीवों में वीर्य और रज उत्पन्न होता है, जिससे सम्पूर्ण प्रत्यक्ष दृष्टि आने वाले जगत् की उत्पत्ति होती है, क्योंकि बिना रजवीर्य के संयोग के सृष्टि उत्पन्न नहीं होती।

प्रश्न—आदि-सृष्टि में जो ऋषि उत्पन्न हुए या यवन मत के

अनुसार जो पैगम्बर हुए, वह किसके रज वीर्य से हुए ।

उत्तर—दो प्रकार से सृष्टि उत्पन्न होती हुई दिखलाई देती है। यथा कोई साँचा बनाता है, तो वह साँचे से साँचा नहीं बनाता, किंतु पहला साँचा हाथ से बनाता है, फिर साँचे से साँचा बनाता है। इसी प्रकार आदि-सृष्टि में जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं, वह प्रकृति माता और परमात्मा पिता से उत्पन्न होते हैं। पश्चात् जब मनुष्य का साँचा बन जाता है, तो उनके रज-वीर्य से उत्पत्तिका क्रम आरम्भ होता है।

प्रश्न—क्या, इन ऋषियों को पृथिवी उगल देती है, जो एक साथ युवा उत्पन्न हो जाते हैं ?

उत्तर—रज-वीर्य्य भोजन से उत्पन्न होते हैं। भोजन में कहाँ से आता है—परमाणु से। अतः परमात्मा क्रिया (हरकत) देकर रज-वीर्य बनने योग्य परमाणुओं को नियम से मिला देते हैं। जिससे वह शरीर बन जाते हैं।

प्रश्न—यह बात समझ में नहीं आती कि एकदम से युवा कैसे उत्पन्न हो जाते हैं ?

उत्तर—जब सूर्य-चन्द्र या और पृथिवी जैसे बड़े-बड़े लोक बनते हुए मानते हो, तो क्या सूर्य थोड़ा-थोड़ा-सा मिलकर बना अथवा एकदम से ? यदि थोड़ा-थोड़ा-सा बनता, तो सूर्य सम्बन्धी लोक कभी स्थित नहीं होता । जिस प्रकार योरुप में एंजन ढालने वाले कार्यालय हैं, एकदम से इतना बड़ा एंजन, बड़े-बड़े गार्डर इत्यादि ढल जाते हैं, परन्तु भारतवर्ष में नहीं ढलते, तो क्या यह विचार करना चाहिये कि पूर्व बहुत छोटे उत्पन्न होते हैं, पुन पालन-पोषण से इतने बढ़ जाते हैं। यह समझ में न आना केवल परमात्मा की शक्तियों को न जानने का फल है। एक ओर तो बड़े आम की गुठली से आम का वृक्ष होता है, दूसरी ओर बड़ के अत्यन्त छोटे बीज से आम से भी बड़ा वृक्ष उत्पन्न हो जाता है ।

तद्ये ह वै प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेव ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

पदार्थ—(तत्) वह उपरोक्त कथित। (ह) प्रसिद्ध। (ये) जो मनुष्य इन्द्रियों को वश में रखने वाले हैं। (प्रजापतिव्रतं) प्रजा के व्रत को अर्थात् नियम-पूर्वक गर्भाधान आदि। (चरन्ति) करते हैं। (ते) वह लोग। (मिथुनम्) पुत्र-पुत्री दोनों प्रकार की सन्तान को। (उत्पादयन्ते) उत्पन्न करते हैं। (तेषाम्) उनके अर्थ ही। (ब्रह्म-लोकः) ब्रह्मज्ञान का दर्शन होता है। (येषाम्) जिनका मन। (तपः) तप। (ब्रह्मचर्यम्) इन्द्रियों को रोककर नियमपूर्वक वेदों की शिक्षा पाना। (येषु) जिनमें। (सत्यं प्रतिष्ठितम्) सत्य व्रत अटल है।

भावार्थ—जो मनुष्य नियमानुसार इस संसार में सन्तान उत्पन्न करते हैं अर्थात् व्यभिचार अदि से रहित होकर जो नियम-पूर्वक गृहस्थ-धर्म पालन करते हैं, उनकी सन्तान दोनों प्रकार की होती है। जो मनुष्य नियम-विरुद्ध व्यभिचार आदि करते हैं, वह सन्तान-रहित इस संसार से चल देते हैं। जो पूर्व ब्रह्मचर्य पालन करके, विद्या और तप से आत्मा को दृढ़ बना लेते हैं, और ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम इन तीनों को वेद के अनुकूल दृढ़व्रत होकर करते हैं, उनके भीतर ईश्वर-विश्वास होता है, जिसको कोई गिरा ही न सके। ईश्वर-विश्वास संन्या-साश्रम में दृढ़ होता है। अतः मुक्ति के परमानन्द को वही मनुष्य प्राप्त करते हैं, जो चारों आश्रमों में—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास में वेद की आज्ञानुकूल कर्म करते हैं और जो मनुष्य आश्रम-व्यवस्था को तोड़ते है अथवा अवैदिक रीति से आश्रम ग्रहण करते हैं, वे मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते।

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥१६॥

पदार्थ—(तेषाम्) उन मनुष्यों के लिये। (असौ) उपरोक्त शरीर को छोड़ने के पश्चात् होने वाला। (विरजः) सब प्रकार के दोषों से रहित। (ब्रह्मलोकः) ब्रह्म देश है। (न) नहीं। (येषु) जिनमें (जिह्मम्) छल-कपट धूर्तता इत्यादि। (अनृतम्) मिथ्या काम। (न) नहीं। (माया) आत्मा के विरुद्ध। (च) और। (इति) यह प्रथम प्रश्न समाप्त हुआ।

भावार्थ—वही मनुष्य परमात्मा के दर्शन करने योग्य हैं जो छल-कपट, धोखा आदि से रहित हैं न जिनमें कुटिलता है, न जो किसी प्रकार के मिथ्या कर्म करते हैं। न बिना ज्ञान के अन्य पदार्थों की उपासना करते हैं और न आत्मा के विरुद्ध मानते और न करने को उद्यत होते हैं। जो मनुष्य इन दोषों से रहित होकर चारों आश्रमों को पूरा करते हैं, वे मुक्ति प्राप्त करते हैं, अन्य नहीं।

अथ द्वितीय प्रश्न

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन्। कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत् प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषांवरिष्ठ इति॥ १।१७॥

पदार्थ—(अथ) कात्यायन के प्रश्नोत्तर के पश्चात्। (एनं) इस पिप्पलाद ऋषि को। (भार्गवः) भार्गव ऋषि के गोत्र में उत्पन्न हुआ। (वैदर्भिः) विदर्भ के पुत्र ने। (पप्रच्छ) पूछा। (भगवन्) हे गुरु महाराज। (कति) कितने। (एव) ही। (देवाः) देवता (प्रजां) प्रजा को। (विधारयन्ते) स्थापित रखते हैं। (कतरः) कितने। (एतत्) इस जगत् के। (प्रकाशयन्ते) प्रकाशक हैं। (कः) कौन। (पुनः) फिर। (एषाम्) इनमें। (वरिष्ठः) उत्तम है। (इति) इस प्रकार।

भावार्थ—जब कात्यायन के प्रश्न का उत्तर पिप्पलाद ऋषि दे चुके, तो भार्गव-गोत्र में उत्पन्न हुए वैदर्भि नामी ऋषि ने प्रश्न किया कि महाराज इस जगत् को विशेष धारण करने वाले कितने देवता हैं, क्योंकि कोई वस्तु स्वयम् बिना कर्त्ता के कभी स्थित नहीं हुआ करती, और जो उत्पन्न होती है वह किसी के बिना रह नहीं सकती। कौन से देवता हैं, जो मुक्ति रूप होकर उस प्रजा की अनेक प्रकार की आकृति को स्थित रखते हैं और कौन उसको प्रकाशित करते हैं? फिर उन देवताओं में सर्वोत्तम कौनसा देवता है? इस एक प्रश्न में तीन प्रश्न हैं। प्रथम इस जगत् की आकृति कौन धारण करता है अर्थात् इस जगत् का उपादान करण क्या है? द्वितीय यह कि कौन इसको प्रकाशित करता है अर्थात् इसमें जो ज्ञान है, उसका साधन क्या है? तृतीय इन सब देवताओं में सबसे उत्तम देवता कौन है? इसका उत्तर देवता देते हैं—

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ् मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः॥ २। १८॥

पदार्थ—(तस्मै) उस वैदर्भि को। (सः) वह पिप्पलाद ऋषि। (होवाच) स्पष्ट कहने लगे। (ह वै) निश्चय करके। (आकाशः) आकाश। (एष देवः) प्रकाशमान्। (वायुः) वायु (अग्निः) अग्नि। (आपः) जल। (पृथिवी) भूमि। (वाक्) जिह्वा। (मनः) मन। (चक्षुः) नेत्र। (श्रोत्रम्) कान। (च) और। (ते) वह। (प्रकाश्य) निज महिमा को प्रकाशित करते हुए। (अभिवदन्ति) करते हैं। (वयम्) हम भी (एतद्) इसके। (वाणम्) शरीर को (अवष्टभ्य) रोक कर। (विधारयामः) विशेषता के सहित धारण करते हैं।

भावार्थ—पिप्पलाद ऋषि ने स्पष्ट उस वैदर्भि ऋषि से

कहा कि निश्चय करके पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये तत्व इस शरीर के उपादान हैं और वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ तथा लिंगेन्द्रिय मिलाकर पांच कर्मेन्द्रियां और मन (अर्थात् चारों प्रकार के अन्त:करण जिसे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार कहते हैं, जो मन की चार प्रकार की अवस्थायें हैं) और आंख, कान, नाक, रसना, त्वचा इत्यादि ज्ञानेन्द्रियां–ये अभिमान से कहते हैं कि जिस प्रकार उस मकान की छत को जिसके गिरने का सन्देह हो, धन्न के थुने देकर स्थित रखते हैं. ऐसे ही हम इस शरीर को स्थित रखते हैं। यद्यपि मन, इन्द्रियां और प्राण सब जड़ हैं, परन्तु अलंकार रूप से उनका शास्त्रार्थ है, उसको प्रकाशित करते हैं, जिससे सत्य ज्ञान के जाननेवालों को विदित हो जावे कि आन्तरिक अवस्था क्या है। इस कारण इस प्रश्न के उत्तर में ऋषि प्राण और इन्द्रियों का शास्त्रार्थ दिखलाते हैं।

प्रश्न--श्रुति ने केवल वाणी पृथक् इन्द्रिय लिखी। तुमने पाँचों कर्म-इन्द्रियां किस प्रकार ग्रहण कीं। और मन से उसके चारों प्रकार के अन्त:करण और आँख-कान से सब ज्ञान-इन्द्रियाँ कैसे ग्रहण कीं ?

उत्तर—लक्षण आदि से उस प्रकार की वस्तुओं का ग्रहण होता है। इसलिये उपपक्ष अर्थात् एक-एक दो-दो वर्णन करके आगे श्रुति ने सबका लक्षण दे दिया है, जिससे सब कर्म-इन्द्रियाँ, ज्ञान-इन्द्रियाँ और चारों अन्त:करण लिये जा सकते हैं।

प्रश्न—जड़ इन्द्रियों में अभिमान कैसे हो सकता है ? जब अभिमान हो ही नहीं सकता, तो अभिमान से कहना क्यों लिखा ?

उत्तर—अभिमान न तो चैतन्य अर्थात् ज्ञानस्वरूप को होता है और न जड़ को होता है, किन्तु सदा न्यून विद्या वाले को होता है। सो यह इन्द्रियाँ, जो अल्पज्ञानी जीवात्मा की शक्ति से क्रिया पाती है, अहङ्कारी अर्थात् अभिमानी कहला सकती है।

तान् वरिष्ठ :प्राण उवाच। मा मोहमापद्यथाऽहमेवैतत्पं चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति ।३।

पदार्थ—(तान्) उन इन्द्रियरूप देवतों को। (वरिष्ठः) इनमें सबसे उत्तम। (प्राणः) प्राणों ने। (उवाच) कहा। (मा) मत। (मोहं) मोह को (अपद्यथ) अभिमान से भूल मत करो। (अहम्) मैं। (एव) ही (एतत्) इस प्रत्यक्ष। (पंचधात्मानं) इस पाँच प्रकार के प्राण अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान को (प्रविभज्य) विभाग करके। (एतत्) इस। (बाणम्) शरीर को। (अवष्टभ्य) रोककर। (विधारयामि) धारण करता हूँ।

भावार्थ—इन्द्रियों के इस अभिमान को देखकर उनमें से सबसे श्रेष्ठ जो प्राण है, उसने कहा-हे इन्द्रिय रूप देवतो! तुम अज्ञान से भूल में मत पड़ो। इस शरीर को तुम धारण नहीं करते। मैं स्वयम् आपको पाँच प्रकार से विभाजित करके अर्थात् एक प्राण, द्वितीय अपान, तृतीय व्यान, चतुर्थ समान, पंचम उदान रूप होकर, इस शरीर को गिरने से रोकर धारण करता हूँ। तुम इसको धारण करने वाले नहीं, किन्तु मैं हूँ। अब यह शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ कि शरीर को धारण करने वाला कौन है? इन्द्रियों का पक्ष है कि शरीर हमारे कारण से स्थित है। आगे चलकर प्रमाणों से निर्णय होगा, क्योंकि इस सिद्धान्त के साथ मनुष्य-जीवन का बहुत बड़ा सम्बन्ध है कि मनुष्य का इन्द्रियों के विषयों के भोगने से जीवन होता है अथवा प्राणों की रक्षा से।

तेऽश्रद्दधाना बभूवुः सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्वएवोत्क्रामन्ते। तस्मिँश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते। तद्यथामक्षिका मधुर-राजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिँश्च प्रतिष्ठ-

माने सर्वा एव प्रतिष्ठन्ते एवं वाङ्. मनश्चक्षुः श्रोत्रंच ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥४।२०॥

भावार्थ—(ते) वह इन्द्रियरूप देवता। (अश्रद्दधानाः) श्रद्धा से शून्य। (बभूवः) हो गये या उन्होंने अपना काम छोड़ दिया, जिससे शरीर नष्ट हो जावे, इस पर वह प्राण। (अभिमानात्) अभिमान से (ऊर्ध्वमुत्क्रमतः) शरीर को छोड़कर चल दिया। (तस्मिन्) उस प्राण के। (उत्क्रामतयथ) उठकर जाने से। (इतरे) अन्य सब देवता अर्थात् इन्द्रियाँ। (सर्वएवोत्क्रामन्ते) सब छोड़कर चल दिये। (तस्मिन् प्रतिष्ठनाने) उसके आ जाने) पर। (सर्वे) सब इन्द्रियाँ। (एव) भी। प्रतिष्ठन्ते) ठहर गये। (तत्) वह। (यथा) जैसे। (मक्षिका) मधुमक्खी। (मधुकर राजानं) मक्खियों के राजा के। (उत्क्रामन्तं) उठ कर चलने पर। (सर्वा एव) सब ही। (उत्क्रामन्ते) उठकर चल देती हैं। (च) और। (तस्मिन्) उसके। (प्रतिष्ठमाने) ठहरने पर। (सर्वाः) सब। (एव) ही। (प्रतिष्ठन्ते) ठहर जाती हैं (एवम्) इसी प्रकार। (वाक्) वाणी। (मनः) मन। (चक्षुः) नेत्र। (श्रोत्रम्) कान। (च) और। (ते) वह। (प्रीताः) प्राण को अपना जीवन समझकर। (प्राणश्च) प्राण को। (स्तुन्वन्ति) प्रशंसा करते हैं।

भावार्थ—जब प्राण ने कहा कि मैं शरीर को रोकने वाला हूँ, तब इन्द्रियों ने इसको बुरा मानकर, निज कार्य को त्याग दिया। यह शरीर नेत्र के जाने से अन्धा हो गया, परन्तु जीवित रहा, कान के काम न करने से बधिर हो गया, परन्तु जीवित रहा, वाणी के काम न करने से गूँगा हो गया, परन्तु जीवित रहा, काम त्याग देने पर भी जीवित बना रहा! इन्द्रियों की दशा को देखकर प्राण ने अपना बल दिखाने के अर्थ अभिमान से शरीर को त्याग दिया, क्योंकि बिना प्राण के इन्द्रियों की रक्षार्थ जिस रस की आवश्यकता है, वह रस किस प्रकार मिल सकता था? प्राण ही भोजन को पचाकर सम्पूर्ण शरीर को विभाजित करता

है, जिससे इन्द्रियाँ भी जीवित रहती हैं। जब प्राण के साथ ही इन्द्रियां शरीर को त्याग कर चली गईं, तो फिर प्राण शरीर में आ गया, जिसके साथ ही इन्द्रियाँ पुनः आ गईं। इन्द्रियाँ बिना प्राणों के कुछ कर ही नहीं सकतीं। जिस प्रकार मधु के छत्ते में जो मक्खियों की रानी होती है, जब तक वह रानी छत्ते में रहती है, तब तक मक्खियां बैठी रहती हैं और जब वह रानी छत्ते को त्यागकर चल दे, साथ ही मक्खियां भी चली जाती हैं, जहां रानी बैठ जावे, वहीं सब बैठ जाती हैं। ऐसा ही सम्बन्ध प्राण और इन्द्रियों का है। जहाँ प्राण होंगे, वहीं इन्द्रियाँ काम कर सकती हैं। यदि प्राण न हों, तो इन्द्रियाँ कुछ नहीं कर सकतीं। मन और इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है। जब तक प्राण वश में न आवें, मन और इन्द्रियाँ वश में आ ही नहीं सकतीं। प्रत्येक कर्म जो इस शरीर से होता है, उसका मूल प्राण है, क्योंकि प्राण ही से सम्पूर्ण शरीर क्रिया करता है। जब इन्द्रियों ने देखा कि हमारा जीवन ही प्राणों के साथ है, तब प्राणों को अपना जीवन समझकर उसकी प्रशंसा (बड़ाई) करने लगीं। ब्रह्मविद्या के जाननेवालों ने इस ज्ञान से भी इसे योग दिया कि हम प्राणायाम आदि करके जीवन को भी स्थित रख सकते हैं और मन तथा इन्द्रियों के द्वारा जो दोष उत्पन्न होते हैं, उनको भी रोक सकते हैं।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिविरयिर्देवः सदसच्चाऽमृतं च यत् ॥५।२१॥

पदार्थ—(एषः) भोगने वाले प्राण। (अग्निः) आग होकर (तपति) तपता है, यदि प्राण अर्थात् वायु न हो तो, अग्नि नहीं जल सकती। (एषः) यही। (सूर्यः) सूर्य ही। (एष पर्जन्यो) इस

प्राण के कारण से वर्षा होती है। (एषः) यही प्राण। (मघवान्) अनेक प्रकार के घन को उत्पन्न करता है। (एषः) यही। (वायुः) ले जाने वाला वायु है। (एषः) यही प्राण। (पृथ्वी) पृथ्वी की भाँति प्रत्येक वस्तु को रोकता है। (रयिर्देवः) यही सबको भोगता है। (सत्) कारणरूप। (असत्) कार्यरूप। (अमृतम्) नाश से रहित कारणरूप (च) और। (यत्) जो है।

भावार्थ—प्राण का लक्षण करते हैं कि यह अन्न ही अग्नि की गरमी का कारण है, क्योंकि वायु से ही अग्नि उत्पन्न होती है। जहाँ प्राण-वायु न हो, वहां अग्नि जल ही नहीं सकती। यदि घड़े के भीतर जहाँ वायु न लगे, दीपक जला कर रख दिया जावे, तो बहुत शीघ्र ही बुझ जाता है। कारण यह है कि प्राण-वायु इधर-उधर से अग्नि के परमाणु को लाकर सम्मिलित नहीं करता। सूर्य तो प्राणरूप है, क्योंकि सूर्य भी अग्नि का बीज है और अग्नि प्राण से उत्पन्न हुई। अतः सूर्य भी प्राण से ही उत्पन्न हुआ है। यही प्राण वायु स्वरूप है और इसके कारण पृथिवी स्थित है, यही पृथिवी का काम देता है, क्योंकि सब शरीरों को जिस प्रकार पृथिवी स्थित रखती है, उसी प्रकार प्राण ही शरीरों के धारण करने वाला है। निदान जो कारण कार्यरूप अर्थात् मूर्ति से रहित और मूर्तिमान या वायु द्रव और ठोस जगत् है, उस कारण का कारणरूप प्राण है।

अराइव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ऋचो यजूँषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥६।२२॥

पदार्थ—(अराइव) जैसे अरे। (रथनाभौ) रथचक्र की नाभि में लगे होते हैं। (प्राणे) प्राणों में। (सर्वे) सब। (प्रतिष्ठितम्) ठहरे हैं। (ऋचः) स्तुति। (यजूँषि) कर्म-काण्ड।

(सामानि) उपासना (यज्ञ) देव-पूजा, दान आदि । (क्षत्रं) बल । (च) और । (ब्रह्म) ज्ञान ।

भावार्थ—जिस प्रकार रथ के पहियों की नाभि में अरे लगे होते हैं, जो नाभि के बिना स्थित नहीं रह सकते, ऐसे ही सम्पूर्ण पदार्थ प्राणों से स्थित रहते हैं । ऋग्वेद जिससे स्तुति की जाती है, वह प्राणों से स्थित है, यजुर्वेद जिससे क्रिया होती है, वह भी प्राणों से स्थित है, और सामवेद जिससे उपासना होती है, वह भी प्राणों के कारण से है । यज्ञादि कर्म भी प्राणों के ही द्वारा होते हैं । शरीर में जो बल स्थित है, वह भी प्राणों के ही कारण से है । निदान बाह्य पदार्थों का ज्ञान जिससे ब्राह्मण बनते हैं, वह भी प्राण वायु के ही आधार से है । तात्पर्य यह है कि चाहे किसी प्रकार का काम या ज्ञान करना हो, वह प्राणधारी जीव ही कर सकता है प्राण से रहित जीवात्मा सब कामों से शून्य होता है अर्थात् वह कुछ काम नहीं कर सकता । ज्ञान, बल, यज्ञ, स्तुति, कर्म, उपासना सब प्राणों से ही हो सकते हैं अर्थात् जो जीव का लक्षण है कि वह ज्ञान तो स्वाभाविक रखता है, अन्य कामों को यन्त्रों से कर सकता है । जिस यन्त्र से जीव काम करता है, वह प्राण ही है, अतएव प्रत्येक योनि में जीव प्राणी कहलाता है । जो कुछ वृद्धि, क्षय इत्यादि विकार हैं सब प्राणों के कारण ही हैं ।

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । तुभ्यं प्राणः
प्रजास्त्विमा र्बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ।७।२६।

पदार्थ—(प्रजापति) सम्पूर्ण उत्पन्न हुए संसार के पालन-कर्त्ता होने से प्रजापति प्राण का नाम है (चरसि) क्रिया करता है या रहता है । (गर्भे) माता के गर्भ में । (त्वमेव) तू ही (प्रतिजायसे)

सन्तानरूप में उत्पन्न होता है। (तुभ्यं) तेरी रक्षार्थ । (प्राण !) हे प्राण । (प्रजा:) संसार। (तु) तो। (इमाः) यह। (बलिम्) ग्रास। (हरन्ति) खाते हैं। (यः) जो। प्राणैः) पांच प्रकार के प्राणों रूप से अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान रूप से शरीर में (प्रतितिष्ठसि) स्थित होकर रह सकते हैं।

भावार्थ—इस शरीर में जितते काम होते हैं उन सबका कारण प्राण है। जीव तो केवल नियम में रखने वाला है, शेष सब क्रिया प्राणों से होती है। प्राण ही माता के उदर में जाकर लोथड़ा बनाते हैं,प्राण ही पुत्र और पुत्री के रूप में उत्पन्न होकर बाहर दृष्टि पड़ते हैं। यह सब जगत् पशु और पक्षी आदि प्राणों की रक्षार्थ ही भोजन करते हैं। यदि प्राणों को उसकी भोग्य वस्तु न दी जावे, तो शरीर समाप्त हो सकता है, प्राण ही खाने वाला है।

देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥८।२४॥

पदार्थ— [देवानाम्] देवताओं में। [असि] है। [वह्नितमः] बहुत प्रकार के कामों को चलाने वाला। [पितृणां] उत्पन्न करने वालों में। [प्रथमा] सबसे पहला। [स्वधा] कल्याणकारक [ऋषीणां] ऋषियों में। [चरितं] कर्म काण्ड। [सत्यं] सत्य। [अथर्व अङ्गिरसान्] निश्चयात्मक ज्ञानवाले तपस्वी मनुष्यों में। [असि] है।

भावार्थ—जितने वसु, रुद्र, आदित्य देवता हैं, उनमें तू सबसे अधिक आवश्यक है क्योंकि बिना तेरे उनकी सत्ता से जीवों को लाभ नहीं पहुँच सकता। जितते देवता हमको लाभ पहुँचाते हैं वह तब ही हो सकता है, जबकि शरीर में प्राण हों,

क्योंकि प्राणों के बिना शरीर शिथिल रहता है और सन्तान उत्पन्न करने वालों में भी तू ही सबसे प्रथम है, क्योंकि प्राण के बिना सन्तान उत्पन्न नहीं हो सकती। जिसमें प्राण हैं वही सन्तान पैदा कर सकता है। और ऋषियों से जो तप और कर्म किया जाता है वह भी प्राणों के द्वारा ही होता है। सबसे श्रेष्ठ कर्म योग है, वह प्राणों के रोकने और नियम के अनुकूल चलने के बिना नहीं हो सकता अर्थात् ऋषि प्राणों से ही बनते हैं। और जो मनुष्य अङ्गिरा ऋषि पर प्रकट होने वाले अथर्ववेद से सत्य को निश्चय करते हैं, उसमें भी यही कारण है।

प्रश्न— यहाँ सत्य के साथ अथर्ववेद का क्यों सम्बन्ध प्रकट किया ?

उत्तर— ऋग्वेद, पदार्थों की परिभाषा अर्थात् लक्षण बताता है, जिसको जाग्रत-अवस्था, श्रवण, ज्ञानकाण्ड और ब्रह्मचर्याश्रम के साथ उपमा दी गई है। यजुर्वेद में यज्ञ आदि कर्मों की विधि बतलाई है, जिससे उससे स्वप्न-अवस्था में कर्मकाण्ड और गृहस्थाश्रम के साथ अनुकूलता बतलाई है। सामवेद उन कर्मों के फल का गान करता है, जिससे उसे सुषुप्ति-अवस्था, निदिध्यासन, उपासना काण्ड और वानप्रस्थ-आश्रम से प्रकट किया गया। अथर्ववेद ने उन सबकी रक्षा का विधान बताया है जिस कारण तुरीयावस्था, साक्षात्कार, विज्ञान-काण्ड और संन्यास-आश्रम के साथ विदित किया गया है। साक्षात्कार-विज्ञान सत्य है, इस कारण अथर्ववेद के सम्बन्ध से प्रकाश किया गया है।

इन्द्रस्त्वं प्राण ! तेजसा रुद्रोऽसि परि रक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥६।२५॥

पदार्थ—(इन्द्रः) वर्षा करने वाला। (त्वम्) तू ही। (प्राण) हे प्राण। (तेजसा) तेज शक्ति के कारण से। (रुद्रः) रुलाने वाला। (असि) है। (परिरक्षिता) सब प्रकार रक्षा करने वाला तू है। जब तक प्राण हैं, तब तक कोई मर नहीं सकता। (त्वम्) तू। (अन्तरिक्षे) आकाश में (चरसि) हरकत करता हैं। (ज्योतिषांपतिः) चन्द्र, सूर्य, तारे इत्यादि जितने प्रकाशक पदार्थ हैं, उन सबका पति अर्थात् रक्षक सूर्यरूप तू ही (परमात्मा) है।

भावार्थ—संसार में जिस प्रकार की क्रिया पाई जाती है, वह सब प्राणों के कारण से है। प्राण दो प्रकार के हैं, एक सामान्य, दूसरे विशेष प्राण। सामान्य प्राण से सामान्य क्रिया का और विशेष प्राण से विशेष क्रिया का प्रकाश होता है। वर्षा सामान्य प्राण से होती है और उसके कारण का नाम इन्द्र रखा गया है। इस कारण कहते हैं कि हे प्राण! वर्षा के हेतु तू इन्द्र है और जितने जीव होते हैं, वह सब मृत्यु के कारण रुदन करते हैं और मृत्यु प्राण के कारण से होती है। जब नियमित प्राण समाप्त हो जाते हैं,तब जीव शरीर से पृथक् हो जाता है, जिसका नाम मृत्यु है और मृत्यु के भय से मनुष्य रुदन करते हैं। इस हेतु हे प्राण! तू अपनी महान् शक्ति से रुदनकर्ता है। और जब तक प्राण विद्यमान् हैं, जीव शरीर को त्याग नहीं सकता। इस कारण जीव के रहने का स्थान जो शरीर है, उसका रक्षक भी, हे प्राण! तू ही है। हे प्राण! तू आकाश में घूमने वाला और सम्पूर्ण, सूर्य, चन्द्र, तारे इत्यादि पदार्थों का पति है। अर्थात् सामान्य प्राण के द्वारा ही इन सबकी सत्ता स्थित है।

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः। आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नम् भविष्यतीति ॥१०।२६॥

पदार्थ— (यदा) जब। (त्वम्) तू। (अभिवर्षसि) बादलों के जल को पृथ्वी पर डालता है। (अथ) तब। (इमा) यह सांसारिक मनुष्य। (प्राण) हे प्राण ! (ते) तेरे। (प्रजाः) प्रजा। (आनन्दरूपाः) प्रसन्नता की दशा में आकर। (तिष्ठन्ति) स्थित होती हैं। (कामाय) आवश्यकता के हेतु। [अन्नम्] अन्न। [भविष्यति] उत्पन्न हो जावेगा। [इति] इस कारण।

भावार्थ—हे प्राण ! जब तू बादल से बादल को टकराकर जल को पृथ्वी पर गिराता है, तो उस समय सम्पूर्ण जीव चाहे मनुष्य हों अथवा पशु, अन्य जीव-जन्तु पक्षी इत्यादि सम्पूर्ण तेरी प्रजा आनन्द स्वरूप हो जाती है, क्योंकि इनको अपने मार्ग पर पहुँचने के लिये जीवन की आवश्यकता है, जीवनार्थ भोजन की आवश्यकता है, और वर्षा से प्रत्येक जीव का भोजन उत्पन्न होता है, क्योंकि वह देखते हैं कि वर्षा हो गई, अब अन्न घास इत्यादि हो जावेंगे।

प्रश्न—जो पशु वनस्पति इत्यादि खाते हैं, उनको तो वर्षा से भोजन उत्पन्न होने की प्रसन्नता होती है, परन्तु मांस-भक्षक पशुओं का वर्षा से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—जब घास न हो, तो घास खाने वाले जीव जीवित ही न रहें, तो मांस-भक्षक किसका मांस खावें ? अतः सबका जीवन वर्षा पर निर्भर है। जिन देशों में घास उत्पन्न नहीं होती, वहाँ मांस-भक्षक जीव भी नहीं होते और जहां पशु न हों, तो वहां मांस-भक्षक किस प्रकार रह सकते हैं ? अतः कुल संसार वर्षा से प्रसन्न होता है।

व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥११॥

पदार्थ—(व्रात्यः) संस्कार न करने योग्य। (त्वम्) तू ही। (प्राण) हे प्राण। (एकः) बहुत से जीवों में एक आकार का। (ऋषिः) हर समय चलने वाला। (अत्ता) प्रत्येक वस्तु का भक्षक। (विश्वस्य सब जगत् का। (सत्पतिः) ठीक-ठीक रक्षक। (वयम्) हमको। (आद्यस्य) अन्न आदि भोजन का। (दातारः) दाता। (पिता) उत्पादक। (त्वम्) तू ही। (मातरिश्वनः) हे प्राणवायु।

भावार्थ—हे प्राण ! तू पृथ्वी, जल, अग्नि से सूक्ष्म है और उनके गुण तुझ में आ नहीं सकते, इस हेतु संस्कारों की आवश्यकता से रहित है और तू बहुत से जीवों में एक ही रूप से विद्यमान् है। अतः हर समय क्रिया करने वाला और अपने साथ अन्य वस्तुओं को हरकत देने वाला है और समस्त जगत् का रक्षक है। यदि तू न हो, तो कोई जीव जीवित नहीं कहला सकता, क्योंकि प्राण का नाम ही जीवन है और सब इन्द्रियों का पोषक पिता, हे प्राणवायु ! तू ही है।

प्रश्न—हम तो वायु को दुर्गन्ध तथा सुगन्धयुक्त देखते हैं, फिर वायु का संस्कार क्यों नहीं ?

उत्तर—वायु, जल और मिट्टी के परमाणुओं को उठाकर चलती है, तो वह सुगन्ध तथा दुर्गन्ध उन परमाणुओं में है न कि वायु में, क्योंकि सूक्ष्म वायु के भीतर यह दोष नहीं आ सकता।

याते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥१२।२८॥

पदार्थ— (या) जो। (ते) तेरा। (तनु) विस्तार फैला। (वाचि) वाणी। (प्रतिष्ठित) प्रतिष्ठित है। (या) जो। (श्रोत्रेः) कानों में। (चक्षुषि) नेत्रों में है। (या) जो। (च) और।

(मनसि) मन में। (सन्तता) मन की वृत्तियों में फैला हुआ है। (शिवां) कल्याणकारक। (ताम्) उसको। (कुरु) कर। (मा) मत। (उत्क्रमी:) वहाँ से पृथक् हो।

भावार्थ—प्राण ! तेरा जितना विस्तार वाणी में स्थित है, जितना श्रोत्र, नेत्र इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों में फैला हुआ है और जितना मन की वृत्तियों में फैला हुआ है, इसी से हमारा कल्याण अर्थात् जीवन है, तू इसको इस स्थान से मत हटा। तात्पर्य यह है कि ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में जो काम होता है, वह उसके भीतर रहने वाले प्राणों द्वारा होता है। यदि प्राण उस स्थान से पृथक् हो जावे, तो इन्द्रियाँ कुछ भी काम नहीं कर सकतीं। अतएव, तुम यदि इन्द्रियों को विषयों से रोकना चाहते हो, तो प्राणों को रोको, क्योंकि प्राणों के रुकने से इन्द्रियाँ रुक जाती हैं और प्राणों के रुकने से मन भी रुक जाता है। विना प्राण के रुकने से इनका रोकना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव है।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्। मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति। १३। २६।

पदार्थ—(प्राणस्य) प्राणों के। (इदम्) यह। (वशे) वश में है। (सर्वम्) सब कुछ जो। (त्रिदिवे) तीन प्रकार के लोकों में। (यत्) जो। (प्रतिष्ठितम्) जो स्थित है। (माता इव) माता की भाँति। (पुत्रान्) बेटों को। (रक्षस्व) रक्षा कर। (श्रीश्च) धर्म की शोभा। (प्रज्ञाम्) ज्ञान या बुद्धि। (विधेहि) धारण कर। (नः) हम सब को। (इति) बस।

भावार्थ—तीनों प्रकार के लोक अर्थात् कर्मयोनि, भोगयोनि उभययोनि, ऊपर, नीचे या मध्य में जो कुछ स्थित है, वह सब प्राणों के वश में है। किसी योनि को प्राण त्याग आवे, वह

अपने काम से रुक जावेगी। रक्त-भक्षक सिंह तब ही तक जीवित है, जब तक उसमें प्राण हैं। यदि सिंह के शरीर से प्राण पृथक् हो जावें, तब वह अपना काम नहीं कर सकता. दुग्ध-दाता परोपकारी पशु तब ही तक उपकार कर सकते हैं, जब तक उनमें प्राण है। यदि उनमें प्राण न हो, तो वह कर्म नहीं कर सकते, मनुष्य तब ही तक शुभाशुभ कर्म कर सकते हैं, जब तक उनमें प्राण हैं। जब प्राण निकल गये, तब बली, निर्बल, विद्वान् और अविद्वान्, नृप और अनाथ सब समान हो जाते हैं। प्राण तुम्हारे वश में नहीं किन्तु तुम प्राणों के वश में हो। कोई बड़े से बड़ा राजा कितना ही प्रबन्ध क्यों न करे, कैसे ही भवन क्यों न बनावे, कितनी ही सेना क्यों न रक्खे, प्राणों के आवागमन को रोक नहीं सकता। जब चाहें, प्राण उसके ऐश्वर्य, शासन तथा बल की समाप्ति कर सकते हैं। प्राण इस प्रबन्ध में चलते हैं, जैसे इन्जन के भीतर जो ड्राइवर होता है, इन्जन की भाप उसके वश में होती है, इन्जन भाप के वश में होता है, और सब गाड़ियाँ इन्जन के आधीन होती हैं और गाड़ियों पर बैठने वाले, गाड़ियों के भीतर होते हैं। निदान, प्राणों के आधीन सब जगत् है और प्राणों के प्राण परमात्मा के आधीन हैं, जिसका विचार वेदान्तदर्शन और केनोपनिषद् में कर चुके हैं।

इति द्वितीयः प्रश्नः समाप्तः।

—:※:—

अथ तृतीय प्रश्न

अथहैनं कौशल्यश्चाऽश्वलायनः पप्रच्छ भगवन् ! कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिन् शरीरे आत्मानं

वा प्रविभज्य कथं प्रतिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमाभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ १ । ३० ॥

पदार्थ—[अथ] उस वैदर्भि के प्रश्न के पश्चात् । [एनम्] उस पिप्पलाद ऋषि को । [कौशल्य अश्वलायन] कौशल नामी अश्वल के पुत्र ने । [पप्रच्छ] प्रश्न किया । [भगवन] हे गुरु । [कुतः] कहाँ से । [एषः] यह । [प्राणः] प्राण । [जायते] उत्पन्न होते हैं । [कथम्] कैसे । [आयाति] आता है । [अस्मिन् शरीरे] इस शरीर में । [आत्मानम्] अपने को । [वा] या । [प्रविभज्य] विभाग करके । [कथम्] कैसे । [प्रतिष्ठते] स्थिर रहता है । [केन] किससे । [उत्क्रमते] शरीर को त्याग कर निकलता है । [कथम्] कैसे । [बाह्यम्] बाहर की वस्तुओं को । [अभिधत्ते] धारण करता है । [कथम्] कैसे । [अध्यात्मम्] भीतरी वस्तुओं को । [इति] यह ।

भावार्थ—प्रथम तो आश्चर्य से यह प्रश्न किया कि इस प्रजा को कौन उत्पन्न करता है । फिर पूछा कि इसमें कौन इस शरीर को स्थित रखता और प्रकाश करता है और कौनसा सबसे श्रेष्ठ देवता है । इसके पश्चात् अब प्रश्न हुआ कि यह प्राण जिसको महाश्रेष्ठ बताया था, किससे उत्पन्न होता है, किस प्रकार इस शरीर में आता है और किस प्रकार प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान होकर किस-किस स्थान में स्थित होता है ? किसकी शक्ति से शरीर से निकलता है किस प्रकार बाह्य पदार्थों को धारण करता है और किस प्रकार शरीर के भीतर की वस्तु को इस प्रश्नोत्तर के क्रम से विदित होता है कि प्राचीन काल के विद्वान् किस उत्तम विधि से ज्ञान के मार्ग को पूर्ण कर सकते थे । जिस प्रकार वर्तमान काल में

अज्ञानी मनुष्य ज्ञानी होने का अभिमान रखते हैं, यह दशा उस समय न थी।

तस्मै स होवाचाति प्रश्नान् पृच्छसि। ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि॥ २। ३१॥

पदार्थ—(तस्मै) उसको कौशल को। (सः) वह। पिप्पलाद ऋषि। (होवाच) कहने लगे। (अति प्रश्नान्) बहुत कठिन प्रश्नों को। (पृच्छसि) तू पूछता है। (ब्रह्मिष्ठ) तू ब्रह्मज्ञान की इच्छा रखने वाला। (असि) है। (तस्मात्) इस कारण से। (ते) तुझको। (अहम्) मैं। (ब्रवीमि) बताता हूँ।

भावार्थ—उन प्रश्नों को श्रवण कर कौशल से पिप्पलाद मुनि ने कहा कि तुम बहुत कठिन प्रश्नों को पूछते हो और तुम ब्रह्मज्ञान के पूर्ण अभिलाषी तथा अधिकारी हो अर्थात् इन प्रश्नों को समझने योग्य हो। इस कारण इनका उत्तर तुझको देता हूँ। जो जिसके योग्य हो उसको वह देना आवश्यक है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि अधिकारी को ही उपदेश देना उचित है। जो योग्य नहीं, उसको उपदेश देने से कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि ठीक आशय को तो वह समझ नहीं सकता और जो अर्थ उस उपदेश से निकलता है, निकाल नहीं सकता, किन्तु शब्दों को तोते की भाँति उच्चारण करने लगता है, दूसरे मनुष्य उसे ज्ञानी समझते हैं। वास्तव में ज्ञानी न होने से वह उस कर्म से वंचित रहता है, क्योंकि जिस ज्ञान को निश्चय कर लिया हो, उसी को कर्म द्वारा करते हैं, क्योंकि बिना निश्चय ज्ञान के कभी कर्म नहीं होता। नित्यप्रति हम देखते हैं कि मनुष्य नित्य श्रवण करते हैं, परन्तु कर्म उसके विरुद्ध करते हैं। अन्यों को वैराग्य का उपदेश करने वाले साधु, स्वयम् धन को जमा करते हैं। पिप्पलाद ऋषि यह उत्तर देते हैं।

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषापुरुषे छायैतस्मि-न्नेतदाततं। मनःकृतेनाऽऽयात्यस्मिन् शरीरे ॥३।३ २॥

पदार्थ—(आत्मनः) उस सर्वव्याक परमात्मा से। (एष) (प्राणः) प्राण। (जायते) उत्पन्न होते हैं। (यथा) जैसे (एषा) इस। (पुरुषे) पुरुष होने से। (छाया) छाया होती है और नहीं होने से नहीं होती। (तस्मिन्) इस प्राण में। (एतत्) यह आत्मा। (आततम्) व्यापक हो रहा है। (मनःकृतेन) मन के किये हुए शुभाशुभ वासना से। (आयाति) आया है। (अस्मिन्) इस। (शरीरे) शरीर में।

भावार्थ—पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि इस प्राण का उत्पन्न करनेवाला परमात्मा है। जिस प्रकार शरीर के होने से छाया होती है और शरीर के न होने से छाया नहीं होती, इसी प्रकार परमात्मा की शक्ति से यह प्राण उत्पन्न होता है अर्थात् परमात्मा प्रकृति में से प्राण बनाते हैं। जड़, प्रकृति के भीतर संयोग की शक्ति होने से प्राण बनने के नहीं। प्राणों के भीतर परमात्मा व्यापक हो रहा है। जहाँ सामान्य प्राण हैं, वहाँ परमात्मा और जहाँ विशेष प्राण हैं, वहाँ जीवात्मा परमात्मा। दोनों विद्यमान् हैं। इस शरीर में प्राण मन की शुभाशुभ वासनाओं से आया है। दूसरे, स्पष्ट शब्दों में बता दिया है कि उस परमात्मा से ही प्राण, मन और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। बिना परमात्मा के प्राण कर्म नहीं कर सकता। सम्पूर्ण जगत् में प्राण व्यापक है क्योंकि वह जगत् से सूक्ष्म है, परन्तु आत्मा में प्राण व्यापक नहीं, किन्तु प्राणों में आत्मा व्यापक है। आत्मा ही प्राणों को विभाग करके इस शरीर की घटिका को चलाता है।

प्रश्न—कैसे जानें कि प्राणों को आत्मा ने उत्पन्न किया ?

उत्तर—प्राण संयोग है अर्थात् अग्नि से मिश्रित वायु है। संयोग वस्तु बिना मिलाप के हो नहीं सकतीं और संयोग को या तो परमाणु का स्वभाव स्वीकार किया जावे अथवा नैमित्तिक। यदि परमाणु का स्वभाव संयोग हो, तो कर्म के बिना हो नहीं सकता। अतः परमाणु स्वाभाविक ही संयोग अवस्था में होने वाले होंगे अर्थात् स्वयम् क्रिया करते होंगे। जब सब परमाणु गतिमान होंगे तो उनकी शक्ति परमाणु होने से समान होगी, जिससे क्रिया सम होगी। क्रिया के सम होने से उनके मध्य जो अन्तर था, वह कभी दूर नहीं हो सकता, जिससे वह मिल नहीं सकते। यदि यह निष्क्रिय हो तो क्रिया के न होने से अन्तर दूर हो नहीं सकता। यदि संयोग का नैमित्तिक गुण स्वीकार किया जावे, तो उसका कारण परमाणुओं से पृथक् मानना पड़ेगा, जो आत्मा के अतिरिक्त दूसरा हो नहीं सकता, क्योंकि क्रिया दो प्रकार से दी जाती है—एक भीतर से, दूसरी बाहर से। प्राण भीतर से गति देते हैं। इंजन के भीतर भाप भीतर से गति देती है। गाड़ी, घोड़े, बैल, ऊँट बाहर से हरकत देते हैं। परमाणु के सूक्ष्म होने से बाहर से गति दी नहीं जा सकती अतः परमाणुओं को भीतर से ही गति दे सकते हैं, जो परमाणु के भीतर भी प्रवेश हो जावे, वही उसे गति दे सकता है, अतः उसका नाम आत्मा है।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य कहते हैं कि परमात्मा है, तो हमारा हाथ नीचे करदे और मेज पर से पेंसिल उठावे ?

उत्तर—वह मनुष्य मूर्खों को धोखा देते हैं, क्योंकि परमात्मा उनका दास नहीं, जो उनकी आज्ञा पालन करे। यदि

कोई कहे कि हमारे भारतवर्ष में गवर्नर-जनरल है, तो हमारे घर में झाड़ू देवे। यदि हमारे घर में झाड़ू न दें, तो हम उसकी सत्ता से ही इनकार कर देंगे। जिस प्रकार गवर्नर-जनरल झाड़ू देने को नहीं किन्तु प्रबन्ध करने के वास्ते है, इसी प्रकार परमात्मा जगत् का प्रबन्धकर्त्ता है, न कि मूर्खों की सेवा करने को।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य कहते हैं कि ईश्वर के मानने से क्या लाभ होता है ?

उत्तर—ईश्वर के मानने वाले में सच्ची शान्ति, आत्मिक बल, परोपकार का भाव होता है। और जो नास्तिक हैं, वे निराश्रय होने से अशान्त रहते हैं। पराश्रित दुःखी रहता है।

यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव सन्निधत्ते ॥ ४ । ३३ ॥

पदार्थ (यथा) जैसे। (सम्राट्) चक्रवती राजा। (अधिकृतान्) स्वाधीन राजाओं को। (विनियुङ्क्ते) नियत करता है। (एतान्) इन। (ग्रामान्) इन गांवों को। (अधितिष्ठस्व) नियम पूर्वक ठहरकर प्रबन्ध करो। (इति) ऐसे ही। (एवम) इस शरीर में। (एष) यह। (प्राणः) प्राण। (इतरान्) दूसरे। (प्राणान्) प्राणों को। (पृथक्) पृथक्। (एव) यह। (सन्निधत्ते) स्थिर करता हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार गवर्नमेंट या चकवर्ती राजा अपने आधीन राज्य या सूबों और रजवाड़ों की सीमा नियत करके उससे प्रबन्ध का काम लेता है, प्रत्येक थानेदार अपने थाने की

सीमा के भीतर और तहसीलदार तहसील की सीमा में, डिप्टी कमिश्नर प्रान्त की सीमा में, लेफ्टीनेन्ट गवर्नर देश की सीमा में रहकर सब प्रबन्ध करते हैं और अपनी पदवी की आज्ञा के अनुकूल ही काम करते हैं, इसी प्रकार सामान्य प्राण शरीर के भीतर अनेक स्थान में अनेक प्राणों को स्थित करके उनके शरार के प्रबन्ध का काम लेते हैं। प्रत्येक अपनी-अपनी सीमा में ही काम करता है। सामान्य प्राण सारे संसार में चक्रवर्ती राजा की भाँति काम करता है और विशेष प्राण अपने-अपने शरीर के भीतर अपने नियमित स्थान पर ही काम करते हैं। तात्पर्य यह है कि आँख, नाक, कान, वाणी, त्वचा, हाथ, पाँव इत्यादि जितनी इन्द्रियाँ काम कर रही हैं, उन सबके भीतर चलाने वाले प्राण ही काम कर रहे हैं। बिना प्राणों के इन्द्रियाँ स्वयम् कुछ काम नहीं कर सकतीं क्योंकि वह जड़ हैं। जिस प्रकार इंजन में स्टीम को ड्राईवर कायम करता है वैसे ही प्राण इन्द्रियों को हरकत देते हैं, उससे सब काम बाहर भीतर के होते हैं।

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते मध्ये तु समानः। एषह्यैतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ५ । ३४ ॥

पदार्थ—(पायूपस्थे) उपस्थ और लिंगेन्द्रिय में। (अपानम्) अपान् प्राण रहता है। चक्षुः) नेत्र में। (श्रोत्रे) कान में।(मुखनासिकाभ्यां) मुख और नाक में (प्राणः) प्राण। (स्वयं) स्वयम्। (प्रतिष्ठते) स्थित होते हैं। (मध्ये तु) मध्य में। (समानः) समान वायु रहता है। (एषः) यह। (हि) निश्चय करके। (एतत्) इसमें। (हुतम्) भोग्य। (अन्नम्) अन्न को। (समं) सब भाग। (नयति) पहुँचाता है।

(तस्मात्) इस कारण से । (एताः) ये । (सप्त) सात । (अर्चिषः) प्रकाशक (भवन्ति) होते हैं ।

भावार्थ—गुदा तथा मूत्र-स्थान में 'अपान' वायु होती है, जो मल-मूत्र आदि को नीचे की ओर निकालती है, और नेत्र, नासिका, श्रोत्र और मुख में स्वयं 'प्राण' भीतर से बाहर जाता और बाहर से भीतर आता अर्थात् प्राण के आवागमन का यह मार्ग है और उदर के समीप इनके मध्य 'समान वायु' रहती है, जिससे खाया हुआ भोजन रस बनकर सम भाग कुल इन्द्रियों को विभाजित होता है। जो जिस इन्द्रिय का भाग है उसको वैसा ही समानवायु के द्वारा मिलता है। उसका नाम समान इसी कारण से है कि वह सबको समान रूप से रस पहुँचाती है। जिस प्रकार सप्तमार्ग जल के निकलने के होते है इसी प्रकार प्राण वायु के निकास के सप्तमार्ग हैं। दो कान, दो नेत्र, दो नासिका, एक मुख, इन सात मार्गों से प्राण शरीर में प्रवेश होता और निकलता है।

हृदि ह्येष आत्मा । अत्रैतदेकशतं नाड़ीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः । प्रतिशाखा नाड़ी सहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ६ । ३५ ॥

पदार्थ—(हृदि) हृदय में । (हि) निश्चय करके । (एषः) यह । (आत्मा) आत्मा के देखने का स्थान अर्थात् नाभि कमल है । (अत्र) इस नाभि कमल में । (एतत्) उन । (एकशतम्) एक सौ एक नाड़ियों का सम्बन्ध है । (तासाम्) उन नाड़ियों का (शतं) सौ-सौ । (एकैकस्यां) फिर उनमें से एक-एक का । (द्वासप्ततिर्द्वा-सप्ततिः) बहत्तर-बहत्तर । (प्रतिशाखा नाड़ी सहस्राणि) उनकी सह-

स्रों प्रति शाखा। (भवन्ति) होती हैं। (आसु) इन नाड़ियों में। (व्यानः) व्यान वायु। (चरति) क्रिया करता है।

भावार्थ—शरीर क भीतर हृदय-आकाश में जहां आत्मा का दर्शन होता है, वहाँ नाड़ियों का एक चक्कर होता है जिसमें १०१ नाड़ी हैं। उन एक सौ एक नाड़ियों के आगे-आगे सौ-सौ शाखें हैं जो दस सहस्र एक सौ हैं और उनकी ७२, ७२ शाखें हैं फिर उनकी १०००-१००० शाखें हैं। इन कुल ७२७२-१०२०१ शाखाओं में व्यान वायु चक्कर खाता हुआ इस शरीर की रक्षा करता है।

प्रश्न—यहां शरीर में इतनी नाड़ियाँ बताईं इनका प्रमाण क्या है? इनको किसी ने देखा है? इनकी गणना भी कठिन है।

उत्तर—शरीर के भीतर की ठीक दशा योगियों को विदित होती है और इन उपनिषदों के बनाने वाले योगी हैं।

प्रश्न—यहां आत्मा को शरीर के एक स्थान में माना है। और छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है जब शरीर के एक भाग को जीव छोड़ता है, तब वह सूख जाता है, जब दूसरे को छोड़ देता है, तब वह सूख जाता है। ऐसे ही जब सब शरीर को छोड़ता है, तब सम्पूर्ण शरीर सूख जाता है। जीव के पृथक् हो जाने से शरीर मरता है। इससे जीव का शरीर के प्रत्येक भाग में होना पाया जाता है। इन दोनों में कौनसी बात सत्य है?

उत्तर—आत्मा शब्द ही से उसका शरीर में व्यापक होना विदित होता है, परन्तु 'रोहे' वह स्थान है, जहाँ पर मन के शुद्ध होने पर उसको देख सकते हैं। इस विचार से उसको हृदय के अंगुष्ठ समान स्थान में बताया है। यद्यपि पृथ्वी के

नीचे प्रत्येक स्थान में जल है, परन्तु लाने को कुंवा, सरिता, नहर इत्यादि ही बताते हैं, क्योंकि और स्थान से मिल नहीं सकता। सूर्य का प्रतिबिम्ब कुल देश में पड़ता है, परन्तु देखने को शुद्ध दर्पण तथा जल ही बताते हैं।

अथैकयोर्ध्वउदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति।
पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ ७ । ३६ ॥

पदार्थ—(अथ) इन नाड़ियों में से। (एकया) एक में। से। (ऊर्ध्व) जो तालु से ऊपर को है। (उदानः) उदान वायु रहती है। (पुण्येन) अच्छे कर्मों से। (पुण्यलोकम्) जिस शरीर में शुभ कर्मों का फल मिलता है अर्थात् विद्वान् कर्म-काण्डी के शरीर में या योगियों के घर में। (नयति) ले जाता है। (पापेन) पाप करने से। (पापम्) पाप का फल भोगने वाली पशु आदि की भोग योनियों में। (उभाभ्याम्) यदि शुभाशुभ कर्म दोनों समान हों। (एवं) इसी प्रकार। (मनुष्य लोकम्) मनुष्य के शरीर को प्राप्त करता है।

भावार्थ—इन एक सौ एक बड़ी नाड़ियों में से एक नाड़ी के भीतर उदान वायु चलता है अर्थात् जो नाड़ी नाभि-चक्र से सीधी सिर की ओर जाती है, जिसको सुषुम्ना नाड़ी के नाम से योगीजन वर्णन करते हैं, उसके द्वारा प्राण जिसका नाम उदान है, चलता है और सूक्ष्म शरीर को लेकर शरीर से निकलता है और इस पर आरूढ़ होकर सूक्ष्म शरीर सहित जीवात्मा, परमात्मा के नियमानुकूल जिस प्रकार के कर्म होते हैं, उसी प्रकार के शरीर को प्राप्त कर लेता है। जिस मनुष्य ने पुण्य अधिक किये हैं और पाप कम, उनको देवताओं के घर ले जाता है। जिसने पाप अधिक किये हैं, उनको पशु, पक्षी, कीट पतंगादि की भोग-योनी में ले जाता है और जिसके दोनों

समान हैं, उसको साधारण मनुष्यों का जन्म मिलता है। इस स्थान पर ऋषि कर्मों का फल भी प्रकाशित करते हैं और विधान भी बताते हैं।

प्रश्न—क्या शुभ कर्मकारक देवता नहीं होते ? बहुत से मनुष्य बताते हैं कि जो मनुष्य परोपकार और यज्ञादि शुभ कर्म करते हैं, वह स्वर्ग में देवता योनि को प्राप्त होते हैं।

उत्तर—देव दो प्रकार के हैं—एक तो जड़, दूसरे चैतन्य। जड़ देवों की योनि में तो जीवात्मा जा नहीं सकता, केवल चैतन्य देवों के शरीर में ही जायगा, क्योंकि चैतन्य का जड़ हो जाना अपने स्वाभाविक गुण का नाश करना है जो असम्भव है।

प्रश्न—जड़ देवता कौनसे हैं और चैतन्य देवता कौनसे हैं ?

उत्तर—वसु, रुद्र और आदित्य आदि ३३ प्रसिद्ध देवता ही जड़ हैं, इसके अतिरिक्त और भी कोई हो। जितने ज्ञानी और विद्वान् पुरुष हैं सब चैतन्य देवता हैं। शतपथ ब्राह्मण ने बताया है और भाष्यकार पतञ्जलि और उसके टीकाकार कैयट ने भी स्वीकार किया है कि चैतन्य देवता सत्यासत्य के ज्ञाता पण्डित हैं और शङ्कराचार्य आदि ने बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में यही लिखा है।

प्रश्न—जड़ और चैतन्य दो प्रकार के देवता क्यों मानें ?

उत्तर—देवता बनाने वाला सतोगुण है। जिन सांसारिक वस्तुओं में सतोगुण के काम अथवा सतोगुण विशेष हो, वह जड़ देवता हैं और जिन जीवों का मन सतोगुणी हो, वह चैतन्य देवता हैं।

प्रश्न—यदि महाभाष्यादि में विद्वानों को देवता स्वीकार किया गया हो, तो भी वह अप्रसिद्ध देवता हैं, वास्तव में इन्द्रादि

ही देवता हैं, जो प्रसिद्ध हैं। अतएव प्रसिद्ध अर्थ को ही लेना उचित है।

उत्तर—वास्तव में विद्वान् देवता ही प्रसिद्ध अर्थ है, इन्द्रादि शब्द प्रसिद्ध हैं। जब सूर्यादि जड़ देवताओं का नाम लेते हैं, तो वह प्रसिद्ध तो होता है, परन्तु यह कोई योनि नहीं। कोई मनुष्य मरकर सूर्य नहीं हो सकता, न चन्द्र बन सकता है और न रुद्र बन सकता है और न वसु, क्योंकि वह नियमित हैं अधिक हो ही नहीं सकते। इसलिये, वह देवता जो मरकर होते हैं, वह तो विद्वानों का ही नाम है।

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरायदाकाशो स समानो वायुर्व्यानः ॥८।३७

पदार्थ— (आदित्यः) सूर्य। (ह वै) निश्चय करके। (बाह्यः प्राणः) शरीर से बाहर जो सामान्य प्राण हैं। (उदेति) प्रकाशकारक। (एषः) यह सूर्य। (हि) निश्चय करके। (एनम्) इसको (चाक्षुषम् प्राणम्) नेत्र के साथ सम्बन्ध रखने वाले प्राण को। (अनुगृह्णानः) प्राप्त करने के पश्चात् ही। (पृथिव्याम्) पृथ्वी में। (यः) जो। (देवता) प्रकाशकारक हैं। (सा) वह। (एषा) इस। (पुरुषस्य) इस शरीरधारी जीव का। (अपानम्) अपान को। (अवष्टभ्य) रोक कर। (अन्तरा) शरीर के मध्य। (यत्) जो। (आकाशः) आकाश है। (सः) वह। (समानः) समान है। (वायुः) वायु। (व्यानः) व्यान है।

भावार्थ—प्रथम भीतरी प्राणों का वर्णन करके अब बाह्य प्राणों का, जिससे भीतरी प्राण सहायता पाकर ही काम कर

सकते हैं, वर्णन करते हैं। सूर्य के प्रकाश से किरणों के द्वारा नेत्र के भीतर रहने वाले प्राणों की सहायता मिले बिना प्रकाश के नेत्र नहीं देख सकते। पृथ्वी में रहने वाले प्राणों से अपान वायु को सहायता मिलती है, जिससे सहायता पाकर अपान मल-मूत्र को पृथ्वी की ओर निकालते हैं। जहाँ मल-मूत्र के निकलने में किसी प्रकार का अन्तर आ जावे, वहीं आरोग्यता बिगड़ जाती है। समान वायु को आकाश से सहायता मिलती है। यदि भीतर ठसाठस भर दिया जावे और उदर में समान-वायु को स्थान न रहे, तो भी आरोग्यता के बिगड़ने का वैसा ही सन्देह है और व्यान वायु जो इस शरीर को चलाती है, उसको उठा ले जाने वाली वायु से सहायता मिलती है अर्थात् कोई इन्द्रिय अथवा प्राण बाहर की सहायता के बिना जीवित नहीं रह सकते। जिस प्राण की सहायता में त्रुटि हो जावे, उसके कर्मों में अन्तर आ जाता है।

तेजो ह वै उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥६।३८॥

पदार्थ — (तेजः) सर्वव्यापक अग्नि। (ह वै) निश्चय करके। (उदानः) उदान वायु है। (तस्मात्) इस कारण से। (उपशान्त तेजाः) जब भीतर की सामान्य अग्नि शान्त हो जावे। (पुनर्भवम्) अन्य जन्म में प्राप्त होने वाले शरीर को। (इन्द्रियैः) नेत्र, कान इत्यादि सहित। (मनसि) मन के साथ। (सम्पद्यमानैः) प्रविष्ट होकर।

भावार्थ—सारे जगत् में व्यापक जो गरमी है, वह गले में रहने वाली उदान वायु को सहायक है और उस गरमी से सहायता पाता हुआ उदान ही जीवों को जीवित रखता है। जब तक

बाहर से गरमी पहुंचती रहती है, तब तक मनुष्य जीवित रहता है। यदि बाहर से उष्ण वायु के स्थान में जल के परमाणुओं से संयुक्त वायु बराबर पहुंचे, तो उदान की सहायता बन्द हो जाती है। उस दशा में उदान, जीव को इन्द्रियों और मन के सहित लेकर दूसरे शरीर में चला जाता है और यह प्रसिद्ध बात है कि बाहर से जो वायु भीतर जाता है उसमें केवल अग्नि और वायु सम्मिलित होती है और वह भीतर से जल के परमाणुओं को लेकर बाहर निकलती है। अग्नि से मिली हुई वायु में तो पाचनशक्ति होती है, परन्तु जिस वायु में जल और पृथ्वी के परमाणु भी सम्मिलित हो गये हैं, उसमें पाचन-शक्ति नहीं रहती,क्योंकि जितना जल और पृथ्वी के परमाणुओं को प्राण में रहने वाली वायु उठा सकती थी, वह उसके पास पहले विद्यमान है। इस कारण जिस मकान में स्थान कम और मनुष्य अधिक हों अथवा भूमि जलवाली होने से भीतर जानेवाली वायु अग्नि के परमाणुओं को त्याग, जल के परमाणुओं को लेकर जावे, वहाँ अवश्य ही आरोग्यता बिगड़ जावेगी। जिन मकानों में अधिक काल से अग्नि न जली हो या सूर्य का प्रकाश न जाता हो, तो वह भी आरोग्यता को निर्बल करते हैं अर्थात् वह मकान भी रोगकारक होते हैं।

प्रश्न— जब जीव शरीर को त्याग करके जाता हैं, तब उसके लिये कौन से पदार्थ जाते हैं ?

उत्तर—सूक्ष्म शरीर कर्मों के संस्कारों सहित जीव के साथ जाता है और उन संस्कारों के कारण से कर्म का फल मिलता है।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसायुक्तः ।
सहात्मना यथासङ्कल्पितं लोकं नयति ॥१०।३९॥

पदार्थ—(यच्चित्तः) कर्मों के संस्कार से जिस जन्म के योग्य चित्त में वासना होती है। (तेन) उससे । (एषः) यह। (प्राणम्) प्राण। (आयाति) शरीर को ग्रहण करता है। (प्राणः) प्राण। (तेजः) ब्रह्म तेज से सहायता प्राप्त उदान के साथ। (युक्तः) मिलकर। (सहात्मना) जीवात्मा के साथ। (यथा) जैसा॥ (संकल्पितं) कर्मों के कारण शरीर बना है। (लोकम्) उस शरीर को॥ (नयति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो कुछ मनुष्य करता है, उसके दो प्रकार के अंकुर होते हैं—एक का नाम अवरिष्ट और दूसरे का नाम संस्कार। जिस प्रकार का अवरिष्ट होता है उस प्रकार की अन्तिम वासना जीव के मन में उत्पन्न होती है और जिस प्रकार की वासना होती है, उस प्रकार का शरीर परमात्मा के नियम से बनता और जिस किसी मनुष्य या पशु से कर्म का सम्बन्ध होता है, वहीं पर जाकर जीव कर्मों का फल भोगता है। अतः कर्मों के अनुसार जो शरीर परमात्मा ने बना दिया है, उसमें उदान वायु सूक्ष्म शरीर और आत्मा को ले जाकर पहुँचा देता है। इसलिए प्रायः विद्वानों का विचार है कि जब किसी मनुष्य को मरना होता है, उससे षट् मास पूर्व उसकी प्रकृति परिवर्तित हो जाती है अर्थात् जैसा फल उसको मिलनेवाला होता है, वैसे ही उसके विचार हो जाते हैं।

य एवं विद्वान् प्राणम् वेद, न हास्य प्रजा हीऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ११ । ४० ॥

पदार्थ—(यः) जो। (एवम्) इस प्रकार। (विद्वान्) ज्ञाता। (प्राणं) प्राणों को। (वेद) जानता है। (न) नहीं। (हास्य) उस विद्वान् की। (प्रजा) सन्तान। (हीयते) नाश होती है अर्थात् उसके सन्तान। (वंश) का नाश नहीं होता। (अमृतः) नाश-रहित। (भवति) होता है। (तत्) उसके अर्थ। (एषः) यह। (श्लोकः) श्लोक वर्णन किया है।

भावार्थ—जो विद्वान् इस प्राण की विद्या को ठीक प्रकार समझकर वैसा ही आचरण करता है अर्थात् दिन में और काम नहीं करता और कोई भी काम वेद के विरुद्ध नहीं करता, सत्य बोलता, विद्याभ्यास करता और उपकार में लगा रहता है, उसके कुल अर्थात् सन्तान् का नाश नहीं होता, क्योंकि सन्तान दो प्रकार की होती है, एक जन्म से जैसे बेटे-पोते आदि, दूसरे शिक्षा और उपदेश से। इन दोनों प्रकार की सन्तानों में से कोई उत्तराधिकारी बना ही रहता है, चाहे उसके शिष्य संसार में शिक्षा दे रहे हों, चाहे, उसकी सन्तान कुलवृद्धि कर रही हो अर्थात् नाम को स्थिर रखने के लिये श्रम करने में उनको चाहिये कि विद्वान् बनकर जीवन व्यतीत करें। आज गौतम जीवित है, क्योंकि करोड़ों न्याय के जानने और माननेवाले उसकी संतान हैं, कणाद जीवित हैं, कपिल और पतञ्जलि जीवित हैं, जैमिनि और व्यास नहीं मरे, क्योंकि उनके काम और नाम दोनों शेष हैं, अतः वह अमर हैं।

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वंचैव पञ्चधा। अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायाऽमृतमश्नुते, विज्ञायाऽमृतमश्नुते इति ॥ १२ । ४१ ॥

पदार्थ—(उत्पत्ति) परमात्मा के द्वारा प्राण की उत्पत्ति। (आयंतिम्) शरीर में आने को। (स्थानम्) प्राणों के रहने के जो स्थान बताये हैं उनको। (विभुत्वम्) सामान्य प्राण के सर्व व्यापक होने को। (च एव) और भी। (पञ्चधा) शरीर के भीतर पाँच प्रकार के विभाग को अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान को। (अध्यात्मम्) शरीर के भीतर प्राणों के काम को। (च एव) और भी व्याख्या को। (विज्ञाय) ठीक-ठीक जानकर। (अमृतम्) मोक्ष को। (अश्नुते) भोग करता है अर्थात् दुखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त करता है। दो बार प्रश्न की समाप्ति का लिखा है।

भावार्थ—अन्त में पिप्पलाद ऋषि इस फल को बताते हैं, जो इस प्राण-विद्या को इस प्रकार जानता है कि प्रथम प्राण कहाँ से उत्पन्न होते हैं अर्थात् प्राणों की उत्पत्ति-कारण परमात्मा है, परमात्मा के अतिरिक्त और कोई शक्ति प्राणों को उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि औरों को स्वयं प्राणों की आवश्यकता है। यद्यपि चैतन्य जीवात्मा में काम करने की शक्ति है, परन्तु वह प्राणों के द्वारा इन्द्रियों को हरकत देकर ही काम कर सकती है। दूसरे, प्राण इस शरीर में क्यों कर आता है, अर्थात् कर्म-फल की या वासना की डोर से बँधा हुआ। जिससे पता लगता है कि यह शरीर एक प्रकार का फल है, इसमें कर्मों का फल भोगने को ही जीव आता है। जिस प्रकार अपराधी मनुष्यों को कारागार की रक्षार्थ प्रबन्ध की कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु उनको कारागार से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि हम इस बात को ठीक-ठीक समझ जावें, तो संसार में से किसी दशा में दुःख और असफलता न हो और प्राणों का स्थान अर्थात् शरीर के किस भाग में कौनसा प्राण रहता है तीसरे यह

अन्तर कि एक तो सामान्य प्राण हैं, जो संसार में व्यापक हैं, जिनसे परमात्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के नियम चलाता है। दूसरे विशेष प्राण जो इस शरीर स्थान पर स्थित हैं और उन प्राणों का भाग जो पांच प्रकार से किया गया है, और उनके पृथक्-पृथक् काम हैं। तात्पर्य यह कि प्राण शरीर के भीतर तो जीव के विशेष प्राण द्वारा काम करते हैं और बाहर सर्वव्यापक परमात्मा के दिए हुए सामान्य प्राण ज्ञान-गति से काम करते हैं अर्थात् सामान्य प्राण के द्वारा निर्जीव पदार्थों में षट् विकार उत्पन्न होते हैं और जीव अर्थात् चैतन्य सृष्टि के भीतर विशेष प्राण से तीन प्रकार के प्राण (क्रिया) अर्थात् करना, न करना, उलटा करना है। चैतन्य और जड़-सृष्टि का भेद जानने का अर्थ प्राण-विद्या अर्थात् सामान्य और विशेष प्राणों की विद्या जानना अत्यावश्यक है और जो इन भेदों को ठीक प्रकार जान जाते हैं वह मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। प्राण-विद्या को ठीक जानने से परमात्मा का ज्ञान हो सकता है।

इति तृतीय प्रश्नः समाप्तः।

—*—

अथ चतुर्थ प्रश्न

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ। भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति, कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति कस्यैतत् सुख भवति कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥१४२॥

पदार्थ—(अथ) कौशल्य के प्रश्न का उत्तर सुनने के पश्चात्। (एनं) उस पिप्पलाद ऋषि को (ह) प्रथम कथा को चलाने के लिये। (एनं) उस पिप्पलाद ऋषि को

(सौर्यायणी) सूर्य के पोते का लड़का। (गार्ग्य:) गर्ग गोत्र में उत्पन्न हुआ। (पप्रच्छ:) पूछा। (भगवान्) हे गुरु महाराज। (एतस्मिन् पुरुषे) इस शरीर के भीतर सोते अर्थात् प्राणेन्द्रिय और मनादि में। (कानि) कौन। (स्वपन्ति) सोते हैं। (कानि) कौन। (अस्मिन्) इस शरीर के भीतर वाले प्राणेन्द्रियों में। (जाग्रति) जागता है। (कुत्र) कहाँ। (एष) यह। (देव:) देवता। (स्वप्नान्) स्वप्न को। (पश्यति) देखता है। (कस्य) किसको। (एतत्) यह। (सुख) सुख। (भवति, होता है.। (कस्मिन्) किसमें। (नु) और (सर्वे) सब। (सम्प्रतिष्ठिता) ठीक प्रकार स्थित। (भवन्ति) होते हैं। (इति) यह प्रश्न है।

भावार्थ—जब पिप्पलाद ऋषि कौशल्य का उत्तर दे चुके, तब सूर्य नामी ऋषि के पोते की लड़की ने जो गर्ग गोत्र में उत्पन्न हुई थी यह प्रश्न किया—हे महाराज! इस शरीर के भीतर जो प्राणेन्द्रिय मन इत्यादि हैं, कौन सोता है, कौन जागता है और कौन स्वप्न को देखता है, कौन इसमें सुख भोगता है और किसमें सब ठीक प्रकार ठहरते हैं, अर्थात् पाँच प्रश्न किये। प्रथम इस शरीर में कौन सोता है, द्वितीय कौन जागता है, तृतीय स्वप्न कौन देखता है, चतुर्थ कौन सुख भोगता है, पचम किसमें यह सब इन्द्रियाँ मन इत्यादि ठीक-ठीक स्थित होते हैं।

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डलएकीभवन्ति। ता:पुन:पुनरुद्रयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवन्ति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते, न स्पृशते नाभिवदते

नाऽऽदत्ते नाऽऽनन्दयते, न विसृजते न नेयायते स्वपिती-त्याचक्षते ।।२ ।४३।।

पदार्थ— तस्मै) उस गार्गी को । (सः) वह पिप्पलाद ऋषि। (ह उवाच) यह कहने लगे । (यथा) जैसे । (गार्ग्य) हे गार्गी (मरीचय) सूर्य की किरणें । (अर्कस्य) सूर्य के । (अस्तंगच्छतः) छुप जाने पर । (सर्वाः) सब । (एतस्मिन्) उस । (तेजो मंडले) तेज के भन्डार सूर्य में । (एकी) एकत्रित । (भवन्ति) होती हैं । (ताः) वह किरणें । (पुनःपुनः) बार बार । (उदयतः) सूर्य के उदय होने के साथ ही । (प्रचरन्ति) फैलती हैं । (एवम्) इस प्रकार । (ह वै) निश्चय करके । (तत्) वह । (सर्वम्) सब इन्द्रियां । (परे) अपने से सूक्ष्म (देवाः) देवता । (मनसि) मन में । (एकी) एकत्रित । (भवन्ति) होती हैं । (तेन) इस कारण से । (तर्हि) उस समय । (एषः) यह । (पुरुषः) जीवात्मा । (न) नहीं । (अभिवदते) बातचीत करता । (नादत्ते) न ग्रहण करता है । (न आन-न्दयते) न आनन्द को प्राप्त होता है । (न विसृजते) न छोड़ता है । (न) नहीं । (इयायते) पांव से चलता है । (स्वपति) सोता है । (इति) इस दशा में । (आचक्षते) कहते हैं ।

भावार्थ—सौर्यायणी के प्रश्न के उत्तर में पिप्पलाद ऋिषि ने कहा—हे गार्ग्य ज़िस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य के अस्त होने के समय इसी तेज के भण्डार में एकत्रित हो जाती हैं, सूर्य के उदय होने पर फैल जाती हैं इसी प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियाँ विषयों के प्रकाश के करने वाले ज्ञान के कारण मन में एकत्रित हो जाती हैं । इसी कारण से इस समय यह मनुष्य न तो किसी बाह्य शब्द को सुनता है, न बाह्यरूप को देखता है, न बाहरी गन्ध को सूंघता है, न रसना इन्द्रिय से किसी वस्तु का रस लेता है, न किसी वस्तु को स्पर्श करता है, न वाणी से कुछ

कहता है, न विषय-भोग करता है, न शौच जाता, न हाथ से पकड़ता और न पांव से चलता है। उस दशा को देखनेवाले मनुष्य कहते हैं कि यह सो रहा है।

प्रश्न—क्या इन्द्रियों का प्रकाशक मन है या मन की प्रकाशक इन्द्रियाँ हैं, क्योंकि विषय बाहर से मन पर जाते हैं। यदि नेत्र बन्द हों, तो रूप का ज्ञान मन को नहीं हो सकता।

उत्तर—यदि मन का सम्बन्ध न हो तो नेत्र प्रकाश की दशा में भी नहीं देख सकते। जैसा कि प्रायः देखा जाता है कि चित्त के साथ सम्बन्ध न होने से जब पूछते हैं—देखा ? तो उत्तर मिलता है कि मेरा चित्त इस ओर नहीं था, क्योंकि इन्द्रियों में जो ज्ञान की शक्ति आती है, वह भीतर रहनेवाले आत्मा से आती है और इन्द्रियाँ बिना मन के सम्बन्ध से आत्मा से सम्बन्ध नहीं कर सकतीं। अतः इन्द्रियों का प्रकाशक मन है, मन की प्रकाश करने वाली इन्द्रियाँ नहीं। बाहर तो जानने योग्य वस्तु हैं, जानने वाली शक्ति बाहर नहीं। वस्तुओं के भीतर मालूम होने का स्वभाव है और मालूम करने का स्वभाव आत्मा में हैं। अतएव प्रकाशक मन है, इन्द्रियाँ नहीं।

प्रश्न—निद्रा किस प्रकार आती है ?

उत्तर—जब मन और इन्द्रियों के मध्य तमोगुण का आवरण आ जाता है, तब बाहर के विषयों का प्रतिबिम्ब मन पर नहीं पड़ता, जिससे मन को किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता।

प्रश्न—क्या सोने की दशा में जीव बाहर के ज्ञान से शून्य होता है, अथवा नितान्त ज्ञान का अभाव हो जाता है।

उत्तर—ज्ञान जीव का स्वाभाविक धर्म है, इस कारण उसका अभाव तो हो ही नहीं सकता। केवल नैमित्तिक ज्ञान

जो मन और इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता है, मन और इन्द्रियों के सम्बन्ध न रहने से उत्पन्न नहीं होता। इस कारण इसका अभाव होता है।

प्रश्न—योगदर्शन में तो लिखा है कि ज्ञान का अभाव जिस वृत्ति का आशय है, वृत्ति अभाव है।

उत्तर—यहाँ भी बाह्यज्ञान अर्थात् नैमित्तिक ज्ञान के अभाव से ही तात्पर्य है।

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥ ३ । ४४ ॥

शब्दार्थ—(प्राणाग्नयः) जीवन प्रकाशक प्राण। (एव) है। (एतस्मिन्) इस नव द्वार वाले। (पुरे) नगर में अर्थात् शरीर में। (जाग्रति) जागते हैं। (गार्हपत्या) विवाहिता स्त्री का स्वामी जिस अग्निहोत्र की अग्नि को स्थिर करता है। (ह) निश्चय। (वा) यह। (अपानः) अपान वायु। (व्यानः) व्यान वायु। (अन्वाहार्य पवनः) दक्षिणाग्नि जो शरीर के भोजन को पचाती है। (यत्) जो (गार्हपत्यात्) जो गृहस्थाश्रम में स्थित अग्नि है। (प्रणीयते) सम्बन्ध रखता है। (प्रणयनाद्) सम्बन्ध से या कारण से। (आहवनीः) ब्रह्मचर्याश्रम की अग्नि जिसको अग्निहोत्र के लिए ब्रह्मचारी स्थित करता है (प्राणः) प्राणवायु है।

भावार्थ— जब सम्पूर्ण बाह्य-इन्द्रियां सो जाती हैं, तो शरीर की रक्षार्थ प्राण-अग्नि जो शरीर की रक्षा का काम देती है, जागती है। जैसे जब प्रजा सो जाती है, तो उनके धन के रक्षार्थ राजा रक्षक नियत करता है, वह रात्रि भर जागते हुए प्रजा के धन और जीवन की रक्षा करते हैं। इसी प्रकार स्वप्ना-

वस्था में प्राण शरीर तथा इन्द्रियों की रक्षा करता है, इस हेतु घर का रक्षक प्राण है। जो गृहस्थाश्रम में सन्तान आदि की उत्पत्ति से सुख होता है, वह अपान वायु के द्वारा होता है और जो प्रकृति के सुखों से बढ़कर ईश्वर की उपासना, ध्यान, समाधि आदि वह सारे शरीर में व्यापक व्यान के द्वारा होते हैं। अतः ब्रह्मचर्याश्रम, ऋग्वेद श्रवण, जाग्रत अवस्था, ज्ञानकाण्ड, प्राण-वायु, वानप्रस्थाश्रम व यजुर्वेद में स्वप्नावस्था, कर्मकाण्ड, अपान वायु, वानप्रस्थाश्रम, सामवेद, निदिध्यासन, सुषुप्ति अवस्था, उपासनाकाण्ड, व्यान वायु। तीनों आश्रमों की अग्नि का नाम आहवनीय गार्हपत्य और अन्वाहार्य है।

प्रश्न— जब इन्द्रियां और मन सो गये, तो प्राण किस प्रकार शरीर की रक्षा करता है ?

उत्तर—जब तक शरीर में प्राण रहते हैं, तब तक प्रत्येक जीव इसको जीवित जानकर इससे डरता है। यदि प्राण न रहें तो मृतक जान करके उसको नाश करने वाले जीव समाप्त कर देते हैं। प्राण की विद्यमानता जीवन के विचार से शरीर की रक्षा करती है।

प्रश्न—स्वप्नावस्था में समान और उदानवायु क्या करते हैं ?

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयति स समानः। मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥४।४५॥

शब्दार्थ— [यत्] जो। [उच्छ्वासनिश्वासो] श्वास का बाहर से भीतर जाना और भीतर से बाहर आना है। [आहुति] जो एक बार अग्निहोत्र में सामग्री डाली जाती है, उसे आहुति कहते हैं। [समम्] समान। [नयति] करती है। [इति] इससे। [स]

वह नाभि में रहने वाला प्राण। [समानः] समान कहलाता है। [मनः] मनन शक्ति वाला जीवात्मा या मनकरण। [हवाव] और। [यजमानः] इस ज्ञान यज्ञ को करने वाला। [इष्ट फलम्] जिस फल की इच्छा से यज्ञ किया जाता है, जो स्वार्थ से किसी काम को आरम्भ किया जावे। [गमयति] प्राप्त करता।

भावार्थ—नाभि से जो वायु ऊपर और नीचे को आती है, जिसके समान ही रहने से मनुष्य जीवित रहता है और जिसकी अवस्था में अन्तर आ जाने से, मौत आने का अनुमान होता है, वह समान वायु है। मनन करने की शक्ति से जो मन रूपी करण से काम लेने वाला जीवात्मा है, वह यज्ञ करने वाला यजमान कहलाता है। जिस आशय से यज्ञ किया जाता है, वह उदानवायु है। वह उदान प्रतिदिन इस जीवात्मा को ब्रह्म के पास ले जाता है अर्थात् जिसे सुषुप्ति कहते हैं।

प्रश्न—मन का अर्थ तो मनकरण है, जिससे कर्म इन्द्रियों और ज्ञान इन्द्रियों के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध होता है, तुमने इसका अर्थ जोवात्मा किस प्रकार किया।

उत्तर—मन दो हैं, एक मन करण दूसरे मन-शक्ति। इसी कारण शास्त्रों ने मन को नित्य और अनित्य बताया है। जिस शास्त्र ने मन शक्ति का विचार किया है, उसने मन को नित्य माना है जैसे कि वैशेषिक दर्शन और जिस शास्त्र में मन-करण साधनेन्द्रिय का विचार किया है, उसने मन को अनित्य बताया है जैसा कि सांख्यदर्शन और छान्दोग्योपनिषद इत्यादि।

प्रश्न—वैशेषिक दर्शन ने तो मन को द्रव्य बताया है। तुम मन-शक्ति कहते हो, द्रव्यकरण तो हो सकता है, शक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि शक्ति द्रव्य के आश्रय रहती है।

उत्तर— वैशेषिक का तात्पय तन से, मन-शक्ति वाला जीवात्मा ही प्रयोजन है। यदि जीव में मन-शक्ति न तो हो वह मनकरण से किस प्रकार काम ले सकता है।

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति । यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतंश्रुतमेवार्थमनुश्रृणोतिदेशदिगंतरैश्च प्रत्युनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवतिदृष्टंचादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्चसर्वं पश्यति, सर्वः पश्यति ॥ ५ । ४६ ॥

पदार्थ—[अत्र] यहाँ। [एषः] यह। [देवः] प्रकाशक जीवात्मा। [स्वप्ने] स्वप्न में। [महिमानम्] अपनी महिमा को। [अनुभवति] अनुभव करता है, जानता है। [यत्] जो। [दृष्टं दृष्टं] देखा हुआ है और इसको देखता हुआ। [अनुपश्यति] मालूम करता है अर्थात् मित्र, शत्रु स्त्री, पुत्र इत्यादि को प्रत्यक्ष की भाँति मालूम करता है। [श्रुतं] सुनते हुए। [श्रुतं] सुनते हुए। [एव] ही। [अर्थम्] अर्थ को एक बार जिसको देखा या सुना है, बार-बार। [अनुश्रृणोति] फिर सुनता है। [देश दिगन्तरैश्च] दूसरे देश और दूसरे दिशा की वस्तुओं को। [प्रत्यनुभुतं] अनुभव किये हुए को। [पुनः पुनः] बार-बार। [प्रत्यनुभवति] अनुभव करता है अर्थात् जानता है। [दृष्टंचादृष्टं] चाहे इस कारण देखने योग्य हो या न हो। [श्रुताँचाश्रुतंच] चाहे इस जन्म में सुना हो, चाहे इस जन्म में न सुना हो। [अनुभूतं चाननुभूतं] चाहे इस जन्म में उसका अनुभव किया हो अथवा न किया हो। [सच्चासच्च] चाहे वह सत् हो या न हो। [सर्वः]सबको। [पश्यति] देखता है। [सर्वं] सब तरह की वस्तुओं को। [पश्यति] देखता है।

भावार्थ— इस प्रश्न के उत्तर में कि कौन देवता स्वप्न को देखता है—कहते हैं कि उपरोक्त देवता अर्थात् जीवात्मा स्वप्नावस्था में अपनी महिमा को देखता है। जो कुछ पूर्व देखा है चाहे वह इस दशा में विद्यमान् न हो, परन्तु उसका प्रतिबिम्ब मन पर होने से उसको देखता है। जो कुछ सुना है, चाहे इस समय वह शब्द विद्यमान् न हो, परन्तु उसका बिम्ब मन पर होने से वह सुनता है। चाहे कोई देश अथवा दिशा हो, इनका प्रभाव मन पर आ जाने से इनका नितान्त स्पष्ट ज्ञान होता है। जिस वस्तु को एक बार देख चुका है, उस वस्तु को स्वप्न में बार-बार देखता है। जो पदार्थ देखे हुए हैं, चाहे इस जन्म में न भी देखे हों, जो पदार्थ सुने हुए हैं, चाहे इस जन्म में न भी सुने हों, जिन वस्तुओं का अनुभव किया हो, चाहे इस जन्म में न भी अनुभव किया हो, चाहे इनकी सत्ता इस समय जगत् में विद्यमान् न हो अर्थात् अभाव हो, सबको देखता है।

प्रश्न—श्रुति में तो लिखा है कि जो वस्तु देखी हो या न देखी हो, सुनी हो या न सुनी हो, अनुभव की हो या न की हो, जो सत् हो या न हो, सबको देखता है। तुमने इस जन्म का न देखना सुनना, कहाँ से लिया है ?

उत्तर—प्रथम तो इस श्रुति के पहले शब्द ही विदित करते हैं कि देखा है फिर इसको देखता है और जिसको सुना है फिर इसको सुनता है, दूसरे, जिस वस्तु की सत्ता संसार में विद्यमान् न हो, उसकी आकृति हो नहीं सकती, जिसकी आकृति नहीं, उसके संस्कार भीतर जा नहीं सकते, जिसके संस्कार भीतर विद्यमान् न हों उनको किस प्रकार देख सकता है। मूल बात यह है कि जाग्रत अवस्था में इस शरीर के केमरा के द्वारा

जिन वस्तुओं के प्रतिबिम्ब उतारे नहीं, उनका स्वप्नावस्था में देखना असम्भव है। जो आकृति उतारी ही नहीं गई उसको किस प्रकार देख सकते हैं, जबकि बिना देखे-सुने और अनुभव किये हुए स्वप्न में देखना-सुनना और अनुभव करना असम्भव है। अतः सम्भव होने के लक्षण से यह अर्थ करना पड़ता है, जिसको इस जन्म में देखा-सुना और अनुभव किया हो।

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति। अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिन् शरीरे एतत्सुखं भवति ॥ ६ । ४७ ॥

पदार्थ—(सः) वह। (यदा) जब या जिस दशा में। [तेजसा] प्रकाश से। [अभिभूतः] दिया हुआ। (भवति 'होता है। [अत्र] इस दशा में। (एष देवः) यह जीवात्मा। (स्वप्नान्) स्वप्न को। (न) नहीं। (पश्यति) देखता है। (अथ) परमात्मा के प्रकाश से दब जाने के पश्चात्। (तत्) वह जीवात्मा। (अस्मिन् शरीरे) इस शरीर। (एतत्) यह सुषुप्ति अवस्था। (सुखम्) सुख। (भवति) होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार इस जीवात्मा का ज्ञान परमात्मा के प्रकाश से दब जाता है, जिस प्रकार नेत्र का प्रकाश सूर्य के सम्मुख प्रकाश से दब जाता है (उस समय चुँध्या जाते हैं और कुछ देख नहीं सकते) ऐसे हो स्वप्न को अवस्था में यह जीवात्मा परमात्मा के प्रकाश से दबा हुआ ज्ञान शून्य सा मालूम होता है। इस समय यह किसी स्वप्न को नहीं देखता और प्रकाश से दब कर बाह्य-ज्ञान के रुक जाने के पश्चात् यह जीवात्मा शरीर के भीतर ही परमात्मा के सुख को देखता है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा को भीतर से ही सुख मालूम होता है।

प्रश्न—जब जीवात्मा का ज्ञान परमात्मा के तेज से दब

गया, तो उस समय ज्ञान के न होने से सुख किस प्रकार हो सकता है, क्योंकि सुख भी एक प्रकार का ज्ञान है, आत्मा के अनुकूल जानने का नाम सुख है।

उत्तर—जीव के भीतर ब्रह्म और बाहर प्रकृति और ब्रह्म दोनों हैं। जब जीवात्मा बाहर की ओर देखता है, तभी प्रकृति के सङ्ग से दुःख और परमात्मा के कारण सुख होता है, परन्तु जब भीतर की ओर देखता, तो पहले परमात्मा के प्रकाश से ज्ञान दब जाता है और पुनः परमात्मा के स्वरूप से सुख मिलने लगता है। जैसे जब कभी अंधेरे मकान से एकदम सूर्य के सम्मुख आ जाते हैं, तो अंधेरा आँखों के सामने आ जाता है, थोड़ी देर के पश्चात् पदार्थ फिर दृष्टि पड़ने लगते हैं।

स यथा सौम्य वयांसि वासोवृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते।
एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥७।४८॥

पदार्थ—[सः] वह ऋषि पिप्पलाद कहने लगा। [यथा] जैसे। [सौम्य] हे चन्द्र समान शान्तस्वरूप। [वयांसि] पक्षी, [वासः] वास स्थान। [वृक्षं] वृक्ष को। [सम्प्रतिष्ठन्ते] तिष्ठित होते हैं। [एवं] इसी प्रकार। [हवै] और। [तत्सर्वं] वह सब अर्थात् मन और इन्द्रियाँ इत्यादि। [परमात्मनि] सम्पूर्ण जगत् के के आधार परमात्मा में। (सम्प्रतिष्ठते) स्थिर हो जाते हैं।

भावार्थ—पिप्पलाद ऋषि ने कहा—हे प्रिय शिष्य! जिस प्रकार सायंकाल के समय सम्पूर्ण पक्षी जहाँ-तहाँ चुगकर अपने रहने के स्थान वृक्ष पर एकत्रित हो जाते हैं, इसी प्रकार यह सम्पूर्ण इन्द्रियाँ जाग्रत और स्वप्न अवस्था में तो अपने-अपने विषय में लगी रहती हैं, परन्तु सोने के समय सब अपने-अपने

विषयों को त्याग कर अपने मुख्य स्थान अर्थात् परमात्मा के आश्रय स्थित हो जाती है।

प्रश्न— सोने की दशा में इन्द्रियाँ परमात्मा के आश्रय स्थित हो जाती हैं या इन्द्रियों और मन के मध्य तमोगुण का परदा आ जाता है ?

उत्तर—मूर्छा और सुषुप्ति में यही अन्तर है कि सुषुप्ति में तो इन्द्रियाँ जिस प्रकाश के आधार चल सकती हैं, वह प्रकाश परमात्मा के तेज से दब जाता है, इस समय जीव को किसी दूसरी वस्तु की सुधि ही नहीं रहती। परन्तु सुषुप्ति की अवस्था में जीव का सम्बन्ध कारण शरीर से होता है और कारण शरीर में सत, रज, तम की दशा समान होती है, इस समय कोई गुण किसी दूसरे को दबा नहीं सकता।

प्रश्न—यदि सुषुप्ति अवस्था में जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होता है जिससे ब्रह्म के तेज से जीव का ज्ञान दब जाता है, तो समाधि की क्या जरूरत है ?

उत्तर—समाधि और सुषुप्ति में ब्रह्म का सम्बन्ध जीव के साथ होता है। अन्तर केवल इतना है कि सुषुप्ति में ब्रह्म का आनन्द साक्षात् नहीं होता, क्योंकि इस समय जीव की बुद्धि ब्रह्म-दर्शन के योग्य नहीं होती, जैसे एकदम से अँधेरे से प्रकाश में आने से आँखें चकाचौंध हो जाती हैं। परन्तु समाधि अवस्था में नित्य के अभ्यास से जीव ब्रह्म-दर्शन के योग्य हो जाता है।

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चाऽऽपश्चाऽऽपोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्राचाऽऽकाशश्चा काशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यञ्च श्रोत्रञ्च श्रोतव्यं च घ्राणं

च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यञ्च त्वक् च स्पर्शयितव्यञ्च वाक् च वक्तव्यञ्च हस्तौचाऽऽदातव्यं चोपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यंच पायुश्च विसर्जयितव्यंच पादौ च गन्तव्यंच मनश्च मन्तव्यंच बुद्धिश्च बोद्धव्यंचाहंकारश्चाहंकर्त्तव्यम् च चित्तंच चेतयितव्यंच तेजश्च विद्योतयितव्यंच प्राणश्चविधारयितव्यंच ॥८।४६॥

पदार्थ — (पृथिवी) भूमि । (च) और । (पृथिवी मात्रा) सूक्ष्म मूल अर्थात् गन्ध । (च) और । (आपः) पानी । (च) और । (आपोमात्रा) जल की सूक्ष्म अवस्था अथवा रस । (तेजः) अग्नि । (च) और । (तेजोमात्रा) अग्नि की सूक्ष्म अवस्था अथवा रूह् । (वायु) वायु । (वायुमात्रा) वायु की सूक्ष्म अवस्था अर्थात् स्पर्श । (आकाशः) आकाश जिसका गुण शब्द है अथवा जिसमें निकलना, प्रवेश करना सम्भव हो । (चक्षुः) नेत्र । (द्रष्टव्यं) देखने योग्य वस्तु । (च) और । (श्रोत्रं) कान, जिससे शब्द सुनते हैं । (च) और । (श्रोतव्यं) सुनने योग्य शब्द । (च) और । (घ्राणं) नाक जिससे सूंघते हैं । (च) और । (घ्रातव्यम्) सूंघने योग्य सुगन्ध दुर्गन्ध । (च) और । (रस) स्वाद । (च) और । (रसयितव्यम्) स्वादिष्ट वस्तु । (च) और । (त्वक्) त्वचा । (च) और । (स्पर्शयितव्यम्) स्पर्श योग्य वस्तु । (च) और । (वाक्) वाणी । (च) और । (वक्तव्यम्) भाषण योग्य शब्द । (हस्तौ) दोनों हाथ । (च) और । (आदातव्यम्) पकड़ने योग्य वस्तु । (च) और । (उपस्थ) उपस्थेन्द्रिय । (च) और । (आनन्दयितव्यम्) इस इन्द्रिय से जिस सांसारिक सुख का अनुभव करें वह । (पायुः) गुदा । (च) और । (विसर्जयितव्यम्) त्यागने योग्य

वस्तु अर्थात् मल-मूत्र । (च) और । (पादौ) दोनों पांव । (च) और । (गन्तव्यम्) मार्ग चलने योग्य वस्तु । (मनः) मन जो ज्ञान और कर्म और इन्द्रियों को सहायता देता है । (च) और । (मन्तव्यम्) मनन करने या जानने योग्य वस्तु । (च) और (बुद्धि) ज्ञान । (च) और । (बोद्धव्यम्) जानने योग्य वस्तु । (च) और । (अहङ्कार) अहङ्कार । (च) और । (अहङ्कर्त्तव्यम्) जिन वस्तुओं में अहङ्कार किया जावे, वे । वे(च) और । (चित्तम्) चैतन्य करने वाला अन्तःकरण (च) और । (चेतयितव्यं) जिन वस्तुओं को चैतन्य अर्थात् विचार किया जावे । (च) और । (तेजः) प्रकाश । (च) और । (विद्योतयितव्यम्) जो वस्तु प्रकाश से प्रकट होने योग्य हो । (च) और । (प्राणः) धारण करने वाली । (विधारयितव्यम्) जिन वस्तुओं को पदार्थ धारण करते हैं ।

भावार्थ —पाँच स्थूल भूत अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि और इनके सूक्ष्म भूत या गुण, गन्ध, रस, रूप, शब्द स्पर्श इत्यादि । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थात् नाक, रसना, नेत्र, त्वचा, श्रोत्र और इनके विषय अर्थात् सूँघने योग्य वस्तु, स्वादिष्ट वस्तु रूपवाले पदार्थ, स्पर्श करने योग्य वस्तु, और शब्द । पाँच कर्मेन्द्रियाँ वाणी, हाथ, पाँव, गुदा, उपस्थेन्द्रिय और उनके विषय पकड़ना, चलना, बोलना आदि । चारों अन्तःकरण अर्थात् मन जिससे किसी वस्तु के दोनों पक्ष लेकर विचार किया जाता है, बुद्धि जिसको ज्ञान कहते हैं—अहङ्कार और चित्त अर्थात् चैतन्य करने वाला अन्तःकरण और इनके विषय । प्रकाश और जिसको वह प्रकाश करे । प्राण अर्थात् शरीर को उठाकर ले चलने वाली या स्थित रखने वाली वायु अर्थात् जिसको स्वाँस भी कहते हैं और जिसको वह प्राण स्थित रखते हैं, ये सब इस तेज से छिप जाती हैं ।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयितामन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। सपरेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ६ । ५० ।

शब्दार्थ—(एषः) यह। (हि) निश्चय करके। (द्रष्टा) देखने वाला। (स्प्रष्टा) स्पर्श करने वाला। (श्रोता) सुनने वाला। (घ्राता) सूँघने वाला। (रसयिता) रस को जानने वाला। (मन्ता) विचार करने वाला। (बोद्धा) जानने वाला। (कर्त्ता) कर्म करने वाला। (विज्ञानात्मा) जीवात्मा। (पुरुषः) जो इस शरीर के भीतर रहता है। (सः) वह जीवात्मा। (परे) उससे सूक्ष्म सर्व व्यापक। (अक्षरे) नाश रहित। (आत्मनि) जो प्रत्येक वस्तु के भीतर विद्यमान् है उसमें। (सम्प्रतिष्ठते) स्थित हो जाता है।

भावार्थ—सुषुप्ति की दशा में यह जीवात्मा जो जागते हुए नेत्रों से देखता, कानों से सुनता, नाक से सूँघता, जिह्वा से रस लेता, त्वचा से छूता, मन से विचार करता, बुद्धि से जानता और जो कर्म करने में स्वतन्त्रकर्त्ता कहलाता है, जो नैमित्तिक ज्ञान को प्राप्त करने वाला है, क्योंकि न तो इन्द्रियों आदि को ज्ञान होता है, क्योंकि वह ज्ञान प्राप्त करने के कारण (यन्त्र) हैं और न परमात्मा को नैमित्तिक ज्ञान हो सकता है, क्योंकि वह पूर्व ही सर्वज्ञ है, उसके ज्ञान के बाहर कोई सत्ता नहीं, जिसको वह नैमित्तिक ज्ञान से जाने और वह जीवात्मा इस कारण से सूक्ष्म ब्रह्म के आश्रय स्थित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जीव के भीतर ब्रह्म और बाहर इन्द्रियों से देखता है और बुद्धि इन्द्रियों की स्वाभाविक शक्ति द्वारा अनुभव करता है। जब बाहर की ओर कर्म करने वाली इन्द्रियाँ रुक जाती हैं, तब जीवात्मा की बुद्धि भीतर की ओर कर्म करने लगती है। उस समय जीवात्मा बाह्य-ज्ञान से नितान्त शून्य हो जाता है। बाहर

बहुत वस्तुओं के होने से जीव का ज्ञान फैल जाता है; क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय मन को अपने विषय की ओर ले जाती है और मन बड़े वेग से इन्द्रियों के विषयों का जीवात्मा को बोध कराता है जिससे आत्मा की वृत्ति बड़े वेग से चलती है। बाहर जीवात्मा किसी वस्तु में स्थित नहीं हो सकता, जब मन थक जाता है, तो परमात्मा के नियमानुकूल जीव भीतर की ओर काम करने लगता है जिससे उसको आनन्द मालूम होता है। उस समय किसी इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध न होने से मन का काम रुका रहता है। इस कारण जब तक जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध रहता है, तब तक ही जीव स्थित रहता है, तब ही जीव को आनन्द मिलता है और जिस समय मन की थकावट ब्रह्म के आनन्द से दूर हो जाती है, तब मन फिर कर्म करने लगता है और मन के काम के साथ ही जीव की बुद्धि बाहर आ जाती है, जिससे वह दुःख को सुख अनुभव करता है। अतः जीव को आनन्द मिलने का कारण केवल ब्रह्म ही है।

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो हवै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः ॥ १० । ५१ ।

शब्दार्थ—(परम) सब से सूक्ष्म महान्। (एव) है। (अक्षरम्) नाशरहित। (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है, जान जाता है। (सः) वह। (यः) जो। (अच्छायम्) छाया रहित अर्थात् जिसकी कहीं छाया हो ही नहीं सकती क्योंकि जहाँ वह स्वयम् न हो वहाँ उसकी छाया हो। (अशरीरम्) जिसका शरीर नहीं, क्योंकि जिसका शरीर होगा वह नित्य नहींहो सकता। (अलोहितम्) जिसका रंग नहीं अर्थात् जिसमें रक्तादि का सम्बन्ध नहीं। (शुभ्रम्) जो शुद्ध। (अक्षरम्) नाश रहित को। (वेदयते) जान लेता है। (यस्तु) जो विषयों के वैराग्यवाला ज्ञानी हो (सौम्य)

अपने प्रिय पुत्र। (सः) वह मनुष्य। (सर्वज्ञः) सब का ज्ञाता। (सर्वः) मनुष्य। (भवति) होता है। (तत्) उसके अर्थ। (एषः) यह। (श्लोकः) प्रमाण है।

भावार्थ—जो ज्ञान से सब वस्तुओं के मूल तत्त्व को जानकर सब सांसारिक विषयों के वैराग्य वाला हो गया है, जिससे इस कारण से सूक्ष्म सर्वत्र विद्यमान् होने से जिसकी छाया नहीं हो सकती और न उसका कोई शरीर है, क्योंकि वह सच्चिदानन्द है। जिसका शरीर है, वह सत् हो ही नहीं सकता, क्योंकि शरीर स्थूल संयुक्त है, जिसको किसी न किसी समय में उत्पन्न होना अवश्य है। और सत् कहते हैं तीन काल में एक सा रहने वाले को। अतः कोई शरीर वाला सत् नहीं कहला सकता। जिसका रंग नहीं, जो शुद्ध है, जो मनुष्य इसको प्राप्त कर लेता है, वह इसके जानने के कारण से सर्वज्ञ कहलाता है, क्योंकि इस नाश रहित को जान लेना सब को जान लेना है।

प्रश्न—क्या ईश्वर को जानने वाला सर्वज्ञ होता है?

उत्तर—सर्वज्ञ के दो अर्थ हैं, एक वह जो प्रत्येक वस्तु को एक ही साथ जान सकता है, दूसरे वह जिसको सब वस्तुओं को जान लेना हो। एक साथ सब वस्तुओं को ईश्वर के अतिरिक्त कोई नहीं जान सकता, क्योंकि मन एक काल में दो वस्तुओं का ज्ञान नहीं रखता, सबको किस प्रकार जान सकता है? अतः जो ईश्वर को जानता है, उसको सर्वज्ञ दूसरे अर्थों में कहा गया। अर्थात् उसने कुल पदार्थों को जान लिया।

प्रश्न—ईश्वर के जानने से कुल पदार्थों का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—ईश्वर का ज्ञान अन्तिम मार्ग है और कोई मनुष्य बिना मध्य मार्ग को पूर्ण किये अन्तिम मार्ग पर नहीं पहुँच सकता। अतः जो ईश्वर का, ज्ञान प्राप्त कर चुका, उसने सब

पदार्थों को जान लिया।

प्रश्न—ईश्वर का ज्ञान अन्तिम मार्ग है, इसका क्या प्रमाण ?

उत्तर—ईश्वर को सबसे सूक्ष्म होने के कारण परम कहा गया है और ईश्वर के जानने को 'परा विद्या' के नाम से कहा गया है। अतः सूक्ष्म वस्तु स्थूल में प्रविष्ट होने की दशा में स्थूल के पश्चात् ही जानी जायेगी। निदान जो सबसे सूक्ष्म और सब में व्यापक है, उसका ज्ञान सबके पश्चात् होना आवश्यक है। संसार में तीन ही वस्तु हैं—प्रकृति, जीव और ब्रह्म। जिस मनुष्य को प्रकृति के स्वरूप का ज्ञान न हो, उसको वैराग्य हो ही नहीं सकता। प्रत्यक्ष में प्रकृति के परिणाम अत्यन्त सुन्दर मालूम होते हैं, परन्तु अन्त बुरा है। अतः वैराग्यवान् प्रकृति के बने हुए पदार्थों की वर्त्तमान अवस्था तथा परिणाम दोनों को भले प्रकार जानता है। यदि इसको प्रकृति में लिप्त होने का विचार होता, तो वैराग्य किस प्रकार हो सकता। जीव के भीतर ब्रह्म है, इसलिये ब्रह्म के ज्ञान से पहिले जीव का ज्ञान भी हो जाता है। अतः जिसने जीव, ब्रह्म और प्रकृति के मूल कारण को जान लिया, उसके सर्वज्ञ होने में क्या सन्देह है।

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र तदक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य ! सः सर्वज्ञः सर्वमेवाऽऽविवेशेति ॥ ११ । ५२ ॥

पदार्थ—(विज्ञानात्मा) नैमित्तिक ज्ञान का केन्द्र जीवात्मा। (सह) साथ। (देवै) बाहर और भीतर के जानने के साधन और जिनको देवता भी कहते हैं। (सर्वैः) सबके। (प्राणः) स्वाँस। (भूतानि) भूत। (सम्प्रतिष्ठन्ति) स्थित होते हैं। (यत्र) जिस ब्रह्म में। (तद्) वह। (अक्षरम्) नाश रहित। (वेदयते) जान गया है। (यस्तु) जो वैराग्य वाला मनुष्य। (सौम्य) हे शान्त–

स्वरूप शिष्य। (सः) वह। (सर्वज्ञः) सर्वज्ञ। (सर्वम्) सबको। (एव) ही। (अविशेष) सब कुछ प्राप्त कर लेता है। (इति) यह।

भावार्थ—जिस ब्रह्म में जीवात्मा सम्पूर्ण देवताओं अर्थात् इन्द्रियों के साथ प्राणों और भूतों के सहित स्थित होता है, जो मनुष्य और सब में प्रवेश करके इनके भीतर वृतान्त को जानता है। इस मन्त्र से मालूम होता है कि सब से उच्च ब्रह्म-विद्या है। जो मनुष्य इस विद्या के विज्ञ होते हैं, वह सर्वज्ञ कहलाते हैं, क्योंकि ज्ञान का सबसे श्रेष्ठ फल इनको प्राप्त होता है। ज्ञान का आशय केवल इन तीन बातों के जानने से प्राप्त होता है। प्रथम मैं क्या हूँ ? द्वितीय, मुझको क्या उपयोगी है ? तृतीय, हानिकारक क्या है ? वा जो मनुष्य अपनी सत्ता को जानता है उसी को लाभ-हानि का ज्ञान होता है। जो सत्ता से अनभिज्ञ है, उसको लाभ हानि का ज्ञान किसी प्रकार हो ही नहीं सकता। यह तो मोटी बात है कि जिस दुकानदार को अपने सामान का ज्ञान न हो, वह किस प्रकार जान सकता है कि लाभ हुआ अथवा हानि ? इसी विचार को लेकर दुकानदार लोग प्रत्येक वर्ष अपनी पूँजी की परीक्षा करते रहते हैं, ताकि अगले वर्ष हानि-लाभ को ठीक समझ सकें। निदान जिस मनुष्य को हानिकारक वस्तु का मूल मालूम है, वह कभी इसकी उपासना को स्वीकार नहीं करता। जब हानिकारक की उपासना न हो, तो दुःख किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि जिसका हानि होना निश्चय हो जावे, उसके पास कोई जा भी नहीं सकता। यह तो सम्भव है, अविद्या से हानिप्रद वस्तु को लाभदायक विचार करके उसकी उपासना की जावे, परन्तु हानिप्रद जानने के पश्चात् तो मूर्ख भी इस ओर ध्यान नहीं करता। जब उपयोगी वस्तु की वास्तविक दशा ज्ञात हो गई, तो उपासना आव-

श्यक हो गयी, जिसका आनन्द मिलना आवश्यक है। जब दुःख से मुक्त होकर आनन्द प्राप्त हो गया, तो त्रुटि किस वस्तु की रही ?

प्रश्न—हम तो देखते हैं कि प्रायः मनुष्य मद्यपान और मांस-भक्षण को बुरा समझते हैं और बहुत से साधु धन की निन्दा करते हैं। बहुत से आर्य-समाजी प्रकृति की उपासना को बुरा जानते हैं, परन्तु कर्म इसके विरुद्ध देखा जाता है, जिससे स्पष्ट विदित है कि हानि योग्य जानकर भी उपासना हो सकती है।

उत्तर—इन मनुष्यों को सन्देहयुक्त ज्ञान होगा, सत्य ज्ञान नहीं। जो मनुष्य मांस-भक्षण को पाप समझते हैं, वह इसको किस प्रकार काम में ला सकते हैं? यदि कोई आर्य समाज का सभासद् प्रकृति को बुरा जान ले, तो फिर वह प्राकृतिक ज्ञान को बढ़ाने में क्यों श्रम करने लगा। प्रकृति के मूल तत्त्व को जाने बिना प्रकृति की उपासना को बुरा बताना किस प्रकार सम्भव है, और जिसने प्रकृति के मूल तत्त्व को जान लिया, तो प्राकृतिक विज्ञान का ज्ञाता हो गया, क्योंकि विज्ञान और सत्ता प्रतिकूल हैं। निदान इस दशा में जो आर्य जन प्राकृतिक विज्ञान को जानना चाहते हैं, वास्तव में वह प्रकृति-विज्ञान से अनभिज्ञ हैं। इसी प्रकार साधु जो धन को बुरा कहते हैं और एकत्रित भी करते हैं, बिना ज्ञान के सुने सुनाये बुरा कहते हैं। जो मनुष्य इन पदार्थों के मूल कारण को जान गये हैं, वह जिसको बुरा बताते हैं, स्वप्न में भी उसकी उपासना नहीं करते।

प्रश्न—ईश्वर को जानने से सर्वज्ञ हो जाना सम्भव नहीं मालूम होता, यह शब्द मिथ्या लिख दिया है ?

उत्तर—ईश्वर जानने से सर्वज्ञ हो जाता है—जब कहा जाता है कि ईश्वर का स्वरूप क्या है ? तो विद्वान् मनुष्य बताते

हैं कि वह सच्चिदानन्दस्वरूप है अर्थात् यह सच्चिदानन्द का शब्द एक.शब्दहै, परन्तु जाननेवाले जानते हैं कि यह शब्द विज्ञान से परिपूर्ण है, क्योंकि यह शब्द सत्, चित्त, आनन्द–इन तीन शब्दों का योग है। जब कहा ईश्वर क्या है, तो उत्तर मिला कि ईश्वर सत् है, परन्तु सत् के अर्थं तीन काल हैं। यदि अकेला ईश्वर ही सत् होता, तो जगत् न बनता, क्योंकि उपादान कारण के गुण विद्यमान् न हों। यह तो सम्भव है कि गुण उपादान कारण में विद्यमान् न हों, वह निमित्त कारण में विद्यमान् हो, क्योंकि निमित्त कारण से भी बहुत से गुण उपादान कारण में आते हैं, परन्तु यह सम्भव नहीं कि उपादान कारण की कोई वस्तु निमित्त कारण में विद्यमान् न हो। निदान चैतन्य ईश्वर के सत् होने की दशा में सम्पूर्ण वस्तु का उपादान कारण ईश्वर ही हो सकता है। जब ईश्वर सम्पूर्णं वस्तु का उपादान कारण हुआ, तो कोई वस्तु जड़ नहीं हो सकती, क्योंकि चैतन्य ईश्वर से बनी हुई वस्तु में ज्ञान का होना आवश्यक है, परन्तु संसार में जड़ वस्तु दृष्टि पड़ती हैं जिससे सम्पूर्ण पदार्थों का उपादान कारण ईश्वर नहीं हो सकता। जड़ अर्थात् ज्ञानरहित वस्तु के उपादान कारण को जड़ मानना पड़ता है, अतः प्रकृति का सत् होना आवश्यक है। जब प्रकृति सत् हुई, तो लक्षण अति व्याप्त हो गया, तो लक्षण करना पड़ा कि ईश्वर सत् चित् है, परन्तु ऐसा मानने से दो प्रकार की वस्तुएं हो जाती हैं। एक आनन्दस्वरूप दूसरे दुःखस्वरूप अर्थात् जड़ में न तो आनन्दस्वरूप दुःख का आना सम्भव है, क्योंकि वह सूक्ष्म है और सूक्ष्म में स्थूल के गुण जा ही नही सकते और न किसी को सुख अनुभव हो सकता है, क्योंकि परमात्मा आनन्दस्वरूप है। इनको

सुख किस प्रकार हो सकता है, प्रकृति में जड़ होने के कारण से सुख अनुभव करने की शक्ति नहीं। अतः किसी प्रकार सुख-दुःख अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि अनुभव करने वाला नहीं। परन्तु सुख-दुःख अनुभव होते हैं, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता। अतः सुख-दुःख अनुभव करने वाला चैतन्य माना जावे, तो उसकी दो ही दशायें हो सकती हैं, या तो सत् या असत्। यदि असत् स्वीकार किया जावे, तो उसके वास्ते निमित्त कारण का होना अत्यावश्यक है, परन्तु हैं दो ही—एक ईश्वर एक प्रकृति। ईश्वर को उसका उपादान कारण माना जावे, तो उसकी प्राकृतिक सत्ता बिना ईश्वर माननी पड़ेगी। इस दशा में प्रकृति स्वतन्त्र और ईश्वर बाध्य होगा, क्योंकि निमित्त कारण उपादान कारण के अधिकार में होता है। यदि ईश्वर उपादान कारण, प्रकृति निमित्त-कारण मानी जावे, तो प्रकृति के पृथक् होने से ईश्वर भी पृथक् होगा। यदि वह पृथक् माना जावे, तो सुख-दुःख का अनुभव करने वाला पृथक् मानना पड़ेगा, जो कि मिश्रित है।

प्रश्न—हम ईश्वर को अभिन्न निमित्त उपादान-कारण मानते हैं?

उत्तर—यह सम्भव नहीं, क्योंकि निमित्त कारण का बाध्य होना और उपादान कारण का स्वतन्त्र होना आवश्यक है क्योंकि वाध्यत्व और स्वतन्त्रता एक दूसरे के प्रतिकूल हैं, वह ईश्वर में नहीं रह सकतीं। द्वितीय निमित्त कारण का संयोग वियोग को स्वीकार करना आवश्यक है जो कि सीमावाली और एक से अधिक वस्तुओं में सम्भव है क्योंकि कर्त्ता निमित्त-कारण को मिलाकर या तोड़कर ही किसी वस्तु को बना सकता है। ईश्वर एक ओर सर्वव्यापक है, न तो वह संयोग को

स्वीकार करता है और न वियोग को। अतः निमित्त कारण हो ही नहीं सकता। तीसरे निमित्त-कारण के प्रभाव को स्वीकार करके उपादान-कारण की दशा को स्वीकार करता है। बस उपादान-कारण और प्रकृति को एक कहना ऐसे दोष से युक्त है जैसे कोई कहे कि वह आदमी अपने कन्धे पर स्वयं चढ़ गया। इस बात को कोई बुद्धिमान् सत्य नहीं मान सकता। ऐसे ही ईश्वर ने अपने ऊपर प्रभाव डालकर जगत् बनाया, कोई बुद्धिमान् यह स्वीकार नहीं कर सकता। अतः तीसरी सत्ता जो कि सत् चित् हो आवश्यक तौर पर माननी पड़ती है। जब सत्य जीव में लक्षण चला गया तो कहना पड़ा—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है। अतः प्रकृति सत्, जीवात्मा सच्चित् और परमात्मा सच्चिदानन्द है। प्रत्येक प्रश्न जो कि धर्म सम्बन्धी हो सकता है, उसका उत्तर इस शब्द में वर्तमान है, जिसको पुस्तक विस्तृत होने के कारण नहीं लिख सकते। जो मनुष्य ईश्वर को जानले, उसने मानों समस्त वस्तुओं के स्वरूप को जान लिया।

इति चतुर्थः प्रश्नः समाप्तः।

—:❀:—

अथ पञ्चम प्रश्न

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद्भगवन्! मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥१५३॥

पदार्थ—(अथ) गार्गी के प्रश्न का उत्तर समाप्त होने के पश्चात्। (एनम्) इस पिप्पलाद ऋषि से। (शैब्यः) शिव के पुत्र।

(सत्यकामः) सत्यकाम ने । (पप्रच्छ) प्रश्न किया । (स यः हवै) वह जिसने यम-नियम के द्वारा अपने को प्रसिद्ध कर लिया कि वह बड़ा तपस्वी है । (भगवन्) हे गुरु महाराज ! (मनुष्येषु) मनुष्यों में से जो मनुष्य । (प्रायणांतम्) जीवन की समाप्ति तक । (ओंकारम्) ओंकार परमात्मा के सर्वोत्तम नाम को । (अभिध्यायीत) चित्त को एकाग्र करके ध्यान करता है । (कतमं) किस लोक को । (वाव) निश्चय से । (सः) वह । (तेन) इस ध्यान के कारण । (लोकम्) लोक को । जयति) अपने वश में कर लेता है । (इति) यह ।

भावार्थ—गार्गी के प्रश्न का उत्तर जब पिप्पलाद ऋषि दे चुके, तो शिव के पुत्र ने, जिसको मनुष्य सत्यकाम कहते थे, जिसने योग के पूर्णतया अभ्यास द्वारा अपने को प्रसिद्ध कर लिया था, ऋषि से प्रश्न किया कि गुरु महाराज ! जो मनुष्य जीवन-पर्यन्त मन और इन्द्रियों को रोककर ओंकार का ध्यान करता है, अथवा जिसको ओंकार कहते हैं, उसमें मन को लगाता है, वह इस कर्म से किस लोक को विजय कर लेता है ?

तस्मै स होवाच । एतद्वै सत्यकाम ! परंचापरं च ब्रह्म यदोंकारः । तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतर-मन्वेति ॥२।५४॥

पदार्थ— (तस्मै) इस सत्यकाम को । (सः) उस पिप्पलाद ऋषि ने । (ह उवाच) स्पष्ट शब्दों में यह उपदेश किया । (एतद्वै) निश्चय यही है । (सत्यकाम) हे सत्यकाम ! (परम्) जो उसकी सबसे श्रेष्ठ मुक्ति के प्राप्त करने के विचार से उपासना करता है । (च) और । (अपरम्) सांसारिक राज्यादि सुखों के स्वार्थ से । उपासना करता है । (च) और । (ब्रह्म) सबसे श्रेष्ठ, महान् (यत्) जो ।

(ओंकारः) ओङ्कार परमेश्वर है । (यस्मात्) इस कर्म को । (विद्वान्) वह ज्ञानी मनुष्य । (एतेन) इस । (एव) ही । (आयतनेन) शरीर से । (एकतरम्) मुक्ति सुख अथवा सांसारिक चक्रवर्ती राज्य और जिस स्वार्थ से उपासना करता है, उस इच्छित फल को । (अन्वेमि) प्राप्त करता है ।

भावार्थ—सत्यकाम के प्रश्न के उत्तर में पिप्पलाद ऋषि ने कहा कि सत्यकाम जगत् में दो प्रकार की वासना है—एक तो सबसे श्रेष्ठ मुक्ति की वासना है, दूसरी इससे न्यून सांसारिक राज्यादि की वासना है। अतः जो ओंकार का नियमपूर्वक जीवन-पर्यन्त ध्यान करता है, उसकी जिस प्रकार की इच्छा हो, वह पूरी हो जाती है। अर्थात् जो ज्ञानी पुरुष है, वह जिस विचार से ब्रह्म की उपासना करता है, उसमें सफल होता है। उसको पुनर्जन्म की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु इसी जन्म में सब सुखों को प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—सत्यकाम का प्रश्न तो था कि ओंकार का आजीवन ध्यान करने वाला किस लोक को जय करता है? उत्तर यह दिया गया कि वह दोनों प्रकार के सुखों को प्राप्त कर लेता है।

उत्तर—जैसे कोई कहे कि ब्रह्म कहाँ रहता है, तो उत्तर यही होगा कि सर्वत्र। इसी प्रकार ब्रह्म के ध्यान से प्रत्येक वासना पूर्ण हो सकती है। अतएव ऋषि ने उत्तर दिया कि सब प्रकार की इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। यदि उसका एक ही फल होता, तो नाम बता देते कि अमुक लोक को प्राप्त करता है।

प्रश्न—क्या कर्म-फल इस जन्म में भी मिल सकता है?

उत्तर—नहीं, क्योंकि जब तक बीज गल न जावे, तब तक

अंकुर नहीं उगता और जब तक पक न जावे, फल नहीं दे सकता। जब कोई कर्म किया जाता है,तो उसका बीज गलने के पश्चात् दो अंकुर होते हैं। एक अवरिष्ट, दूसरे संस्कार। और जब अवरिष्ट का अंकुर पक जावे तब वह फल दे सकता है।

प्रश्न—यदि कर्मफल इस जन्म में नहीं मिल सकता, तो ऋषि ने क्यों कहा कि इस जन्म में प्रत्येक काम में सफलता होती है ?

उत्तर—ब्रह्म का ध्यान कर्म नहीं किन्तु उपासना का अङ्ग है और उपासना का फल उसी समय मिला करता है जिस प्रकार आग के पास जाते ही हाथ जलने लगते हैं और जल के पास जाते ही ठण्डे हो जाते हैं। गार्गी ने कर्म और उपासना के फल को पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष करने के अर्थ यह प्रकट किया कि इस शरीर में ही वह सफल होता है।

प्रश्न—कर्म का बीज क्या है, जिसके गलने पर फल उत्पन्न करने वाला अंकुर निकलता है ?

उत्तर—जिसके होने से कर्म होता है और जिसके बिना नहीं होता, क्योंकि जीव का ज्ञान तो स्वाभाविक है, परन्तु कर्म करण द्वारा कर सकता है। अतएव कर्म का बीज शरीर है।

प्रश्न—जीव को कर्म का बीज क्यों न कहा जावे, क्योंकि बिना जीव के कर्म हो ही नहीं सकता ?

उत्तर—जीव बोने वाला है, कर्म का बीज शरीर है।

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥३।५५॥

पदार्थ— (सः) वह ज्ञानी पुरुष। (यदि) यदि। (एकमात्रम्) ओ३म् की एक मात्रा अर्थात् 'अ' का। (अभिध्यायीत) मन को एकाग्र करके ध्यान करता है, अर्थात् अकार के ध्यान से इसका मन विषयों से रहित हो जाता है (सः) एकमात्रा का ध्यान करने वाला। (तेन) उस एक मात्रा के ध्यान से (एव) ही। (संवेदितः) सावधानता से। (तूर्णम्) अति शीघ्र। (एव) ही। (जगत्याम्) जगत् में। (अभिसम्पद्यते) दोनों प्रकार के धन-ऐश्वर्य तथा राज्यादि सामग्री से युक्त होता है। (तम्) उस ज्ञानी को। (ऋचः) ऋग्वेद के अनुकूल अर्थात् गुण के ज्ञानरूप सब सामग्री। (मनुष्यलोकम्) मनुष्यों के राज। (उपनयन्ते) जिस प्रकार उपनयन संस्कार से दूसरे से उत्तमता होती अर्थात् वह वेद पढ़ने का अधिकारी होता है। (सः) वह। (तत्र) इस जन्म में। (तपसा) तप से। (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदानुकूल कर्म से। (श्रद्धया) श्रद्धा से। (सम्पन्नः) ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके। (महिमानम्) परमात्मा की महिमा को। (अनुभवति) अनुभव करता है।

भावार्थ—ऋषि कहते हैं कि जब वह ओ३म् की एक मात्रा अर्थात् अकार का स्थिर चित्त से ध्यान करता है तो उस उपासना का यह फल होता है कि वह मेधा बुद्धि को प्राप्त करके अति शीघ्र पृथ्वी पर मनुष्यों में विद्वान् होकर मनुष्यों पर शासन करता है, और तप और ब्रह्मचर्य से तेजस्वी होकर श्रद्धा से युक्त होकर परमात्मा की महिमा को ज्ञात करता है। जब तक मनुष्य परमात्मा के ध्यान में न लगे, तब तक वह संसार में राज्य करने योग्य नहीं।

प्रश्न—परमात्मा के ज्ञान और राज्य से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—परमात्मा का ज्ञान बिना मन पर अधिकार नहीं हो सकता, जिसका मन पर अधिकार न हो वह इन्द्रिय और

शरीर पर ठीक प्रकार अधिकार नहीं रखता, जिसका शरीर पर अधिकार न हो, उसकी सन्तान अधिकार में नहीं रहती, जिसकी सन्तान अधिकार में न हो वह टोला पर शासन नहीं कर सकता, जिसका टोला पर अधिकार न हो, वह गाँव पर किस प्रकार शासन कर सकता है, और जिसका गाँव में शासन न हो वह प्रान्त और देश पर किस प्रकार राज्य कर सकता है ? अतः संसार पर राज्य करने का मूल कारण मन पर राज्य करना है और मन पर राज्य बिना ब्रह्मज्ञान के हो नहीं सकता।

प्रश्न—हम तो देखते हैं कि इस समय बहुत से राजा जो ब्रह्मज्ञान से शून्य हैं, परन्तु फिर भी शासन कार्य करते हैं, यह क्यों ?

उत्तर—निस्सन्देह वह राजा कहलाते हैं, परन्तु वह राजा हैं नहीं, क्योंकि यदि वह राजा होते, तो उनको शरीर-रक्षक और सेना की आवश्यकता न होती। राजा प्रजा का रक्षक होता है। जिसको अपने शरीर के रक्षार्थ अन्य की सहायता की आवश्यकता हो, वह सब प्रजा की रक्षा किस प्रकार कर सकता है ? जो स्वयम् भय करता है, वह प्रजा को निर्भय किस प्रकार बना सकता है ?

प्रश्न—मन पर अधिकार होने से क्या अङ्ग-रक्षक की आवश्यकता नहीं रहती ?

उत्तर—भय पाप से होता है। यदि मन वश में हो तो वह पाप करेगा ही नहीं। जो पाप न करे, उसको किसी का भय हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसने किसी को हानि ही नहीं पहुंचाई जिससे कोई उसका शत्रु हो। जब शत्रु ही नहीं सब प्रजा हैं, जो पुत्रवत् होती है, तब फिर अङ्ग-रक्षक की आवश्यकता ही क्यों है ?

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते स सोमलोकम् । स सोमलोके विभूति-मनुभूय पुनरावर्त्तते ॥४।५६॥

पदार्थ—(अथ) एक मात्रा की उपासना के पश्चात् । (यदि) यदि । (द्विमात्रेण) अकार, उकार दो मात्राओं से । (मनसि) मन में । (सम्पद्यते) परमात्मा के ध्यान को प्राप्त करता है अर्थात् ज्ञान और कर्म दोनों होते हैं । (सः) वह, ज्ञानी पुरुष । (अन्तरिक्षम्) आकाश में बसने वाले दूसरे लोकों को । (यजुर्भिः) यजुर्वेद विद्या अर्थात् ज्ञान के अनुकूल कर्म से । (उन्नीयते) उन्नति करता है । (सः) वह ज्ञानी पुरुष । (सोमलोकम्) चन्द्रलोक पर शासन करता है । (सः) वह । (सोमलोके) चन्द्रलोक की हुकूमत के द्वारा । (विभूतिम्) वहां के सुखों को । (अनुभूय) मालूम करके । (पुनरावर्त्तते) फिर लौट आता है ।

भावार्थ—यदि सांसारिक ऐश्वर्य तथा राज्य को देने वाली उपासना के पश्चात् अकार उकार दो मात्राओं से, मन को ज्ञान और कर्म के द्वारा परमात्मा के ध्यान में लगावें, तो वह आकाश में रहने वाले दूसरे लोकों पर भी राज्य करता है, वह चन्द्रलोक पर शासन करता है और वहाँ के सुखों को अनुभव करके फिर पृथ्वी पर लौट आता है । तात्पर्य यह है कि सांसारिक ऐश्वर्य नष्ट-कारक है । यदि ऋषि का आशय यह समझा जावे कि एक मात्रा की उपासना से तो इन्द्रियों का सुख और बाहिरी ज्ञान प्राप्त होता है और मन के भीतर ज्ञान और कर्म से जब उपासना करते हैं, तो उसको मन में शांति का दर्शन होता है । जिस शांति को संसार के राजा किसी दशा में प्राप्त नहीं कर सकते हैं, इसको ब्रह्म उपासक जन ही प्राप्त कर सकते हैं ।

प्रश्न—राजाओं को शान्ति क्यों प्राप्त नहीं होती ?

उत्तर—संसार के राजाओं को अन्य राजाओं की उन्नति से भय, प्रजा से भय कि कहीं प्राणान्त न करदें, राजसिंहासन से न उतार दें, मरण का विचार, उन्नति की अभिलाषा इत्यादि होते हैं, जिससे शाँति नहीं हो सकती।

प्रश्न—ब्रह्म उपासक में ये दोष क्यों नहीं होते ?

उत्तर—ब्रह्म-उपासक को दूसरे की उन्नति का भय किस प्रकार हो सकता है, क्योंकि वह जानता है कि ब्रह्म की उपासना से बढ़कर और कोई आनन्द नहीं है, जो दूसरे को प्राप्त हो। उसको तो दूसरों की हीन दशा पर दया आती है और उसको मौत का भय हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह जानता है कि जिस मार्ग पर पहुँचने के लिए शरीर रूपी गाड़ी मिली थी, वह ब्रह्म-ज्ञान मुझे मिल गया है। जब मार्ग पर पहुँच गये, तो गाड़ी रहे, न रहे, और न वह किसी का अधिकार लेता है। निदान ब्रह्म-उपासक के पास कोई अशान्ति का साधन ही नहीं, जिससे उसे अशान्ति कष्ट दे।

प्रश्न—इसको आवश्यकताओं के प्राप्त करने का विचार तो अवश्य होगा और इनको चिन्ता भी अवश्य होगी ?

उत्तर—आत्मा को किसी बाहरी वस्तु की आवश्यकता नहीं, जितनी आवश्यकता है, वह सब शरीर और मन की है। जो शरीर को किराया की गाड़ी समझता है, उसको शरीर की रक्षा की क्या आवश्यकता ? रक्षा का काम स्वामी का है। आत्मा को जिसकी आवश्यकता है, वह भीतर विद्यमान् है, जो किसी दशा में पृथक् नहीं हो सकता। जब वह पृथक् ही नहीं हो सकता तो जरूरत ही क्या रही ?

प्रश्न—अपने शरीर को जरूरत न भी हो, तो कुल के मनुष्यों की आवश्यकता का तो अवश्य ध्यान होगा ?

उत्तर—जैसा अपना शरीर प्रारब्ध के आश्रय जीता है ऐसा ही कुल के मनुष्य भी प्रारब्ध के आश्रय जीते हैं, क्योंकि वह जानता है कि हम इस शरीर में अपनीइच्छा से नहीं आए, किन्तु कर्मों का फल भोगने के वास्ते परमात्मा ने हमें भेजा है। अतः यह शरीर कारागार है। कारागार के बंधुओं को अपनी अथवा अन्य बन्धुओं की रोटी की चिन्ता करना मूर्खता है। अतः महाज्ञानी पुरुष से ऐसी मूर्खता क्यों हो सकती है ? यह सब चिन्ता मूर्खों को होती है, विद्वानों को नहीं।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्य्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोके स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते, तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ । ५७ ॥

पदार्थ—(यः) जो ज्ञानी पुरुष। (पुनः) फिर। (एतत्) यह उपासना। (त्रिमात्रेण) तीनों मात्राओं अर्थात् ओ३म् परमात्मा के सर्वोत्तम नाम को पूर्ण ध्यान से जपता है। (एतेन) इसके द्वारा। (एव) ही। (अक्षरेण) अक्षर अर्थात् नाशरहित। (परम्) महान्, अति सूक्ष्म (पुरुषम्) सारे जगत् में व्यापक परमात्मा को। (अभिध्यायीत) योग द्वारा प्रत्यक्ष करके ध्यान करता है। (सः) वह उपासना करने वाला (तेजसि) ज्ञान के बढ़ाने वाले। (सूर्यः) वेद में। (सम्पन्नः) प्राप्त होकर। (यथा) जैसे। (पादोदरः) साँप जिसके में पेट ही पाँव होते हैं। (त्वचा) कैंचुली को। (विनिर्मुच्यते) नितान्त त्याग कर देता है।

(हत्रै) इसी प्रकार उपासना करने वाला। (सः) वह। (पाप्मना) मन के भीतर जो मल, विक्षेप और आवरण दोष से। (विनिर्मुक्तः) छूटकर (सः) वह। (सामभिः) सामवेद से बताई हुई उपासना से। (उन्नीयते) बड़ाई को प्राप्त करता है। (ब्रह्मलोके) परमात्मा के दर्शन को प्राप्त करता है। (सः) वह। (एतस्मात्) इस प्रत्यक्ष जगत् से। (जीवघनात्) जीवात्मा देने वाले शरीर से। (परात्) जो कारणरूपी सूक्ष्म प्रकृति है इससे भी। (परम्) सूक्ष्म जो परमात्मा है, जो एक-एक परमाणु के भीतर भी विद्यमान है। (पुरिशयम्) जो जगत् रूप मकान में रहता है अर्थात् जगत् में सर्वत्र व्यापक है। (पुरुषम्) इस कारण से जिसका नाम पुरुष है। (ईक्षते) उसके दर्शन करता है। (तद्) उसके विषय में। (एतौ) ये दो। (श्लोकौ) श्लोक। (भवतः) प्रमाण हैं।

भावार्थ—पिप्पलाद ऋषि ने कहा जब कोई ज्ञानी पुरुष पूर्ण 'ओ३म्' को उपासना करता है अर्थात् ज्ञान, कर्म और उपासना के कर्म को ठीक-ठीक नियमानुकूल करता है और इस 'ओ३म्' के द्वारा परमात्मा का ध्यान करता है, वह पुरुष वेद मूल को समझकर जिस प्रकार साँप अपनी केंचुली को छोड़कर स्वतन्त्र हो जाता है, इसी प्रकार वह मन के तीन प्रकार के दोष—मल, विक्षेप और आवरण से छूट जाता है। यह जिस उपासना के आशय से सामवेद का प्रकाश हुआ है, इससे बड़ाई प्राप्त कर लेता है और ब्रह्म के दर्शन से वह इस प्रत्यक्ष जगत् से विचार करता हुआ, अपनी देह से सूक्ष्म और इससे सूक्ष्म कारण शरीर अर्थात् प्रकृति और इससे भी सूक्ष्म परमात्मा, जिसका यह जगत् व्याप्य है, उसको देखता है। इस विषय में ये दो श्लोक प्रमाण हैं।

प्रश्न—अन्य टीकाकार तो सूर्य का अर्थ सूर्यलोक करते हैं तुमने सूर्य का अथ वेद किस प्रकार किया ?

उत्तर—सूर्य दो हैं, एक प्राकृतिक सूर्य जिससे नेत्र को सहायता मिलती है, नेत्र रूप को देखते हैं और इससे रात्रि-दिवस का ज्ञान होता है। दूसरा आत्मिक सूर्य जिससे ब्रह्म दिन तथा ब्रह्मरात्रि का ज्ञान होता है, वह वेद है। यहाँ आत्मिक विषय है, अतः यहां सूर्य का अर्थ वेद है। जो वेद-ज्ञान से परिपूर्ण होता है, वही परमात्मा को जान सकता है। जो वेद के ज्ञान से शून्य है, वह परमात्मा को नहीं जान सकता।

प्रश्न—हम अनेक बेद के ज्ञाताओं को ज्ञान से शून्य पाते हैं?

उत्तर—जिसके मन में तीन प्रकार के दोष हैं, अर्थात् मल, विक्षेप, आवरण, वह वेद शब्द को समझता हुआ भी ब्रह्मज्ञान से शून्य रहता है। यथा प्रत्येक मनुष्य, जो अपने नेत्र से अपने ही नेत्र को देखना चाहे, उसको शीशे की आवश्यकता है। जो नेत्र के अंजन को देखना चाहे, वह भी बिना दर्पण के नहीं देख सकता। अतः दयालु परमात्मा ने प्रत्येक जीव को अपना स्वरूप जानने के लिए एक दर्पण दे रक्खा है, जिसका नाम मन है, परन्तु अँधेरी रात्रि में दर्पण के होने पर भी दृष्टि नहीं आता, इसलिए परमात्मा ने सूर्य दे दिया है, जिसका नाम वेद है, परन्तु दर्पण में तीन दोषों में से कोई दोष आ जावे, तो सूर्य की विद्यमानता में भी देख नहीं सकते। इस कारण जिस विद्वान् के मन में दोष है, वह परमात्मा का दर्शन नहीं कर सकता।

प्रश्न—मल-दोष किसे कहते हैं?

उत्तर—मल-दोष मन के अपवित्र होने का नाम है, जिसमें दूसरे को हानि पहुँचाने का विचार है जैसा कि आज-कल प्रत्येक मनुष्य ईश्वर से प्रार्थना करता है कि हे परमेश्वर! "अक्ल का अन्धा, गांठ का पूरा भेज"।

प्रश्न—विक्षेप दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर—मन की चञ्चलता मन का विक्षेप दोष है। एक वस्तु मिल जाती है, झट दूसरी की चाहना। मन की इच्छा पूर्ण ही नहीं होती।

प्रश्न—आवरण दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर मन में जो अहङ्कार है वही आवरण दोष है। वह जब तक है, तब तक कोई परमात्मा को नहीं देख सकता।

प्रश्न—जबकि ब्रह्म निराकार है, तो उसको किस प्रकार देख सकते हैं ? जब ब्रह्म देखा नहीं जा सकता, तो ऋषि ने उसको देखने का उपदेश क्यों किया ?

उत्तर—प्रत्येक वस्तु जिसका प्रत्यक्ष होता है, उसी को देखना कहा जाता है। देखने के अर्थ इन्द्रियों से अनुभव करना है। यथा कोई कहे कि दाल में नमक अधिक है, यदि कहे कि कैसे जाना, तो उत्तर मिलता है कि खाकर देखी है। इसी प्रकार ब्रह्म का देखना कहा है।

प्रश्न—इन्द्रियों से जो अनुभव हो, उसके लिए देखना शब्द आ सकता है, ब्रह्म तो किसी इन्द्रिय से नहीं जाना जाता, फिर उसका देखना कैसा ?

उत्तर—ब्रह्म मन से जाना जाता है और मन का सम्बन्ध दोनों प्रकार की इन्द्रियों से है, इसलिये मन को उभय-इन्द्रिय कहा है। अतः ब्रह्म मानसिक प्रत्यक्ष होने से ब्रह्म को देखना कहा।

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योऽन्यसक्ता-अनविप्रयुक्ताः। क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥६।५८॥

पदार्थ—(तिस्रः) तीन ही (मात्रा) अकार, उकार, मकार, अथवा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, अथवा ज्ञान, कर्म, उपासना । (मृत्युमत्यः) मृत्यु को तैर कर । (प्रयुक्ताः) उपासना के समय ठीक नियमपूर्वक ओंकार का प्रयोग अर्थात् ओंकार का मन से जप करते हुए । (अन्योन्यसक्ताः) तीनों का एक सम्बन्ध स्थित करके । (अनविप्रयुक्ताः) जो तोड़ फोड़ कर जाप न किया हो । (क्रियासु) क्रिया में हरकत में । (बाह्याभ्यंतरमध्यमासु) जो बाहर भीतर और मध्य में हो । (सम्यक् प्रयुक्तासु) जो ठीक-ठीक नियमपूर्वक की गई हो । (न) नहीं । (कम्पते) कांपता, घबराता । (ज्ञः) जो उपासना करने वाला योगी है ।

भावार्थ—जो ज्ञानी पुरुष 'ओ३म्' की तीन मात्राओं अर्थात् अकार, उकार, मकार को मिलाकर ठीक-ठीक उपासना करता है, जिसका कोई कर्म नियम के विरुद्ध नहीं होता, जिसकी आत्म क्रिया, बाह्य क्रिया और मध्य क्रिया सब ठीक-ठीक होती हैं जिसको भय, लज्जा और सन्देह की प्रकाशक वृत्ति अर्थात् पाप का विचार विद्यमान् नहीं, वह योगी किसी जगत् में, किसी दशा में भय नहीं खाता । यदि कोई संसार में निर्भय हो सकता है, तो वह केवल योगी हो सकता है । अतिरिक्त योगी के और कोई निर्भय नहीं हो सकता । राजा को अपने से बड़े राजा का भय, धनी को तस्करादि का भय और चक्रवर्ती राजा भी हो तो मौत का भय अवश्य रहेगा ।

प्रश्न—योगी को भय क्यों नहीं होता ?

उत्तर—भय के कारण तीन होते हैं—प्रथम यह कि स्वयं पाप करे, द्वितीय यह कि राजा अन्यायी हो, तृतीय अविद्या हो । योगी पाप नहीं करता और न जिसको राजा समझता है वह अन्यायी हो सकता है । योगी जानता है कि अतिरिक्त अपने

कर्मों के कोई दुख-सुख देने वाला नहीं। जब मैं पाप नहीं करता तो मुझे दुःख कौन दे सकता है। अविद्या योगी के पास नहीं जाती। जब भय के कारण न हों, तो भय कैसे हो सकता है?

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेणैवाऽऽयतनेनाऽन्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतंभयं परं चेति ॥७।५६॥

पदार्थ—(ऋग्भिः) ऋग्वेद ज्ञानकांड और जाग्रत अवस्था से। (एतम्) इस लोक को। (यजुर्भिः) यजुर्वेद, कर्म कांड और स्वप्न अवस्था से। (अन्तरिक्षम्) चन्द्रादि लोकों को। (सामभिः) सामवेदी उपासना काण्ड और सुषुप्ति अवस्था से। (यत्) जो मिलता है उसको। (कवयः) ज्ञानी विद्वान्। (वेदयन्ते) जानते हैं। (तम्) उस। (ओंकारेण) परमात्मा के सर्वोत्तम नाम से (एव) ही। (आयतनेन) आश्रय से। (अन्वेति) प्राप्त करता है। (विद्वान्) विद्वान्। (यत्) जो। (तत्) वह। (शांतम्) इच्छा तथा क्लेश रहित। (अजरम्) अजर। (अमृतं) अमर। (अभयम्) सर्वत्र सदा निर्भय हो। (परम्) अति सूक्ष्म और महान्। (च) और। (इति) यह परिणाम है।

भावार्थ—पिप्पलाद ऋषि ने कहा कि ऋग्वेद अर्थात् ज्ञानकाण्ड से इस लोक को, यजुर्वेद अर्थात् कर्मकांड से आकाश में निवास करने वाले अन्य लोकों को, और सामवेद से जो कुछ प्राप्त होता है, उसे पूर्ण ज्ञानी पुरुष जिन्होंने योग और समाधि से सद्विद्या को जान लिया है, वही बता सकते हैं। उस अवस्था को ओंकार के आश्रय से ही सर्व-साधारण मनुष्य प्राप्त करते हैं, जिसमें शान्ति प्राप्त होती है अर्थात् फिर कोई इच्छा शेष नहीं रहती कि जिसकी ओर मन जावे, न बुढ़ापे का अवसर प्राप्त

होता है। मृत्यु से पृथक् रहता है और निर्भय रहता है और जो सबसे महान् है, उसको प्राप्त कर लेता है।

इति पञ्चम प्रश्नः समाप्तः।

अथ षष्ठ प्रश्नः

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्! हिरण्यनाभः कौशल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत्। षोडशकलं भारद्वाज! पुरुषं वेत्थ? तमहं कुमारमब्रुवम् नाहमिमं वेद, यद्यहमिममवेदिषं, कथं ते नावक्ष्यमिति, समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति, तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं, स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥१।६०॥

भावार्थ—[अथ] शिव के प्रश्न के उत्तर के पश्चात्। [सुकेशा भारद्वाजः] सुकेशा नामी भारद्वाज ऋषि की सन्तान ने। [ह एनम्] पिप्पलाद ऋषि से। [पप्रच्छ] प्रश्न किया। [भगवन्] हे गुरु महाराज। [हिरण्यनाभः] जिसका नाम हिरण्यनाभ है। [कौशल्य] जो कौशल गोत्र में उत्पन्न हुआ। [राजपुत्र] राजा के लड़के ने। [माम्] मेरे। [उपेत्य] पास आकर। [एतं] इस। [प्रश्नम्] प्रश्न को। [अपृच्छत्] पूछा। [षोडशकलं] सोलह कला वाले। [भारद्वाज] हे भारद्वज ऋषि की संतान। [पुरुषम्] संसार में सर्वत्र व्यापक अथवा शरीर में व्यापक को। [वेत्थ] तू जानता है। [तम्] उस। [अहं]

मैंने। कुमारम्) कुमार को। [अब्रुवम्] कहा। [न] नहीं। [अहम्] मैंने। [इमम्] उसको। [वेद] जाना। [यदि] यदि। [अहम्] मैंने। [इमम्] उसको। [अवेदिषम्] जाना होता। [कथं] किस लिये। [ते] तुझको। [न] नहीं। [अवक्ष्यम्] बताता। [इति] यह। [समूलो] बीज से अर्थात् जड़ से। [वा] है। [परिशुष्यति] सूख जाता है। [यो] जो। [अनृतम्] मिथ्या वस्तु की मूल के विरुद्ध। [अभिवदति] कहता है। [तस्मात्] इस कारण से। [न] नहीं [अर्हामि] शक्ति रखता। [अनृतम्] झूठ को। [वक्तुम्] कहने को। [सः] वह। [तूष्णीं] चुपचाप। [रथमारुह्य] रथ पर बैठ कर। [प्रवव्राज] वही से चला गया। [तं] इसको। [त्वा] आपसे। [पृच्छामि] पूछता हूँ। क्व] कहाँ। (असौ) वह। (पुरुषः) पुरुष है। (इति) यह।

भावार्थ—शिव के प्रश्न के उत्तर के पश्चात् भारद्वज गोत्र में उत्पन्न हुए सुकेशा नामी ऋषि ने पिप्पलाद ऋषि से प्रश्न किया कि हे गुरु! एक दिन हिरणयनाभ कौशल देश के राजपुत्र ने मेरे पास आकर प्रश्न किया कि हे भारद्वाज! तू इस १६ कलावाले पुरुष को जानता है? मैंने उस राजकुमार से कहा—हे राजकुमार! मैं उस पुरुष को नहीं जानता। यदि जानता, तो कोई कारण न था कि मैं तुमको न बताता। वह मनुष्य जो घटना के विरुद्ध कहता अर्थात् मिथ्या बोलता है, वह जड़-मूल से नष्ट हो जाता है। इस कारण मैं मिथ्या बोलने की शक्ति नहीं रखता। मेरी इस बात को सुनतर वह रथ पर सवार हो चला गया। अतः मैं आपसे वही प्रश्न करता हूँ कि वह पुरुष षोडश-कला वाला कौनसा है?

तस्मै स होवाच। इहैवान्तः शरीरे सोम्य! स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥२।६१॥

पदार्थ—(तस्मै) इस सुकेशा के प्रश्न के उत्तर में (सहोवाच)

उस पिप्पलाद ऋषि ने कहा। (इह्) यहां (एव) है। (अन्तःशरीरे) शरीर के भीतर। (सौम्य) हे प्रिय शिष्य! (स) वह। (पुरुष) पुरुष अर्थात् जीवात्मा है। (यस्मिन्) जिसके भीतर। (एता) यह। (षोडश-कला) १६ कलाएं। (प्रभवन्ति) उत्पन्न होती हैं। (इति) यह परिणाम है।

भावार्थ—पिप्पलाद ऋषि ने सुकेशा के प्रश्न के उत्तर में कहा हे प्रिय शिष्य! वह पुरुष कहीं दूर नहीं रहता, जिसकी खोज में किसी दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता हो। किन्तु वह इस शरीर के भीतर है, जिसके भीतर यह षोडश कलाएं उत्पन्न होती हैं।

प्रश्न—यहां पुरुष से जीवात्मा का अर्थ है अथवा ब्रह्म का, क्योंकि पुरुष शब्द के अर्थ जीव-ब्रह्म दोनों हो सकते हैं।

उत्तर—यहां पुरुष से तात्पर्य जीवात्मा है, क्योंकि अगली श्रुति इसकी युक्ति है, परन्तु चौथी श्रुति परमात्मा की महिमा का वर्णन करती है, अतः जीवात्मा-परमात्मा दोनों शरीर के भीतर रहते हैं। एक षोडश कलाओं को उत्पन्न करता है, दूसरा षोडश कलाओं से काम लेता है। इसलिये षोडश कला वाले दोनों हो सकते हैं।

प्रश्न—श्रुति में पुरुष शब्द एक-वचन है, इसलिये एक ही अर्थ ले सकते हैं, दो नहीं।

उत्तर—एक के देखने से दोनों का एक साथ दर्शन होता है, यथा नेत्र और नेत्र का अञ्जन, दर्पण सामने आते ही एक साथ देखे जाते हैं, इसलिये एक ही साधन दोनों के देखने के वास्ते है। अतः श्रुति ने एक-वचन दिया है, परन्तु तात्पर्य दोनों का विदित होता है।

स ईक्षाञ्चक्रे कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि। कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति॥३।६२॥

पदार्थ—(स) इस जीवात्मा ने। (ईक्षांचक्रे) विचारा। (कस्मिन्) किसके (उत्क्रान्ते निकलने में। (अहम्) मैं। उत्क्रान्तः) निकलने वाला। (उत्क्रान्तो) निकलने से। (भविष्यामि) होऊंगा। (कस्मिन्) किसके (वा)अथवा।(प्रतिष्ठिते) ठहरने में। (प्रतिष्ठास्यामि) स्थित रहूँगा। (इति) यह।

भावार्थ—जीवात्मा ने विचार किया कि इस शरीर से किसके निकलने में मुझे शरीर को छोड़ देना होगा अर्थात् शरीर में कौनसी वस्तु है, जिससे मनुष्य जीवित रहता है और किसके निकलने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। यदि नेत्र निकल जावें तो काना हो जाता है, परन्तु जीवित रहता है, यदि श्रवण पृथक् हो जाय, तो बहरा हो जायेगा, परन्तु जीवित रहेगा। इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के पृथक् हो जाने से शरीर में दोष तो आ जाता है, परन्तु मृत्यु नहीं होती किन्तु जिस समय प्राण निकल जावें उस समय जीवात्मा शरीर में नहीं रह सकता। अतः प्राण के न होने से मृत्यु हो जाती है।

प्रश्न—शिर के कटने और प्राण के निकलने से मृत्यु अवश्य हो जाती है, किसी और इन्द्रिय अथवा अङ्ग के पृथक् होने से नहीं, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—शिर में ज्ञान-इन्द्रियां हैं, जिनसे जीव को नमित्तिक ज्ञान प्राप्त होता है और प्राणों में क्रिया होती है, जिससे जीवात्मा के प्रयत्न को सहायता मिलती है। ज्ञान और प्रयत्न ही जीवात्मा के स्वाभाविक गुण हैं। अतः जीव के गुणों को सहायता देने वाले यन्त्र नहीं रहते, तो जीवात्मा शरीर में किस

हेतु रहें ? शिर के न होने से ज्ञान और प्राण के न होने से प्रयत्न निष्फल हो जाता है ।

स प्राणमसृजत् प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम् मनः। अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राःकर्मलोका लोकेषु च नाम च ॥४।६३॥

पदार्थ—(स) उस विषयों से पृथक् परमेश्वर ने । (प्राणम्) प्राण को । (असृजत्) उत्पन्न किया । (प्राणात्) प्राणों से । (श्रद्धाम्) श्रद्धा को उत्पन्न किया । (खं) आकाश । (वायुः) वायु को । (ज्योतिः) अग्नि को । (आपः) जल को ।(पृथिवी) पृथ्वी को । (इन्द्रियम्) इन्द्रियों को । (मनः) मन को (अन्नम्) अन्न को । (अन्नात्) अन्न से (वीर्यम्) वीर्य को । (तपः) तप । (मन्त्राः) विचार से । (कर्म) कर्म अर्थात् पाप-पुण्य (लोकाः) शरीर अथवा मनुष्य पशु आदि । (लोकेषु) स्थूल शरीर में । (च) और । (नाम) संज्ञा । (च) इत्यादि ।

भावार्थ—सर्वत्र व्यापक परमात्मा ने सबसे पूर्व प्राण क्रिया देने के लिये उत्पन्न किये, क्योंकि जब तक कोई क्रिया करने वाला न हो, कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। उस प्राण से श्रद्धा उत्पन्न हुई, श्रद्धा से आकाश उत्पन्न हुआ,आकाश के पश्चात् वायु, इसके पश्चात् अग्नि, इसके पश्चात् जल, फिर पृथिवी--जब यह पाँचों भूत उत्पन्न हो गये, तो उनके गुणों को अनुभव करने और काम में लाने वाली इन्द्रियाँ और इन्द्रियों को ठीक नियम में रखने के लिये मन और मन को दृढ़ रखने हेतु अन्न उत्पन्न किया और अन्न से वीर्य, वीर्य से तप अर्थात् पुरुषार्थ और उससे विचार और विचार से कर्म-योनि अर्थात् शरीर और इससे विविध प्रकार की योनियों का विभाग अर्थात् नाम उत्पन्न किये।

प्रश्न—एक उपनिषद् में तो आत्मा से प्रकाश की उत्पत्ति लिखी और यहाँ प्रथम प्राण और श्रद्धा दो लिख दिये। इन दो में से सत्य कौन सा है ?

उत्तर—परमात्मा के ईक्षण अर्थात् ज्ञानानुकूल क्रिया से आकाशादि उत्पन्न होते हैं, इस कारण परमात्मा के ईक्षण का नाम प्राण और श्रद्धा है। क्रिया का नाम प्राण और ज्ञान का नाम श्रद्धा है। अतः दोनों स्थान पर एक ही आशय है, विरोध नहीं है।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते! एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते चाऽऽसां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति, तदेष श्लोकः ॥५।६४॥

पदार्थ—(स) इस पिप्पलाद ऋषि ने कहा (यथा) जैसे। (इमाः) यह। (नद्यः) नदी (स्यन्दमानः) बहते हुए। (समुद्रायणाः) जिनका समुद्र घर है। (समुद्रम्) समुद्र को। (प्राप्य) प्राप्त हो कर। (अस्तम् गच्छन्ति) दृष्टि से लुप्त हो जाते हैं। (भिद्येते) छूट जाता है। (तासाम्) इन नदियों का (नामरूप) नाम और रूप। (समुद्र) समुद्र है। (इति) यह। (एव) इस प्रकार। (प्रोच्यते) कहा जाता है। (एवम्) इस प्रकार से। (एव) है। (अस्य) इसके। (परिद्रष्टुः) इन सबको देखने वाले को। (इमा) यह। (षोडशकला) यह षोडश कला। (पुरुषायणा) जिनका पुरुष है घर। (पुरुषम्) पुरुष को। (प्राप्यः) प्राप्त होकर। (अस्तं गच्छन्ति) गुप्त हो जाती हैं। (भिद्येते) छूट जाता है।

(तासाम्) उनसे। (नामरूपे) नाम और रूप। (पुरुष) पुरुष है।(इति) यह (एवम्) इस प्रकार यह। (प्रोच्यते) कहा जाता है। (स) वह। (एव) यह। (अकलः) कलाओं से पृथक् है। (अमृतः) अमर। (भवति) होता है। (तत्) इस विषय में यह श्लोक प्रमाण है।

भावार्थ—पिप्पलाद ऋषि ने कहा कि जिस प्रकार यह जो नदियां बह रही हैं, जब तक अपने मुख्य स्थान समुद्र तक नही पहुँचतीं, तब तक इनका नाम और रूप पृथक्-पृथक् जान पड़ता है, किसी को सतलज कहते हैं, किसी को व्यास, किसीकी धार बहुत बड़ी होती है, किसी की छोटी, कोई वेग से गति करती है, कोई धीरे, किसी के किनारे बहुत ऊँचे हैं, किसी के कम, किसी का पानी खारी, किसी का मीठा, परन्तु जिस समय ये सागर में जा मिलती हैं, तो इनमें जो नामरूप का अन्तर था वह गुप्त हो जाता है। उस समय सागर के अतिरिक्त और किसी नाम से उनका उच्चारण नहीं करते। प्रथम सब नाम गुप्त हो जाते हैं। और अन्तर-भेद भी मिट जाता है। इसी प्रकार यह षोडशकला अर्थात् प्राणेन्द्रियाँ और मन इत्यादि जो हैं, इन सब का नियत स्थान पुरुष है। जब तक यह इन्द्रियाँ उस पुरुष को प्राप्त नहीं करतीं, तब तक इनके नाम-काम और रूप पृथक्-पृथक् दृष्टि पड़ते हैं। आँख का कार्य देखना है, आंख की आकृति नाक और कान से पृथक् है। इसी प्रकार औरों की दशा है। परन्तु जिस समय समाधि की अवस्था में अपने विषयों को त्याग कर पुरुष को प्राप्त हो जाती हैं, तब इनका नाम, रूप और काम सब छूटकर पुरुष ही रह जाता है। वह पुरुष कला अर्थात् इन्द्रिय आदि से अपनी जाति में पृथक् है। यह सब कलाएं पुरुष का न तो स्वरूप ही हैं, न इसकी जाति से इनका सम्बन्ध है। और वह पुरुष मृत्यु से रहित है क्योंकि मृत्यु उसकी होती

है, जिसका जन्म हो। न तो पुरुष का जन्म है, न मृत्यु. यह सब शरीर के धर्म हैं। शरीर हो मरता, शरीर ही जन्मता, शरीर में यह कला निवास करती है। जब जीवात्मा अपने से बाहर की ओर देखता है, तब अपने को अविद्या से कलाधारी स्वीकार करता है, जिससे मृत्यु आदि के भय में लिप्त रहता है। जब भीतर की ओर देखता है, तब अविद्या नाश हो जाती है और वह कला के अहंकार से मुक्त हो जाता है। इस विषय में उपरोक्त श्लोक प्रमाण है।

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः।
तं वेद्यं पुरुषंवेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥६।६५॥

पदार्थ—(अरा इव रथनाभौ) जिस प्रकार गाड़ी के पहिया की नाभि अर्थात् पुट्ठी में आरे लगे होते हैं। (कला) इसी प्रकार कला। (यस्मिन्) जिस पुरुष में। (प्रतिष्ठिता) स्थापित हैं। (तम्) उसको। (वेद्यम्) जो जानते हैं। (पुरुषम्) जो सर्वत्र व्यापक है। (वेद) जानो। (यथा) जिससे। (मा) मत। (नः) हमको। (मृत्युः) मृत्यु की। (परिव्यथा) महा कष्ट हो। (इति) यह।

भावार्थ—पिप्पलाद ऋषि कहते हैं-हे ऋषियो! जिस प्रकार रथ के पहिये को पुट्ठी में आरे लगे होते हैं, इसी प्रकार जिस पुरुष में सब कला विद्यमान् हैं, जिसके बिना कोई कला रह नहीं सकती, उस जानने योग्य परमात्मा को जानो, जिससे मृत्यु के भय से मुक्त होते हैं।

तान् हो वाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद, नातः परमस्तीति ॥७।६६॥

पदार्थ—(तान्) उन सुकेशादि अपने शिष्यों को अन्तिम परिणाम बताने को। (होवाच) पिप्पलाद ऋषि ने कहा। (एतावद्) इसी भाँति। (एव) है। (अहम्) मैं। (ब्रह्म) परमात्मा को। (वेद) जानता हूँ। (न) नहीं। (अतः) इससे। (परम) अधिक। (अस्ति) है। (इति) यह।

भावार्थ—पिप्पलाद ऋषि ने सुकेशादि अपने शिष्यों से परिणाम निकालकर कहा कि इतना ब्रह्मज्ञान है कि वह सबसे सूक्ष्म, सबसे महान् अर्थात् गुण में सबसे उच्च है इससे अधिक और कुछ मैं ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में नहीं जानता और इस विचार से कि और कोई दूसरा जानता हो, तो ब्रह्मज्ञान इससे पृथक् भी होगा, कहा कि इससे परे और कुछ नहीं।

प्रश्न—क्या पिप्पलाद ऋषि के ऐसे कहने से ऐसा परिणाम नहीं निकलता कि उन्होंने ब्रह्मज्ञान की सीमा प्राप्त करली, जिसको कोई प्राप्त नहीं कर सके?

उत्तर—जितना जीवात्मा जान सकता है, वह यही है कि ब्रह्मज्ञान अनन्त है, उस ब्रह्म से परे कुछ नहीं। जब इससे परे सबको न होना बता दिया, अपने ज्ञान के होने का भी इससे प्रकाश हो गया, जिससे ब्रह्म का अनन्त होना ही स्थिर रहा।

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः ॥८।६७॥

पदार्थ—(ते) वे। सुकेशादि ऋषि। (तम्) उस पिप्पलाद ऋषि को। (अर्चयन्तः) पूजा करके। (त्वम्) तू है। (नः) हमारा। (पिता) गुरु है, तू ही रक्षक है। (यो) जो। (अस्माकं) हमको। (अविद्यायाः) अविद्या से (परम्) परे। (पारम्) पार, किनारे। (तार-

यसि) तैराकर ले जायेगा। (इति) यह। (नमः) संस्कार पूजा है। (परमऋषिभ्यः) पूर्ण वेद के जानने वाले को, दोबारा पुस्तक समाप्त होने का चिन्ह है।

भावार्थ—सुकेशादि शिष्यों ने पिप्पलाद ऋषि की पूजा करके कहा कि महाराज! आप ही हमारे गुरु हैं, जो हमको अविद्या के सागर से पार करने को सामर्थ्य रखते हैं। यद्यपि संसार-सागर बहुत ही बड़ा है और अविद्या ने सम्पूर्ण जगत् को घेर रक्खा है, परन्तु आपकी कृपा से हमको इस अविद्या से कोई भय नहीं रहा। इसलिये हे वेदों के तत्व के पूर्णज्ञानी! तुझको बार-बार हमारा नमस्कार है। अन्त में पुनर्वार लिखने से ज्ञात हुआ कि यह उपनिषद् समाप्त हो गया।

ओ३म् शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ओ३म्

मुण्डकोपनिषद्

अथ प्रथम मुण्डक—प्रथम खण्ड

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्यकर्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्व विद्या प्रतिष्ठा-मथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह ॥ १ ॥

पदार्थ—(ब्रह्मा) चारों वेदों का ज्ञाता; धर्म, ज्ञान और वैराग्य से युक्त। (देवानां) विद्वानों में । (प्रथम:) प्रथम। (सम्वभूव) भद्र किया उद्‌भूत हुआ। (विश्वस्य) जगत् में धर्म के। (कर्त्ता) करने वाले। (अर्थात् प्रत्येक वर्णाश्रम के नियम बनाने वाले) (भुवनस्य गोप्ता) सर्व प्राणियों की रक्षा का उपदेश-दाता। (स) उसने। (ब्रह्मविद्यां) ब्रह्मविद्या को। (सर्वविद्या प्रतिष्ठाम्) सर्व विद्यानिष्ठात। (अथर्वाय) अथर्व को। (ज्येष्ठ पुत्राय) जो उनका बड़ा बेटा था। (प्राह) उपदेश किया।

भावार्थ—सर्व विद्वानों में ब्रह्म प्रथम कहलाता है अर्थात् ऋषियों से बड़ी पदवी ब्रह्मा की है, क्योंकि चारों वेदों के जानने से ब्रह्मा कहलाता है, जैसे गायत्री उपनिषद् में लिखा है कि वेदों से ब्रह्मा होता है। जो प्रथम ब्रह्मा हुआ उसने संसार के अर्थ वर्णाश्रम के विभाग के अनुकूल नियम बनाए और उन नियमों के द्वारा प्रत्येक प्राणी की रक्षा की। उसने सबसे ज्येष्ठ पुत्र अथर्व नामी को ब्रह्म विद्या का उपदेश किया।

प्रश्न—यह क्यों न माना जावे, सबसे प्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा पदवी सबसे प्रथम क्यों स्वीकार की जावे ?

उत्तर—शतपथ, गोपथ और ऐतरेय ब्राह्मण में अग्नि, आदित्य और अंगिरा को परमात्मा का वेद उपदेश करना लिखा है। और गायत्री उपनिषद् में ब्रह्मा का वेदों से बनना लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि ब्रह्मा से पूर्व वेद, अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा के द्वारा प्रकाशित हुए। और उन ऋषियों से ब्रह्मा ने पढ़े। और चारों वेदों के जानने से सबसे बड़ा अर्थात् प्रथम कहलाया।

प्रश्न—ब्रह्म विद्या का अथर्व से सम्बन्ध क्यों बताया ?

उत्तर—ऋग्, यजुः, सामवेद तो यज्ञ के अर्थ हैं और ब्रह्म-विद्या में अथर्व ही काम आता है।

प्रश्न—ब्रह्मा को जगत् का कर्त्ता क्यों न स्वीकार किया जावे, जैसा कि शब्दार्थ से प्रकट होता है।

उत्तर—ब्रह्मा का संसार में जन्म हुआ, इसलिए संसार में सम्मिलित है। इस कारण यह जगत्-कर्त्ता नहीं हो सकता।

अथर्वणेयां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे

ब्रह्मविद्याम्। भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजो अङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

पदार्थ—(अथर्वंण) अथर्वण शिष्य को। (यां) जिस ब्रह्म-विद्या को। (प्रवदेत) बताया था। (ब्रह्मा) ब्रह्मा ने। (अथर्वा) अथर्वा ने। (ताम्) उस ब्रह्म विद्या को। (अङ्गिरे) अङ्गिर शिष्य को पढ़ाया। (पुरोवाच) अन्य शिष्यों को भी उपदेश किया। (स) उस अङ्गिर ने (भारद्वाजाय) भारद्वाज ऋषि गोत्र वाले। (सत्यवाहाय) सत्यवाह शिष्य को। (प्राह) उपदेश किया। (भारद्वाजो) उस भारद्वाज ने। (अङ्गिरसा) अङ्गिरा शिष्य को। (परावराम्) दूसरों से प्राप्त हुई ब्रह्म विद्या को पढ़ाया।

भावार्थ—अथर्ववेद से ग्रहण की हुई मुण्डकोपनिषद् नामी ब्रह्मविद्या जो ब्रह्मा ने अथर्वा को पढ़ाई थी, अब उस क्रम को बताते हैं कि अथर्वा ने उसको अंगी नाम अपने शिष्य को पढ़ाया। और अंगी ने भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुए सत्यवाह ऋषि को पढ़ाया। उसने अंगिरस नामी ऋषि को दूसरे गुरुओं से प्राप्त की हुई ब्रह्मविद्या को पढ़ाया। इस इतिहास से ब्रह्मविद्या का अनादि काल से होना सिद्ध होता है। और वर्तमान काल के यूरोपवासी मनुष्य आरम्भ में अविद्या को स्वीकार कर बैठे हैं। इन दोनों में से कौन सत्य है ? इसके विषय में किसी युक्ति की आवश्यकता नहीं; जिसकी साक्षी ईश्वरीय नियम के अनुकूल है। ईश्वर ने प्रथम सूर्य का पूर्ण प्रकाश उत्पन्न किया, जब वह पूर्ण प्रकाश सायंकाल को छिप गया, तब मनुष्यों ने दीपक जलाये। इससे स्पष्ट है कि पूर्ण प्रकाश पहले उत्पन्न

हुआ, अपूर्ण पश्चात् को। अतः परमात्मा ने पूर्ण वेदों की शिक्षा प्रथम दी; पश्चात् अन्य प्रकार की अपूर्ण शिक्षा आरम्भ हुई।

शौनकोहि महाशालो अंगिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥ ३ ॥

पदार्थ—(शौनकः) शौनक ऋषि की संतान। (हि) निश्चय करके। (महाशालो) जिसके भवन वहुत बड़े थे। (अङ्गिरसं्) सत्यवाह ऋषि के शिष्य अङ्गिरस ऋषि के। विधि-(वत्) शास्त्र नियमानुकूल। (उपसन्नः) पास जाकर। (पप्रच्छ) प्रश्न किया। (कस्मिन्नु) किस। (भगवो) ज्ञाता गुरु। (विज्ञाते) जान लेने से। (इदं सर्वं्) यह सब। (विज्ञातं) ठीक प्रकार जाना हुआ। (भवति) होता है। (इति) यह बताओ।

भावार्थ—शौनक ऋषि ने जो बहुत बड़े प्रासाद [भवन] रखता था अङ्गिरस के समीप शास्त्र नियमानुकूल जाकर प्रश्न किया कि हे गुरु महाराज! किसी एक के जानने से मुझे किसी अन्य के जानने की आवश्यकता न रहेगी अथवा कोई अन्तिम जानने योग्य वस्तु है, जिसके जानने के पश्चात् सब जाना हुआ होगा, किसी के जानने की आवश्यकता न रहेगी। अर्थात् यह प्रश्न ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध में हैं। क्योंकि और ऐसी कोई वस्तु नहीं जो ब्रह्म की भाँति सबसे महान् और सब से सूक्ष्म, सबसे अधिक आवश्यकीय, आनन्ददायक तथा ज्ञानदाता हो। इसके उत्तर में ऋषि कहते हैं।

तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति पराचैवापराच ॥ ४ ॥

पदार्थ—(तस्मै) इस शौनक को। (सः) वह अङ्गिरस

(ह उवाच) यह कहने लगे । (द्वे विद्ये) दो विद्या हैं । (वेदितव्ये) जानने योग्य हैं । (हस्म) पुराने इतिहास को स्मरणार्थ कहते हैं । (यत्) जो । (ब्रह्मविद) वेद के ज्ञाता विद्वान् लोग । (वदन्ति) कहते हैं । (परा) जो परमात्मा के जानने का मुख्य साधन है । (अपरा च) तथा जिससे जगत में धर्म, कर्म और सब पदार्थों का ठीक ज्ञान हो ।

भावार्थ—अङ्गिरस ऋषि ने शौनक को उपदेश किया कि इस जगत् में जानने योग्य दो प्रकार की विद्या हैं जिनमें से एक का नाम परा विद्या है, जिससे सबसे सूक्ष्म और व्यापक परमात्मा का ज्ञान होता है। दूसरी अपरा जिससे सांसारिक धर्म-कर्म और प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान होता है, आगे इसकी व्याख्या करते हैं ।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं । निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ ५ ॥

पदार्थ—(तत्र) उन दोनों विद्याओं में । (अपरा) अपरा विद्या यह है । (ऋग्वेदः) ऋग्वेद । (यजुर्वेदः) यजुर्वेद । (सामवेद) सामवेद । (अथर्ववेदः) अथर्ववेद । (शिक्षा) शिक्षा वेदांग । (कल्प) वेद का दूसरा अङ्ग । (व्याकरणं) वेद का तृतीयांग । (निरुक्त) वेद का चतुर्थाङ्ग । (छन्द) वेद का पञ्चम अङ्ग । (ज्योतिष) वेद का षष्ठांग । (इति) यह वेद और वेदांग अपरा विद्या हैं। (अथ) इसके पश्चात् (परा) वह परा विद्या । (यथा) जिससे । (तदक्षरम्) वह ब्रह्म । (अभिगम्यते) जाना जाता है ।

भावार्थ—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के छः अङ्ग अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष—ये सब अपरा विद्या में सम्मिलित हैं। और परा उस विद्या को कहते हैं जिससे केवल नाशरहित ब्रह्म जाना जाता है।

प्रश्न—क्या वेदों से ब्रह्म नहीं जाना जाता।

उत्तर—वेदों में ब्रह्म का ज्ञान है, परन्तु जब तक वेद को सुनकर उसका मनन युक्ति पूर्वक न किया जावे और उसमें कहे हुए मत को मन में स्थित न किया जावे, तब तक ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान नहीं होता। इस कारण वेद के अर्थ सहित सुनने का नाम अपरा विद्या है। और जो मनुष्य मनन करके निदिध्यासन के द्वारा साक्षात् करते हैं, उनको जो ज्ञान होता है वह परा विद्या है।

प्रश्न—बहुत से वेदों को अपरा विद्या और उपनिषदों को परा विद्या के नाम से पुकारते हैं।

उत्तर—उसमें कोई हानि की बात नहीं, क्योंकि उपनिषदों में भी वेद के साक्षात् करने वाले ऋषियों के उपदेश हैं, जो वेदों के व्याख्यान होने से वेद ही के ज्ञान से उत्पन्न हुए हैं।

यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥

पदार्थ—(यत्) जो। (तत्) वह। (अदृश्यम्) जो ज्ञानेन्द्रिय से अनुभव नहीं होता। (अग्राह्यम्) जिसको कोई पकड़ नहीं सकता। (अगोत्रम्) जिसका कोई गोत्र नहीं। (अवर्णम्) जिसका ब्राह्मणादि वर्ण नहीं है। (अचक्षुः)

जिसके नेत्र नहीं । (अश्रोत्रम्) जिसके कान नहीं । (अपाणि-पादम्) जिसके हाथ पाँव नहीं । (नित्यं) जो नित्य है । (विभुं) व्यापक है । (सर्वगतम्) सबके हाल को जानता है । (सुसूक्ष्मं) जो अत्यन्त सूक्ष्म । (तद्) वह । (अव्ययं) नाश और त्रुटि रहित (यत्) जो । (भूतयोनिम्) सम्पूर्ण जगत् की जड़ चैतन्य सृष्टि का कारण है । (परिपश्यन्ति) जो उस सर्वव्यापक को ध्यान से देखते हैं । (धीराः) बुद्धिमान् धैर्यव्रती मनुष्य ।

भावार्थ—अब उस परा विद्या से जानने योग्य ब्रह्म का लक्षण करते हैं, जो इन्द्रिय से अनुभव नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियाँ स्थूल पदार्थ को देखने वाली हैं। वह सूक्ष्म और सर्वव्यापक है, उसका कोई गोत्र और वर्ण नहीं, क्योंकि वह किसी वंश में उत्पन्न नहीं हुआ और न सतोगुण, रजोगुण इत्यादि उसमें आते हैं, जिससे कोई वर्ण कहा जावे। उसके नेत्र नहीं, क्योंकि नेत्र बाहर की वस्तु को देखने को होते हैं। उससे बाहर कोई वस्तु नहीं, जिसके लिये नेत्र की आवश्यकता हो। उसके कान नहीं, क्योंकि कान भी बाहर का शब्द सुनने के लिये होते हैं। और उसके हाथ पाँव नहीं क्योंकि यह जाने आने के लिये होते हैं। वह वहाँ जावे,जहाँ पहले से विद्यमान् न हो। हाथ उस वस्तु को पकड़ते हैं जो बाहर हो। उससे बाहर कोई वस्तु नहीं है, वह नित्य है, जिसकी उत्पत्ति और नाश दोनों असम्भव हैं। वह सर्वत्र विद्यमान् है और सब के हृदय की जानने वाला है, उसको कोई साक्षी अथवा वकील आदि धोखे में नहीं डाल सकता, वह सबसे सूक्ष्म है, उसमें किसी दूसरी वस्तु के गुण नहीं आ सकते। वह निकृष्ट से निकृष्ट वस्तु के भीतर रहते हुए भी उसके प्रभाव से पृथक् है। वह नाशरहित है। जो उस

सम्पूर्ण जगत् के कारण को ध्यान द्वारा साक्षात् करते हैं धैर्यव्रत मनुष्य हैं, और मनुष्य के उद्दिष्ट मार्ग को पूर्ण करते हैं। उसके जानने से सब जाने जाते हैं।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्या-मोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केश-लोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—(यथा) जैसे। (उर्णनाभिः) मकड़ी। (सृजते) जाले को उत्पन्न करती। (गृह्णते) जाले को अपने भीतर प्रवेश करती है। (च) और। (यथा) जैसे। (पृथिव्याम्) पृथिवी के भीतर। (औषधम्) औषधि अन्नादि। (सम्भवन्ति) उत्पन्न हो जाते हैं। (यथा) जैसे। (सतः) विद्यमानता से। (पुरुषात्) पुरुष से। (केशलोमानि) शिर और शरीर के केश उत्पन्न होते हैं। (तथा) वैसे। (अक्षरात्) नाशरहित परमात्मा से। (सम्भवति) उत्पन्न होता है। (इह) जगत् में (विश्वम्) सब जगत्।

अर्थ—तीन दृष्टान्त दिये हैं जिनसे प्रकट होता है कि सृष्टि की उत्पत्ति निमित्त कारण से होती है। जो मनुष्य उपादान कारण और निमित्त-करण को एक मान कर सृष्टि की उत्पत्ति करना चाहते हैं, उनके पास कोई दृष्टान्त नहीं। प्रथम दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से जाला निकालती है और फिर भीतर ही प्रवेश कर लेती है, इसी प्रकार परमात्मा अपनी माया में से जगत् को उत्पन्न करता है। माया अर्थात् प्रकृति जगत् का उपादान-कारण और परमात्मा निमित्त-कारण है, क्योंकि मकड़ी में शरीर और आत्मा दो होते हैं। यदि एक ही होता तो मृतक मकड़ी कहीं जाला बनाती दृष्टि नहीं पड़ती। द्वितीय दृष्टान्त दिया कि जैसे भूमि से अन्न उत्पन्न होता है। यहाँ

भी बीज और भूमि या पानी और भूमि दो होते हैं। बिना पानी के भूमि से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। तृतीय जीव की विद्यमानता से शरीर में केश और लोम उत्पन्न होते हैं, यदि अकेले उत्पन्न होते तो मृतक शरीर से उत्पन्न हो जाते, अथवा बिना शरीर के आत्मा में उत्पन्न हो जाते। यही दृष्टान्त है जिसको अद्वैतवादी मनुष्य अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण की व्यवस्था करते हुए देते हैं। परन्तु यह उनके मत को सिद्ध नहीं करता, प्रत्युत् खण्डन करता है। इस लिये उन्होंने और भी बहुत से वाद एक ही ब्रह्म से सृष्टि उत्पन्न करने के लिये कल्पना किये हैं, परन्तु प्रत्येक निर्बल प्रतीत होता है। क्योंकि परमात्मा जो नित्य स्वामी और नित्य ही राजा है, उसकी प्रजा का सत्य होना आवश्यकीय है। यदि प्रकृति न हो तो उनका नाम परमात्मा किस प्रकार हो सकता है। क्योंकि बिना किसी व्याप्य के जिसमें व्यापक हो सके, व्याप्य कैसे कहला सकते हैं।

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥८॥

पदार्थ—(तपसा) परमात्मा के ज्ञान से। (चीयते) महानता है; परमात्मा की जीवात्मा और प्रकृति पर इस महानता के कारण वह। (ब्रह्म) सबसे बड़ा कहलाता है। (ततः) उस परमात्मा के ज्ञानानुकूल प्रकृति को क्रिया करने से। (अन्नम्) जो सब को बिना किसी विशेषता के पचाता है अर्थात् आकाश। (अन्नात्) उस अन्न से। (प्राणः) प्राण बनते हैं। (मनः) मन उत्पन्न हुआ। (सत्यं) और उससे सत्य अर्थात् कारणरूप सूक्ष्म भूत उत्पन्न हुए, और। (लोकः) उससे यह स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ। (कर्मसु) उन

से कर्म और कर्म से। (च) और। (अमृतम्) मुक्ति के साधन अन्त:करण की शुद्धि होती है।

भावार्थ—परमात्मा जब अपने अनन्त ज्ञान से जगत् को उत्पन्न करते हैं, तो कतिपय मनुष्य यह सन्देह करते हैं, कि जिस प्रकृति से जगत् को उत्पन्न किया जाता है और जो जीव उसमें प्रविष्ट होता है, परमात्मा को उनपर महानता क्यों है? यद्यपि प्रश्न मूर्खता को प्रकाशित करता है क्योंकि शब्द 'क्यों' प्रयोग का किसी उत्पन्न हुई वस्तु पर तो ठीक है, किसी नित्य वस्तु पर किसी प्रकार सम्भव नहीं। यथा कोई कहे अग्नि क्यों उष्ण है! प्रकृति क्यों जड़ है! जीव क्यों चैतन्य है! ईश्वर क्यों नित्य है। परन्तु इस महत्त्व का कारण भी ऋषियों ने बता दिया है। वह कहते हैं कि ब्रह्म को दोनों पर महत्त्व इस कारण है कि वह ज्ञानानुकूल क्रिया देकर जगत् को बनाता है। जड़ प्रकृति को क्रिया देने के कारण और अल्पज्ञ जीवात्मा को ज्ञान देने के कारण वह उन पर महत्त्व रखता है। और इसी ज्ञान के महत्त्व के कारण उसका नाम ब्रह्म है और इस ज्ञान के अनुकूल प्रकृति को गति देने से आकाश उत्पन्न हुआ और आकाश से प्राण अर्थात् वायु और अग्नि उत्पन्न हुई और उससे जल, पृथ्वी व मन उत्पन्न हुए, उससे सूक्ष्मभूत और उससे पञ्च तन्मात्रा अर्थात् गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द उत्पन्न हुए। इससे स्थूल शरीर उत्पन्न हुए और उनसे जीव कर्म करने लगे और कर्म से ही अमृत अर्थात् मुक्ति के साधन हो सकते हैं।

प्रश्न—इस श्रुति में तो अन्न शब्द है, उसका अर्थ आकाश किस प्रकार कर लिया?

उत्तर—जो सम्पूर्ण पदार्थों को खा जावे, अथवा जिसको भूत खावें, उसको अन्न कहते हैं। अतः आकाश के बिना कोई भी नहीं रह सकता और आकाश ही सबका नाश करने वाला है। जिस वस्तु में आकाश नहीं, वह ही वस्तु अविनाशी है। इसलिये आकाश अर्थ हो सकता है।

प्रश्न—श्रुति में तप शब्द का अर्थ ज्ञान तथा चैतन्य कैसे हो सकता है ?

उत्तर—* श्रुति ने बताया है कि ब्रह्म का तप ज्ञान ही है वह प्रत्येक वस्तु को ज्ञान से गति देता है। वह सर्व व्यापक स्वयम् क्रियाशील होकर के दूसरों को गति नहीं देता, किन्तु ज्ञान-रूपी तप से ही गति देता है।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥ ९ ॥

पदार्थ—(य;) जो परमात्मा परा विद्या से जाना जाता है। (सर्वज्ञ:) जो सर्वज्ञ है। (सर्ववित्) जो एक ही समय में सबको जान रहा है। (यस्य) जिसका। (ज्ञानमयं तप:) जिसका ज्ञान स्वरूप ही तप है। (तस्मात्) इस कारण से परमात्मा से। (एतत्) यह। (ब्रह्म) सब से महान्। (नाम) बड़े का नाम। (रूपम्) रूप। (अन्नाम्) औषधि आदि। (जायते) उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—जो परमात्मा सम्पूर्ण जगत के पदार्थों को जानता है, जिसका ज्ञान स्वाभाविक; जिसको नैमित्तिक ज्ञान कभी होता ही नहीं। क्योंकि जिसका ज्ञान प्रथम न हो, उसका ज्ञान

* सत्यं ज्ञानमयं तप: ।

न होने से वह सर्वज्ञ न हो, पहले जिसको न जानता हो उसी को जाने, वह सर्वज्ञ होने से पहले ही से सब को जानता है और यह नहीं कि किसी को अब जाना और किसी को कल। किन्तु सबको प्रत्येक स्थान पर होने से प्रत्येक समय एक साथ जानता है और इस ज्ञान के महत्व से, उसका नाम ब्रह्म है। और उससे जगत् में नाम, रूप और भोग्य वस्तु उत्पन्न हुई हैं। यदि परमात्मा अपने ज्ञान में से नाम रूप की विद्या न देता, तो जीव उसको किसी प्रकार नहीं जान सकते।

प्रश्न—क्या हम जो कुछ संसार में परिवर्तन देखते हैं परमात्मा इनको नहीं जानता ?

उत्तर—जगत् में जो कुछ है, वह सब तीन भागों में है। एक जाति, दूसरे आकृति, तीसरे व्यक्ति। यह तीनों पृथक्-पृथक् विद्यमान् होती हैं, उत्पन्न नहीं होती हैं। इसलिये परमात्मा इनको पहले से जानते हैं। क्योंकि जाति उस वस्तु का नाम है, जो एक से गुण वाली बहुत सी वस्तु पर ठीक-ठीक प्रयोग हो और वह जाति परमात्मा के ज्ञान में सदा रहती है। क्योंकि उसका चिन्ह आकृति है और आकृति प्रत्येक वस्तु में कर्ता के ज्ञान से आया करती है। जैसे मकान के बनने से पहले शिल्पी उसका चित्र बनाया करता है। मकान में जो आकृति आती है, उस चित्र से आती है, जो मकान के बनने से पहले शिल्पी के ज्ञान में विद्यमान् थी। अतः तीनों वस्तु परमात्मा के ज्ञान में पहले से विद्यमान् होती हैं। फिर नवीन कौन सी वस्तु है, जिसका उसे ज्ञान हो।

प्रथम मुण्डक का प्रथम खण्ड समाप्त हुआ।

अथ प्रथम मुण्डक-द्वितीयखण्ड

परमात्मा के जानने में जो रुकावट अन्तःकरण का मलीन होना है, उसके कारण से मनुष्य परमात्मा के ज्ञान के लिये पुरुषार्थ करते हुए सफल नहीं होते, यथा दर्पण के बिना नेत्र और उसमें रहने वाला अंजन दिखाई नहीं देता। परमात्मा ने जीव को अपने स्वरूप और स्वयं को जानने के लिए मन का दर्पण दिया है, जिसको अविद्या से यह जीवात्मा मलीन कर लेता है और उस मन के मलीन हो जाने से, जीव को न तो अपना ही ज्ञान रहता है, न परमात्मा का। अब द्वितीय खण्ड में, मन को शुद्ध करने का विधान बताते हैं।

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्यलोके ॥ १।१० ॥

पदार्थ—(तदेतत्सत्यं) यह बात सत्य है कि प्रत्येक प्रयत्न-धर्म वाले जीव को कर्म करना चाहिये, क्योंकि वेद में ईश्वर ने जीव को जिन कर्मों को करने की आज्ञा दी है वह हानि नहीं कर सकते। (मंत्रेषु) वेद मन्त्रों में। (कर्माणि) जितने कर्म। (कवयः) ज्ञानी ऋषि ने। (यानि) जो-जो। (अपश्यन्) देखे अर्थात् योग से मालूम किये। (तानि) उनको। (त्रेतायाम्) त्रेतायुग में अथवा तीन गुण वाले जगत् में। (बहुधा) बहु प्रकार की व्याख्या के साथ। (सन्ततानि) शास्त्रों के द्वारा बताकर। (तानि) उनको। (आचरथ) कर्म में लाओ। (नियतं) नियमानुकूल। (सत्यकामाः) सत्य की कामना रखने वाले मनुष्यों। (एव)

यही । (वः) तुम्हारा । (पन्थाः) मार्ग [मत] हैं । (सुकृतस्य) अपने कर्तव्य के पालन का । (लोके) संसार में ।

भावार्थ–ओ मनुष्य सत्य अर्थात् तीन काल में रहने वाले परमात्मा के जानने की इच्छा रखते हों, उनके लिये सन्मार्ग यह है कि अन्तःकरण की शुद्धि के अर्थ सबसे प्रथम ज्ञान के अनुकूल निष्काम कर्म करें। क्योंकि जब तक मन का दर्पण शुद्ध न हो, तब तक जीव को परमात्मा का और अपना ज्ञान हो ही नहीं सकता और वेद के मन्त्रों में ज्ञानी ऋषियों ने जिन-जिन कर्मों को देखा कि यह जीव के अन्तःकरण की शुद्धि के कारण हैं, उन कर्मों को त्रेतायुग में या तीन प्रकार के सत, रज, तम गुण वाले संसार में प्रत्येक अधिकारी की अवस्था के अनुकूल पृथक्-पृथक् करके दिखाया । तुम उस वेदोक्त कर्म को करो । क्योंकि बिना उसके तुम्हारी परमात्मा की प्राप्ति की इच्छा का पूर्ण होना कठिन है । यदि कोई मनुष्य दर्पण को शुद्ध करने का कर्म न करके, दर्पण में से नेत्र और नेत्र के अंजन को देखने का यत्न करे, तो वह देख नहीं सकता । इस प्रकार जो मनुष्य बिना निष्काम कर्म द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध करके परमात्मा को देखना चाहे, वह अज्ञानी है।

प्रश्न—कब तक कर्म करना चाहिये ?

उत्तर—जब तक अन्तःकरण प्रत्येक प्रकार के दोषों से शुद्ध न हो जावे ।

प्रश्न—इसका क्या प्रमाण है कि अब अन्तकरण शुद्ध हो गया है, अथवा नहीं शुद्ध हुआ ?

उत्तर—जब तक तीन प्रकार की कामना शेष रहती हैं, तब

तक मन अशुद्ध होता है। और जब शुद्ध हो जाता है, तब यह तीन प्रकार की इच्छाएँ निवृत्त हो जाती हैं।

प्रश्न—वह तीन प्रकार की कामना कौन सी हैं, जिनके दूर होने से मन निर्मल हो जाता है ?

उत्तर—वित्तैषणा अर्थात् धन की इच्छा, जिसको धन की इच्छा है, उसका मन मलीन है। द्वितीय,पुत्रैषणा अर्थात् सन्तान की इच्छा। तृतीय, लोकैषणा अर्थात् यश, प्रतिष्ठा और शासन की इच्छा।

प्रश्न—धन की इच्छा क्यों मन के मलीन होने का प्रमाण है ?

उत्तर—धन दूसरे को हानि पहुँचा कर ही तो प्राप्त होता है। दूसरे, उससे प्रत्येक समय हानि ही होती है। जैसा कि भर्तृहरि जी ने कहा कि प्रथम तो धनके एकत्र करने में ही कष्ट होता है। दूसरे उसके रक्षा करने में ही रात्रिदिवस जागना पड़ता है। तीसरे व्यय करने में भी विचार होता है कि अधिक व्यय होगया तो, चौथे, नाश होने पर तो बहुत ही हानि होती है, सैकड़ों को उन्मत बना देता है।

प्रश्न—लोकैषणा क्यों बुरी है ?

उत्तर—उसमें भी दूसरे मनुष्य की स्वतन्त्रता पर ही आघात करना पड़ता है ?

यता लोलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतोः प्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम् ॥२।११॥

पदार्थ—[यदा] जिस समय । [लोलायते] ठीक प्रकार जल उठे । [हि] निश्चय । अर्चि:] अग्नि की लाट । (समिद्धे] समिधा में प्रवेश हो जावे । [हव्यवाहने] हवन की सामग्री को सूक्ष्म करके उड़ाने वाली अग्नि । [तदा] उस समय । [आज्यभागौ] घी देने के योग्य दो आहुतियों को । [अन्तरेण] अन्तर है । [आहुती:] आहुति [प्रतिपादयेत्] डालता जावे । [श्रद्धया] श्रद्धा से । [हुतम्] जिससे हवन ठीक हो सके ।

भावार्थ—अब यज्ञ के लिए जो निष्काम कर्म है, उसका विधान बताते हैं कि जब लगी हुई अग्नि भले प्रकार से समिधा में प्रवेश कर जावे और देवतों को हवन का भाग पहुँचाने वाली भले प्रकार प्रचण्ड हो जावे, तब घृत की दो आहुतियों के अन्तर से हवन कुण्ड में श्रद्धा से आहुतियाँ डालनी चाहिये ।

प्रश्न—यज्ञ को निष्काम कर्म क्यों कहते हैं ? क्या इस लिये कि वह वायु की शुद्धि के अर्थ किया जाता है ?

उत्तर—यज्ञ केवल वायु की शुद्धि के लिये तो विद्वान् मनुष्य स्वीकार नहीं करते, किन्तु उससे और भी बहुत लाभ हैं । यथा हम यदि भोजन बाँटें तो सम्भव है अपने मित्रों को दें और शत्रुओं को उससे वंचित रक्खें । परन्तु हवन में जो सामग्री डाली जाती है उसका प्रभाव प्रत्येक मित्र शत्रु पर बिना किसी विचार के एक-सा होता है । इस कारण यज्ञ का नाम निष्काम कर्म भी है, जब किसी सांसारिक स्वार्थ से न किया जावे ।

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यम-नाग्रायणमतिथिवर्जितञ्च । अहुतमवैश्वदेवमवि-धिनाहुतमश्रद्धयाहुतमासप्तमा नृतस्य लोकान् हिनस्ति ॥३।१२॥

पदार्थ—(यस्य) जिस गृहस्थी के घर का । (अग्निहोत्रम्) अग्नि होत्र । (अदर्शम्) यज्ञ जो अमावस्या और एकम् के मिलाप के समय होता है । (अपौर्णमासम्) जो पूर्णमासी में करने वाला यज्ञ नहीं करता । (अचातुर्मास्यं) वह यज्ञ जो चातुर्मास में किया जाता है, वह नहीं होता । (अनाग्रायणम्) जो शरद ऋतु अर्थात् कार्तिक के मास में करने वाला यज्ञ नहीं करता । (अतिथि वर्जितम्) जिस घर में अतिथि की प्रतिष्ठा नहीं होती । (आहुतम्) जो समय पर अग्निहोत्र नहीं करता है । (अवैश्वदेवम्) जिसके घर में छोटे जीवों के लिए निश्चित बलिवैश्वदेव यज्ञ भी नहीं होता । (अविधिनाहुतम्) जो नियम-विरुद्ध हवन करता है । (आसप्तमान्) सात दशाओं तक । (तस्य) उसके । (लोकान्) लोकों को । (हिनस्ति) नाश करता है ।

भावार्थ—जिस घर में अग्निहोत्र वर्ष-यज्ञ अर्थात् जो यज्ञ अमावस और एकम् के योग पर होता है, पूर्णमासी का यज्ञ और चातुर्मास में करने योग्य, शरद ऋतु में करने योग्य यज्ञ नहीं किये जाते, और जिस घर में आये हुए अतिथि का सत्कार नहीं होता, और जिस घर में अग्निहोत्र काल पर नहीं होता और नियमपूर्वक नहीं किया जाता, और जिस घर में अनियम अग्निहोत्र किया जाता है, उसके सप्तलोक नाश हो जाते हैं । इस अवसर पर किसी का विचार तो यह है कि उसकी अगली सात पीढ़ी तक नष्ट हो जाती हैं परन्तु यह उचित नहीं मालूम होता । क्योंकि जब दूसरे तीसरे कुल के मनुष्य नष्ट हो गये, तो और अगले उत्पन्न ही नहीं होंगे । इसलिये सप्त शब्द ठीक प्रयोग नहीं होता । बहुतेरे कहते हैं कि पहिली सप्त पीढ़ी नष्ट हो गईं ।

यह भी ठीक नहीं। क्योंकि पिछली दो-तीन से अधिक जीवित नहीं होतीं। कुछ मनुष्य ऐसा कहते हैं कि सात पीढ़ी का धर्म नाश होता है। परन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि एक के धर्म न करने से दूसरे का धर्म नष्ट नहीं हो सकता। अतः इसका मूल तात्पर्य यह है कि जो नियमों को तोड़ता है, उसके अन्तः-करण की शुद्धि नहीं होती, और अन्तःकरण की शुद्धि न होने से वैराग्य नहीं होता, और वैराग्य न होने से अन्तःकरण की स्थिति नहीं होती, और अन्तःकरण के स्थिर न होने से ईश्वर की उपासना नहीं होती, और ईश्वर की उपासना न होने से दुःख की निवृत्ति नहीं होती, और दुःख की निवृत्ति न होने से आनन्द नहीं मिलता। दुःख की निवृत्ति तथा आनन्द की प्राप्ति न होने से मुक्ति नहीं होती। (क्योंकि) निष्काम यज्ञ अन्तः-करण की शुद्धि का कारण है और अन्तःकरण की शुद्धि से ही वैराग्य होता है। जिसका मन मलिन है, उसको वैराग्य नहीं हो सकता, और जिसको वैराग्य नहीं, उसका मन स्थिर नहीं हो सकता। जिसका मन स्थिर नहीं उसको ईश्वरकी उपासना नहीं, उसकी दुःख से निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है, और जब बुद्धि दुःख के साथ सम्बन्ध रखती है तो आनन्द किस प्रकार मिल सकता है। जहाँ दुःख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति नहीं, वहाँ मुक्ति कैसी ? अतः निष्काम यज्ञ न करने वाले के यह सात– अन्तःकरण की शुद्धि, विराग, अन्तःकरण की स्थिति, ईश्वर की उपासना, दुःख से दूरी, आनन्द की प्राप्ति और मुक्ति नाश हो जाते हैं। अर्थात् यह सप्त लोक नहीं मिल सकते, इनके दर्शन से वञ्चित रहता है।

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी

लोलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ ४।१३ ॥

पदार्थ—(काली) जिसका रङ्ग काला है। (कराली) भयङ्कर। (मनोजवा) मन की भाँति बहुत ही चञ्चल। (सुलोहिता) ठीक प्रकार लाल रंग वाली। (या च सुधूम्रवर्णा) शुद्ध धूम्र की भाँति जिसका रङ्ग हैं। (स्फुलिङ्गिनी) जिसमें से चिन्गारियाँ निकल रही हैं। (विश्वरूपी) जिसके भीतर सब प्रकार के अङ्ग विद्यमान हैं। (च) और। (देवी) प्रकाश करने वाली। (लोलायमाना) दहकते हुए प्रकाश से। (इति) यह। (सप्त) सात। (जिह्वा) जिसमें होम करना है, उसकी यह जिह्वा अर्थात् अवस्था है।

भावार्थ—जिस समय अग्नि इन सात दशाओं में अर्थात् वेग से जल रही हो उस समय होम करना चाहिए। एक ओर काला धूम्र निकल रहा हो। दूसरे देखने से भयङ्कर मालूम हो। रक्तवर्ण लाटें निकल रही हों। चारों ओर धूम्र फैलने से आकाश धूम्र वर्ण बना रहे और चिनगारियाँ छोटी-छोटी उठ रही हों। और प्रत्येक वर्ण की प्रकाशकर्त्री अग्निदेवी प्रकाश कर रही हो, यह सात दशा हैं, जिस समय अग्नि में होम करना चाहिये। आशय यह है कि बुझी हुई अग्नि में अग्निहोत्र करना ठीक नहीं, किन्तु अच्छी जलती हुई अग्नि में होम करना चाहिये।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयोह्यदादायन् । तन्नयन्त्येताः सूर्य्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥५।१४॥

पदार्थ—(एतेषु) उपरोक्त दशाओं में। (यः) जो। (चरते) अग्निहोत्र करता है। (भ्राजमानेषु) प्रकाश करते हुए में। यथा-

कालम्) ठीक काल के अनुकूल । (च) और । (आहुतयः) आहुति जो अग्निहोत्र में एक में एक बार सामग्री डालते हैं । (हि) निश्चय करके । (आददायन्) ठीक प्रकार देने वाले । (तम्) उसको । (नयन्ति) प्राप्त होती या कराती हैं । (एता:) यह आहुतियाँ । (सूर्यस्य) सूर्य की । (रश्मय:) किरणों के द्वारा या प्राणवायु के साथ । (यत्र) जहाँ । (देवानांपति) देवतों का पति । (एक:) एक । अधिवास:) जो सम्पूर्ण जगत् के निवास स्थान हैं ।

भावार्थ—जो मनुष्य इस प्रकार ठीक-ठीक जलती हुई अग्नि में वेद के अनुकूल निष्काम भाव से आहुतियाँ देता हुआ ठीक-ठीक कर्म करता है । अर्थात् जिस समय और जिस प्रकार से जो आहुति देनी चाहिये, उसी प्रकार देता है । उस निष्काम करने वाले को सूर्य की किरणों के साथ मिलकर यह आहुतियाँ देवतों के पति सूर्य या परमात्मा के जो एक होकर सम्पूर्ण जगत् की रक्षा और प्रकाश कर रहा है, पहुँचा देती हैं । तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य निष्काम यज्ञ करता है, तो उसकी सामग्री की आहुतियाँ सूर्य की किरणों या मेघ आदि में होती हुई संसार को लाभ पहुँचाती हैं और करने वाले का अन्तःकरण परोपकार के कारण शुद्ध होकर ईश्वर के नियमों के अनुकूल उन्नति करता हुआ एक समय में उस जीव को सम्पूर्ण देवों के देव परमात्मा के दर्शन तक पहुँचा देता है । जिसके भीतर सब जगत् पालन कर रहा है, जो सबसे बड़ा होने से सबके समीप विद्यमान् होने पर भी दूर रहता है ।

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिः भिर्यजमानं वहन्ति । प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एव वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥६ । १५॥

पदार्थ—(एहि एहि) आये हुए इस प्रकार । (इति) यह । (तम्) उस यज्ञ करने वाले । (आहुतय:) वे आहुतियाँ । (सुवर्चस:) उत्तम धर्म से जगत् को प्रकाश करने वाली । (सूर्यस्य) सूर्य की । (रश्मिभि:) किरणों के द्वारा । (यजमानम्) यज्ञ करने वाले पुरुष को । (वहन्ति) मुक्ति दशा को प्राप्त कराती हैं । (प्रियाम् वाचम्) मीठी वाणी को । (अभिवदन्त्य:) कहती हुई । (अर्चयन्त्य:) पूजा करती हुई या सुख पहुँचाती हुई । (एष:) यह । (व:) तुम्हारा । (पुण्य:) नेक कर्म । (सुकृत:) भले प्रकार किया हुआ । (ब्रह्मलोक:) परमेश्वर के दर्शन या ज्ञान का कारण है, जिसके फल में दु:ख लेशमात्र भी नहीं, सदा सुख ही होता है ।

भावार्थ—जो कुछ मनुष्य शुभ कर्म करता है, उसकी दो अवस्थाएँ होती हैं । एक अवरिष्ट, द्वितीय संस्कार; अवरिष्ट का संस्कार मन में स्थित हो जाता है और जब उस कर्म के अवरिष्ट फल के भोग का समय आता है, तब वह संस्कार अपने साथी अवरिष्ट को सूर्य की किरणों में जो फैली हुई विद्युत् है, उसके द्वारा अपने समीप बुला लेता है । जिस प्रकार संसार में देखा जाता है कि जिस प्रकार का बीज बोया जाता है वह अपने जाति के परमाणुओं को बुला लेता है । जैसे मिरच का बीज उसी भूमि से कड़ुवे परमाणु खींच लेता है । उसी प्रकार जिस प्रकार के संस्कार के साथ अवरिष्ट का उदय होता है, वैसा ही संस्कार पहले उदय होता है । उदाहरणत: समझदार धर्मात्मा के भीतर से एक प्रकार की आवाज़ आती है, जो प्रकट करती है कि अब सुख देने वाले कर्मों का उदय होगा और पापी को पाप का फल उदासी और चिन्ता की अवस्था में आता दीख पड़ता है ।

प्रश्न—क्या आहुतियाँ चैतन्य हैं जो प्रसन्नता से पुकारती हैं ?

उत्तर—पुकारना दो प्रकार से होता है एक वाणी से, द्वितीय इंगित से। ऋषि का तात्पर्य इङ्गित से है जिसके लिए जड़ चैतन्य की कोई विशेषता नहीं।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्त-मवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवाभियन्ति ॥ ७।१६ ॥

पदार्थ—(प्लवा) दुःख से युक्त। (हि) निश्चय करके। (एते) यह। (अदृढाः) जो दृढ़ नहीं है। (यज्ञरूपाः) कामना से किये हुए यज्ञादि कर्म। [अष्ट दशोक्तं] जिसमें अष्टदश यजमान ब्रह्मा और १६ ऋत्विजों का विधान है, या १७ अङ्ग शरीर के और एक आत्मा—१८ की निर्मलता के लिए जो बताये गए। [अवरः] जो इस ओर का है। [येषु कर्म] जिस कर्म से प्रधान है। [एतत्] यह। [श्रेयः] मुक्ति का मार्ग है। (ये) जो। [अभिनन्दन्ति] सबसे अन्तिम मार्ग मान कर जो इस पर अभिमान करते हैं। [मूढाः] मूर्ख लोग। [जरा] बुढापे। [मृत्युम्] मृत्यु। [ते] वे कर्मकाण्डी मनुष्य। [पुनः] फिर। [एव] ही। [अभि] भी। [यन्ति] प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य इस निष्काम कर्मकाण्ड को जिसका फल दृढ़ और अतिसुख का देने वाला नहीं, किन्तु जिसका फल सुख-दुःख युक्त है जिस यज्ञ में कर्म १८ कराने वाले बताये हैं जो १८ अर्थात् दश इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन, अहङ्कार और जीव की शुद्धि के लिए किया जाता है यद्यपि यह कर्म पापों की अपेक्षा

तथा न करने की अपेक्षा उत्तम है परन्तु जो मनुष्य इसी को सबसे श्रेष्ठ कर्म मानकर और यह विचार करके कि केवल कर्म से ही मुक्ति हो जावेगी, आगे यत्न नहीं करते, किन्तु इस पर प्रसन्न हैं, वह मूर्ख मनुष्य बार-बार जन्म-मृत्यु प्राप्त करते हैं।

प्रश्न—क्या कर्म से मुक्ति नहीं होती ?

उत्तर—अकेला कर्म मुक्ति का साधन नहीं किन्तु ज्ञान-कर्म उपासना से जो विज्ञान प्राप्त होता है वह मुक्ति का साधन है।

प्रश्न—वेद ने आज्ञा दी है कि जब तक जीता रहे कर्म करता रहे, क्या कर्म बन्धन हेतु नहीं ?

उत्तर—निःसन्देह शत वर्ष तक कर्म करता हुआ जीवे, परन्तु वह कर्म चार प्रकार का है। ब्रह्मचारी का कर्म पढ़ना है, जैसा कि सम्पूर्ण शास्त्रकार स्वीकार करते हैं। गृहस्थ का कर्म यज्ञादि करना है, वानप्रस्थ का कर्म उपासना करना है और सन्यास आश्रम में विज्ञान प्राप्त करना है।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य तो इतना ही कहते हैं कि कर्म करने से ही मुक्ति होती है। और कोई कहते हैं, उपासना अर्थात् भक्ति से ही मुक्ति होती है। और कुछ कहते हैं विज्ञान से मुक्ति होती है। इनमें सत्य क्या है ?

उत्तर—न तो ज्ञान के बिना कर्म से मुक्ति हो सकती है, क्योंकि पाप भी एक प्रकार का कर्म है, वह क्यों पाप है, इसलिए कि वह ज्ञानके विरुद्ध है; और न अकेले ज्ञान से मुक्ति हो सकती है। यह सब ही सच्चे हैं, क्योंकि एक मकान में बहुत श्रेणी हैं, प्रत्येक श्रेणी वाला सत्य कहता है कि इस सीढ़ीसे चढ़ने के बिना

मकान पर नहीं चढ़ सकता। परन्तु अन्तिम श्रेणी विज्ञानकी है, उसकी अपेक्षा सब श्रेणियाँ मार्ग से दूर की हैं और वह मार्ग के समीप की है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः। जघण्यमानः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः॥ ८। १७॥

पदार्थ—(अविद्याया) अविद्या अर्थात् मिथ्या कर्म से मुक्ति होती है, इस विचार के। (अन्तरे) भीतर। (वर्तमाना:) रात दिवस फँसे हुए। (स्वयं) अपने को। (धीरा:) ज्ञानी। (पण्डित:) सत् असत् का विचार करने वाले। (मन्यमाना:) मानते हुए। (परियन्ति) इधर-उधर भागते हैं। (मूढ़ा:) मूर्ख मनुष्य। (जघन्यमाना:) नीची अवस्था में गिरते हुए। (अन्धेन) अन्धे के पीछे लगकर। (एव) ही। (नीयमाना:) ले जाया गया। (यथा) जैसे। (अन्धा:) दूसरा अन्धा।

भावार्थ—मूर्ख मनुष्य कर्म में फँसे हुए; और कर्म से मुक्ति होती है, इस विचार में मतवाले होकर अपने को बुद्धिमान् और पण्डित समझते हुए नीच योनियों में जा गिरते हैं जैसे अन्धे के पीछे लगकर दूसरा अन्धा भी कूप में जा गिरता है। इसी प्रकार ये मनुष्य भी अविद्या में ग्रसित स्वयं तो गिरते हैं परन्तु दूसरों को अपने साथ कूप में गिराते हैं। तात्पर्य यह है कि कर्मकांड की श्रेणी तो है, जिसको ग्रहण करना और त्यागना आवश्यक है। और जो मनुष्य इस सीढ़ी का आश्रय लेकर आगे चलने से रुक जाते हैं और दूसरों को भी रोकते हैं वे स्वयम् भी गिरते हैं और अपने सहायकों को भी गिराते हैं जैसे अन्धे के पीछे अन्धा लगकर गिरता है।

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत्कर्मणि न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ९। १८ ॥

पदार्थ—[अविद्यायां] उपरोक्त ज्ञान में। [बहुधा] बहुत तरह पर [वर्त्तमाना:] रहते हुए या काम करते हुए। [वयं] हम लोग। [कृतार्था:] मार्ग पर पहुँच गये। [इति] यह। [अभिमन्यन्ति] अभिमान करते हैं। [बाला:] अज्ञानी लोग। [यत्कर्मणि] जिस कर्म में फँसे हुए। [न] नहीं। [प्रवेदयन्ते] परमात्मा को नहीं जानते। [रागात्] राग से। [तेन] उससे। [आतुरा:] दुखी होकर। [क्षीण लोका:] नीचे योनियों में। [च्यवन्ते] गिर जाते हैं अर्थात् मनुष्य योनि से गिरकर पशु योनि में प्रवेश करते हैं।

भावार्थ—कर्मकांड में फंसे हुए अर्थात् कर्म को ही मुक्ति का साधन मानते हुए हम सफल हो गए हैं; ऐसा अभिमान करते हैं, वे अज्ञानी हैं, क्योंकि प्रथम बता चुके हैं कि अकेले कर्म से मुक्ति नहीं हो सकती। जो कर्म करने वाले निष्काम कर्म करके अन्त:करण की शुद्धि से परमात्मा के ज्ञान तक पहुँच जाते हैं, उनको तो कर्म में अभिमान नहीं होता। जो कर्म के अभिमान से परमात्मा के जानने का प्रयत्न नहीं करते, उनको आत्मज्ञान नहीं होता और वे कर्म के रोग से दुःखी होकर ज्ञान से नीचे की अवस्था अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में जा गिरते हैं।

प्रश्न—शुभ कर्म करने वालों को भी जन्म लेना पड़ेगा, क्या उनकी मुक्ति नहीं होगी?

उत्तर—जन्म-मरण का कारण पाप-पुण्य के फल हैं। और पाप-पुण्य का कारण प्रवृत्ति है अर्थात् शुभाशुभ कर्म में लगभग

अशुभ काम से पाप और शुभ से पुण्य होता है। और प्रवृत्ति का कारण राग और द्वेष है। जिसमें द्वेष होता है, उसके नाश का यत्न किया जाता है। और जिसमें राग होता है, उसके प्राप्त करने का यत्न किया जाता है। और जिसमें राग द्वेष विद्यमान् हैं, उसका जन्म होना अवश्य है। जिसका राग नाश हो जावे, उसका जन्ममरण नाश हो सकता है।

इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं च विशन्ति ॥ १० । १९ ॥

पदार्थ—(इष्टापूर्त्तम्) सांसारिक इच्छा से जो काम बावली, कूप, सर, यज्ञ इत्यादि किये जाते हैं। (मन्यमानाः) इनमें सबसे बड़े होने का विचार रखने वाला। (वरिष्ठं) इससे अधिक कोई मार्ग ही। (न) नहीं। (अन्यत्) दूसरे कोई। (श्रेयः) मुक्ति। (वेदयन्ते) जानते हैं। (प्रमूढाः) अत्यन्त मूढ़। (नाकस्य) जिस देश अथवा अवस्था में दुख नहीं है, उस देश या अवस्था के। (पृष्ठे) उस पर पहुँच कर। (ते) वह। (सुकृते) शुभ कर्मों का फल। (अनुभूत्वा) अनुभव करके। (इमम्) इस प्रत्यक्ष। (लोकं) शरीर पर, या पृथ्वी लोक। (हीनतरं) इससे भी अधिक नीच अर्थात् निकृष्ट योनि को। (विशन्ति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—मनुष्य रजोगुण और तमोगुण से मोहित होकर केवल सांसारिक सुखों के वास्ते ही या संसार में यश, मान और प्रभुत्व प्राप्त करने के अर्थ बहुत से वैदिक कर्म अर्थात् कूप, तालाब मन्दिर बनवाना अथवा यज्ञ, दान करना इत्यादि कर्मों में फँसकर ऐसा विचार करते हैं कि इनसे उत्तम कोई कर्म नहीं, न अन्य कोई मुक्ति है। जो कुछ है यही कर्म और इसका फल सुख ही है,

उनसे अच्छा कर्म और सुख कोई नहीं। वह मनुष्य उस शुभ कर्म का फल किसी ऐसे स्थानपर भोगकर जहाँ दुख न हो अथवा ऐसे जन्म में जाकर जहाँ सुख के कारण सब विद्यमान् हों, कर्मों का फल समाप्त करके या तो उसी मनुष्य योनि में आ जाता है, अथवा उससे भी किसी नीच योनि में पहुँच जाता है। तात्पर्य यह है कि सकाम कर्म का फल सुख भोगकर कर्मों के अनुकूल किसी जन्म में आना होगा।

तपःश्रद्धे येह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ ११ । २० ॥

पदार्थ—[तप:] स्वाध्याय और सत्य से यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने और चन्द्रायण इत्यादि व्रतों में जो कष्ट होता है उसका नाम तप है। [श्रद्धे] नित्य कर्म में श्रद्धा करता है। (ये) जो। [हि] निश्चय करके। [उपवसन्ति] इन्द्रियाँ और मन को रोककर वास करने। (अरण्ये) जंगल में। [शान्ता:] जिसके मन की वृत्तियाँ शान्त हों। [विद्वांस:] जो ज्ञान से युक्त हो। [भैक्षचर्यां] जो भीख माँगकर ही अपना निर्वाह करता हो। [चरन्त:] उससे जीवन व्यतीत करते हैं। [सूर्यद्वारेण] सूर्य या वेद के अनुकूल कर्म उपासना ज्ञान के द्वारा सुषुम्ना नाड़ी द्वारा प्राण त्यागने से। [ते] वे। [विरजा:] मैल से छूटे। [प्रयान्ति] प्राप्त होते हैं अथवा पहुँचते हैं। [यत्र] जहाँ। [अमृत:] मुक्ति अथवा परमात्मा है। [पुरुष:] संसार या शरीर अपने। [हि] निश्चय करके। [अव्यय:] नाश से रहित। [आत्मा] सर्वव्यापक परमात्मा है।

भावार्थ—जो मनुष्य तप अर्थात् सत्य बोलने, प्रत्येक वस्तु के मूल तत्त्व को समझने, इन्द्रियों को विषयों से रोकने, शीतोष्ण

भूख, प्यास और मानापमान के सहने में जो कष्ट होता है, धर्म में श्रद्धा से उसके लिये पुरुषार्थ करते हुए मग्न रहते हैं और शान्त चित्त होकर आत्मज्ञान के सम्बन्ध, विद्या को जानने वाले भीख मांगकर भोजन करने वाले और सूर्यके द्वारा अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में प्राण त्याग कर फल से पृथक् होने के कारण से उस स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ अमृत है, अर्थात् मुक्ति की अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे पुरुष नाशरहित परमात्मा जो सबके भीतर विद्यमान् है जो सबका आत्मा होने से सबसे सूक्ष्म है, उस आत्मा के दर्शन से आनन्द भोगते हैं।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेद-मायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरु-मेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ १२ । २१ ॥

पदार्थ—(परीक्ष्य) इस उत्पन्न होने और नाश होने वाले शरीर की सम्पूर्ण अवस्थाओं का विचार करके। (लोकान्) संसार या शरीर को। (कर्मचितान्) जो पाप और पुण्य कर्म के फल भोगने के लिये मिले हैं। (ब्राह्मण:) वेद के जानने वाला अथवा ईश्वर का पूर्ण विश्वासी। (निर्वेदम्) संसार के भोग से उदास होकर। (आयात्) प्राप्त करने। (नास्ति) नहीं है। (अकृत:) किऐ हुए से पृथक्। (कृतेन) कर्म के फल भोग से। (तत्) उसके। (विज्ञानार्थम्) परमात्मा के ठीक प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के लिये। (स:) वह। (जिज्ञासु) परमात्मा के ज्ञान का इच्छुक (गुरुमेव) गुरु के पास ही। (अभिगच्छेत्) जावे। (समित्पाणि) हाथ में समिधा लेकर। वह गुरु कैसा हो जिसके पास जावे? (श्रोत्रियं) जिसने वेद के द्वारा ब्रह्मज्ञान को सुना भी हो। (ब्रह्मनिष्ठम्) जिसका विचार उस में स्थिर भी हो।

भावार्थ—ब्राह्मण इस जगत् के सम्पूर्ण भोगों को जो उत्पन्न होने और नाश होने के कारण से दुःख ही देने वाले हैं, उनसे मन को राग द्वेष से पृथक् और ऐसी अवस्था में यह विचार करके कि यह शरीर और इसके भोग कर्म से प्राप्त और कर्म का फल समाप्त होने पर नाश हो जावेंगे, क्योंकि यह नित्य रहने वाले नहीं, उस दशा में कर्म फल के विचार को पृथक् करके उस परमात्मा के जानने के लिए ऐसे गुरु के पास जिसने नियम-पूर्वक वेद से ब्रह्म को सुना हो और उसको मनन निदिध्यासन करके साक्षात् भी कर दिया हो, हाथ में समिधा लेकर जावे।

प्रश्न—जिस मनुष्य ने ब्रह्मचर्याश्रम में वेद-विद्या पढ़ ली हो, उसको गुरु के पास जाने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—जब वेद पढ़ते हैं तब श्रवण होता है। जब उसको मनन करते हैं तो बहुत सी शङ्कायें उत्पन्न होती हैं। जब निदिध्यासन करतेहैं तो बहुत बाधा उत्पन्न होतीहै। इसका उपाय अतिरिक्त ब्रह्म को साक्षात् करने वाले गुरु के और से नहीं हो सकता। अतः ब्रह्मचर्याश्रम में जो गुरु होता है वह शब्द ब्रह्म का ज्ञान कराता है अर्थात् वेद को पढ़ाता है और सन्यास आश्रम में जो गुरु होता है, वह ब्रह्म के दर्शन कराता है।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशांतचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥ १३ । २२ ॥

पदार्थ—[तस्मै] उस ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु ब्राह्मण। [सः] वह। [विद्वान्] ज्ञान वाला आचार्य। [उपसन्नाय] पास आये हुए को। [सम्यक्] ठीक प्रकार। [प्रशान्तचित्ताय] जिसका चित्त ब्रह्मचर्य

से नितान्त उज्ज्वल हो गया है। (शमान्विताय) शान्ति के लिए। (येन) जिस प्रकार से। (अक्षरम्) नाशरहित। (पुरुष) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में रहने वाले परमात्मा को। (वेद) जाने, अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान सब प्रकार से हो जावे। (सत्यम्) नित्य रहने वाले अनादि। (प्रोवाच) उपदेश करके बतावे। (तत्त्वत:) तत्त्व के साथ जिस प्रकार की है उसी प्रकार की पढ़ावे। (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्म के जानने के साधनों और उसके स्वरूप को जिसका नाम ब्रह्मविद्या है।

भावार्थ—जब श्रद्धा से पूर्ण ब्रह्मविद्या का अधिकारी जिसने तप से अन्तःकरण के मल दोष को दूर कर लिया हो, जिसने ब्रह्मचर्य से अपने भीतर इस प्रकार का प्रकाश उत्पन्न कर लिया हो, जिससे ब्रह्मज्ञान के उपदेश समझ सके, जिसने योग के अष्टांग के अभ्यास से या वैराग्य के द्वारा मन स्थिर कर लिया हो, जिसके मन में किसी प्रकार की इच्छा शेष न रही हो, जिसका केवल आवरण ही शेष रहा हो, इस प्रकार के ब्रह्मविद्या के समीप आये हुए अधिकारी को वह ज्ञानी आचार्य ब्रह्मविद्या का उपदेश करे।

प्रश्न—इस बन्धन की क्या आवश्यकता है, जो उपदेश सुनने आये, उपदेश करे ?

उत्तर—यदि वैद्य सब रोगियों को एक ही औषधि देने लगे और उनके अधिकार का विचार न करे, तो लाभ के स्थान में हानि अधिक होगी। इसलिए जिसको शिक्षा की आवश्यकता है उसे शिक्षा दे और जिसे कर्मकांड के उपदेश की आवश्यकता है, उसे कर्मकाँड का उपदेश करे, जिससे उसका मन शुद्ध हो जावे। जिसे मन के स्थिर करने के लिए योग के अभ्यास अथवा वैराग्य की आवश्यकता है, उसे उसका उपदेश करे।

प्रश्न—ब्रह्मज्ञान के अधिकारी सब हैं, देखो जिसको उपदेश मिला है सब ही अपने को ब्रह्म बताते हैं ?

उत्तर—यह ब्रह्मज्ञान नहीं,किन्तु तोते की भाँति बिना समझे रटना है। जैसे एक आदमी ने तोते को सिखा दिया "गंगाराम नलकी पर नहीं बैठना"। तोता यह शब्द सीख गया। एक दिन "नलकी" पर जा बैठा और कहने लगा "गंगाराम नलकी पर नहीं बैठना" इसी प्रकार आजकल के ब्रह्मज्ञानी हैं।

प्रश्न—बताया जाता है कि ब्रह्मज्ञान का अधिकार सबको है। कोई इस जन्म में साधन करते हैं; कोई पूर्व जन्म में कर चुके हैं।

उत्तर—साधन करता हुआ देखने की आवश्यकता नहीं किन्तु साधनों से युक्त देखने की आवश्यकता है। अतः साधन किए हुए पुरुषों के जो लक्षण हैं, जिसमें वह पाये जावें उसको उपदेश करे। चाहे इस जन्म में साधन किये हों चाहे पहले जन्म में, लक्षण दोनों में विद्यमान् होंगे। जिस अधिकारी में लक्षण पाये जावें उसको उपदेश करना चाहिये, प्रत्येक को नहीं।

प्रथम मुण्डक का दूसरा खण्ड समाप्त हुआ।

अथ द्वितीय मुण्डक प्रथम-खण्ड

तदेतत्सत्यं-यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाक्षरात् पुरुषः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥१।२३॥

पदार्थ—[तत्] उस कारण के विचार [एतत्] यह बात।

[सत्यम्] ठीक है। [यथा] जैसे भले प्रकार जलती हुई। [पावकात्] अग्नि से। [विस्फुलिंगा:] चिनगारियाँ। [सहस्रश:] अनन्त सहस्रों लक्षों [प्रभवन्ते] उत्पन्न होते हैं। (सरूपा:] उपादान कारण के अनुकूल। [तथा) ऐसे ही। [अक्षरात्] नाशरहित कारण प्रकृति से। [पुरुष:] यह सम्पूर्ण शरीर हाथ पाँव वाले। [सौम्य] शान्त-स्वरूप जिज्ञासु। [भावा] यह सब चैतन्य जीव को दृष्टि पड़ते हैं। [प्रजायन्ते] उत्पन्न होती हैं [तत्र] उसमें। (च एव] और भी। [अपियन्ति] प्रवेश हो जाती हैं।

भावार्थ—इस दृष्टांत से मालूम होता है कि यह 'अक्षर' शब्द नाशरहित प्रकृति के लिये प्रयोग हुआ है। इसमें तो किसी को संदेह नहीं कि जिस प्रकार भली प्रकार प्रज्वलित अग्नि से चारों तरफ चिनगारियाँ फैलती हैं अथवा उत्पन्न होती हैं ऐसे ही इस कारण प्रकृति से प्रत्येक शरीर और अन्य वस्तुओं की सत्ता प्रकाशित होती है, और नाश होकर उसी में प्रवेश हो जाती है।

प्रश्न—अक्षर से यहाँ पर प्रकृति क्यों मानी, परमात्मा क्यों न माना ?

उत्तर—दृष्टांत उपादान कारण का है जिससे स्पष्ट है कि उपादान कारण प्रकृति लेना चाहिये। दूसरे सरूपा शब्द आया हैं जो प्रकृति से ही सम्बन्ध बताता है, जैसा कि श्वेताश्वेतर उपनिषद् में दिखाया है।

प्रश्न—यदि ब्रह्म को ही जगत् का उपादान स्वीकार करलें तो क्या हानि होगी ?

उत्तर--ब्रह्म चैतन्य है, उसको उपादान कारण मानकर कोई जड़ वस्तु संसार में दृष्टि न आवेगी। ब्रह्म सुखस्वरूप है, उसके

उपादान कारण होने पर संसार में कोई दुखी नहीं रहेगा। निदान सम्पूर्ण धर्म शास्त्र, वेद और उपनिषद् व्यर्थ हो जावेंगे। क्योंकि जब सृष्टि एक ही चैतन्य से बनी है, तो ज्ञान का कोई कारण ही न होगा।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥२।२४॥

पदार्थ—(दिव्य) वह परमात्मा जो इस जगत् का बनाने वाला है, प्रकाशस्वरूप है। (हि) निश्चय करके। (अमूर्तः) मूर्ति से रहित। (पुरुषः) वह सब में व्यापक परमात्मा है। (सः) वह। (बाह्याभ्यन्तरः) बाहर और भीतर दोनों ओर विद्यमान् है। (हि) निश्चय करके। (अजः) अजन्मा। (अप्राणः) प्राण रहित। (हि) निश्चय करके। (अमनः) मन से रहित। (शुभ्रः) शुद्ध है। (हि) निश्चय करके। (अक्षरात्) नाशरहित प्रकृति से। (परतः) जो परे है। (परः) उससे भी परे परमात्मा है।

भावार्थ—परमात्मा जो प्रकृति से जगत बनाता है, प्रकाशस्वरूप है और निश्चय करके अमूर्त्त है। उसकी कोई मूर्ति अथवा आकृति नहीं। बाहर-भीतर सब जगह विद्यमान् है। सबसे बड़ा होके सबसे बाहर और सूक्ष्म होने के कारण सब में व्यापक और अजन्मा है, सर्वव्यापक है और निश्चय करके कारण प्रकृति जो नाशरहित तथा सूक्ष्म जीवात्मा से भी सूक्ष्म वह परमात्मा है। इस मंत्र ने स्पष्ट कर दिया कि न तो परमात्मा की कोई मूर्ति हो सकती है, क्योंकि मूर्ति उसे कहते हैं जिसके अवयव जड़ हों और परस्पर मिले हुए हों अतः जिसकी मूर्ति है वह संयोगी तथा जड़ है। परमात्मा नित्य और चैतन्य है, वह न तो स्थूल हो सकते हैं न जड़, क्योंकि संयुक्त वस्तु उत्पन्न होने वाली होती है।

निदान परमात्मा को मूर्तिमान् नहीं कह सकते । निःसन्देह प्रत्येक मूर्ति का स्वामी होने से उसे मूर्तिमान् कह सकते हैं। परन्तु उसका अपना शरीर या मूर्ति कोई नहीं।

एतस्मात् जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३।२५॥

पदार्थ—(एतस्मात्) इस परमात्मा से जिनका वर्णन उपरोक्त हुआ। (जायते) उत्पन्न हुए हैं। (प्राणः) प्राण। (मनः) मन अर्थात्—अन्तःकरण (सर्वेन्द्रियाणि) सर्व इन्द्रियाँ (च) और। (खम्) आकाश। (वायुः) वायु। (ज्योतिः) अग्नि (आपः) जल। (पृथिवी) भूमि। (विश्वस्य) सब जगत् के चराचर। (धारिणी) धारण करने वाली।

भावार्थ—परमात्मा के इन्द्रियाँ क्यों नहीं, इसके लिए बताते हैं कि उस परमात्मा की शक्ति से यह सब प्राण और इन्द्रियां उत्पन्न हुई हैं। उसी से आकाश, वायु, अग्नि, जल उत्पन्न हुए हैं। उसी से सम्पूर्ण जगत् को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न हुई। जब कि परमात्मा से यह सब उत्पन्न हुए हैं तो परमात्मा नित्य कैसे, नित्य में उत्पन्न होने वाले गुण कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? यदि परमात्मा की भी इन्द्रियां स्वीकार की जावें, तो वह इन्द्रियां उत्पन्न होने वाली होने से किसी दूसरे उत्पादक के आधीन होंगी। यदि उसके उत्पन्न करने वाला होगा कोई इन्द्रिय वाला होगा तो उसकी इन्द्रियां भी उत्पन्न होने वाली होंगी, उनके उत्पन्न करने वाला और कोई होना चाहिए, इस कारण क्रम-दोष लग जायगा।

प्रश्न—यदि नित्य में अनित्य के गुण नहीं आ सकते, तो जीव को इन्द्रियों की क्या आवश्यकता हुई ? क्योंकि जीव भी नित्य ही है।

उत्तर—जीव एकदेशी है, उसको अपनी सीमा के बाहर की वस्तुओं के देखने के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता है। और ज्ञान जो बाहर की वस्तुओं का होता है उसके संस्कार मन पर होते हैं। और जीवात्मा अल्पज्ञता के कारण अपने में विचारता है।

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषो चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥४।२६॥

पदार्थ—(अग्निः) अग्नि। (मूर्द्धा) उसके सिर के समान है, जिस प्रकार सिर सबसे उत्तम है, इसी प्रकार सतोगुणी सिर का काम देती है अथवा जिस प्रकार हम मुख में दांतों से चबाकर सूक्ष्म करते हैं, परमात्मा अग्नि से पुरुष को परमाणु रूपा में ले जाते हैं। (चक्षुषः) इस विराट् के नेत्र के स्थान में। (चन्द्रसूर्यौ) चन्द्र और सूर्य हैं। (दिशा) दिशा जो आकाश में है। (श्रोत्रे) वह श्रवण का काम देती है। (वाक्) उसकी वाणी के स्थान में जिससे उपदेश करता है। (विवृतः) फैला हुआ। (वेदाः) ऋग, यजु, साम और अथर्ववेद हैं, जिस प्रकार वाणी से उपदेश करते हैं, परमात्मा वेदों के द्वारा उपदेश करते हैं, परमात्मा की वाणी के काम वेद से निकलते हैं। (वायुः) पवन। (प्राणः) परमात्मा के प्राणों का काम देती है। (हृदयम्) परमात्मा के हृदय के स्थान में। (विश्वम्) जगत्। (अस्य) उसकी है। (पद्भ्यां) पांव के स्थान में। (पृथिवी) भूमि है। (हि) निश्चय करके। (एष) वह परमात्मा। (सर्वभूतान्तरात्मा) सम्पूर्ण तों के भीतर व्यापक होने वाला आत्मा है।

भावार्थ—अब उस परमात्मा का विराट् रूप में उपदेश करते हैं कि अग्नि उसके मुख का काम देती है। और नेत्रों का काम

सूर्य और चन्द्रमा देते हैं और कानों का काम आकाश में रहने वाली दिशाएं देती हैं। और उसकी वाणी का काम वेद देते हैं। जैसे वाणी से जो कुछ उपदेश किया जाता है, उस उपदेश का काम परमात्मा वेदों से लेते हैं। और वायु प्राणों का काम देती है। और हृदय का काम सम्पूर्ण जगत् देता है। और पाँव का काम पृथिवी देती है। वह इन सब के भीतर रहने वाला परमात्मा है। जिस प्रकार शरीर के भीतर नियमपूर्वक हरकत होने से जीवात्मा के होने का प्रमाण मिलता है, इसी प्रकार संसार का नियमपूर्वक क्रियावान् होना परमात्मा की सत्ता का प्रमाण है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो स्वयं कोई भी विकार कर सके, सब विकार परमात्मा के नियम से होते हैं। वह प्रत्येक वस्तु के भीतर रहकर उसको नियम से चला रहा है।

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वी प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥ ५ । २७ ॥

पदार्थ—(तस्मात्) परमात्मा से। (अग्निः) स्थूल दशा में। (समिधः) चलने की क्रिया वाली। (यस्य) जिसका। (सूर्यः) सूर्य है। (सोमात्) चन्द्रमा का अग्नि से। (पर्जन्यः) वर्षा बरसाने वाला मेघ होता है और। (ओषधयः वर्षा से जो अन्य सम्पूर्ण औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। (पृथिव्याम्) जब वह मेघ बरस कर पृथिवी पर गिराता है। (पुमान्) मनुष्य। (रेतः) वीर्य को। (सिञ्चति) सींचता है (योषितायां) स्त्री के भीतर। (बह्वी प्रजा) बहुत प्रकार की प्रजा। (पुरुषात्) पुरुष परमात्मा से। (सम्प्रसूताः) उत्पन्न हुई।

भावार्थ—उससे अग्नि, स्थूल दिशा में जिसको उभारनेवाला सूर्य है उत्पन्न हुआ। क्योंकि अग्नि जो शरीर, इन्द्रिय और विषय

रूप से तीन प्रकार की हुई, वह परमात्मा के कारण से हुई। और चन्द्र में रहने वाली अग्नि से, वायु लगने से एकत्र हो कर बरसने वाले मेघ उत्पन्न हुए। और जब मेघ पृथिवी पर गिरे, तो उनके गिरने सेजो वर्षा हुई उससे औषधियाँ अर्थात् अन्न उत्पन्न हुआ। और अन्न खाने से मनुष्य में वीर्य उत्पन्न हुआ। जब वह वीर्य पुरुष से स्त्री में पहुँचा, तो ऋतुदान के द्वारा बहु प्रकार की प्रजा हो गई। प्रयोजन यह है कि संसार में जो क्रिया नियम से हो रही है और जो कुछ प्रबन्ध चल रहा है वह सबका सब परमात्मा की दी हुई गति से चल रहा है।

प्रश्न—क्या परमात्मा क्रियावान् है जो दूसरे को गति दे रहा है?

उत्तर—सर्वव्यापक परमात्मा किस प्रकार क्रिया करा सकता है, क्योंकि एक स्थान छोड़ कर दूसरे स्थान पर जाने का नाम क्रिया है। परमात्मा कहां नहीं जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर जावे? वह स्वयम् क्रिया नहीं करता, परन्तु दूसरों को क्रिया दे सकता है।

प्रश्न—यह किस प्रकार संभव है कि अचल वस्तु दूसरी वस्तु को चला सके?

उत्तर—जिस प्रकार चुम्बक पत्थर स्वयं अचल होता हुआ लोहे को गति दे सकता है, इसी प्रकार परमात्मा भी स्वयं अचल होता हुआ दूसरी वस्तुओं को चला सकता है।

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरं च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥६।२८॥

पदार्थ—(तस्मात्) उस परमात्मा से। (ऋचः) ऋग्वेद

के मन्त्र उत्पन्न हुए। (साम) उसी से सामवेद उत्पन्न हुआ। (यजूंषि) यजुर्वेद। (दीक्षा) ब्रह्मचर्याश्रम के धारण करने पर जो उपदेश दिया जाता है और जो चिन्ह नियत किये जाते हैं। (यज्ञाः) अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध तक जितने यज्ञ हैं। (च) और। (क्रतवः) दूसरी प्रकार के यज्ञादि कर्म। (दक्षिणा) जो यज्ञ करने वालों को दक्षिणा मिलती हैं अथवा जो कर्म का फल है वह भी दक्षिणा ही है। (च) और। (यजमानः) यज्ञ कम करने वाले। (संवत्सरं) रात, दिन, मास, वर्ष आदि समय के भाग। (च) और। (पवते) प्रकाश करे। (यत्र) जहां। (सूर्यः) सूर्य प्रकाश करे। (सोमः) चन्द्र प्रकाश करे।

भावार्थ—अब बताते हैं कि कर्म करता हुआ किस प्रकार कर्म के अभिमान से बचा रहे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद सब परमात्मा ने ही बनाये हैं और यज्ञ की सामग्री और यज्ञ के नियम और यज्ञ में दक्षिणा देने वाली वस्तुएँ सब उस परमात्मा ने बनायी हैं। रात्रि-दिवस और यज्ञ करने में जिन स्थानों को चन्द्रमा प्रकाश करता है, जिनको सूर्य प्रकाश करता है, वह सब भी परमात्मा की बनायी हुई हैं। उनमें कौनसी वस्तुएं हैं, जिनको मैं अपनी समझ कर अभिमान करूं? निदान जो ऐसा विचार करके यज्ञ करता है, सो केवल अपने कर्त्तव्य को जो परमात्मा ने नियत कर दिया है, पूर्ण करता है, तथा अभिमान से बचा रहता है।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि। प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्य विधिश्च ॥ ७ । २६ ॥

पदार्थ—(तस्मात्) उसी जगत्‌कर्त्ता परमात्मा के बनाने से। (देवा:) देव-ऋषि लोक जो बिना माता-पिता आदि के संसार में उत्पन्न होता है। (बहुधा) बहु प्रकार के। (सम्प्रसूता) उत्पन्न हुए हैं। (साध्या:) इसी जन्म में उन्नति प्राप्त करने योग्य दूसरे प्रकार के देवता। (मनुष्या:) सामान्य बुद्धि वाले। (पशव:) पशु। (वयांसि) पक्षी। (प्राणापानौ) प्राणापानादि वायु। (व्रीहियवौ) अग्निहोत्र करने योग्य चावल, यव। (तप :) शरीर का दर्शन के लिये परिश्रम। (श्रद्धा) श्रद्धा, जो शुभ काम और विद्वानों के भीतर एक प्रकार की आदरदृष्टि होती है। (सत्यं) आत्मज्ञान के अनुकूल कहना। (ब्रह्मचर्यं) वेद के नियमानुकूल इन्द्रियों का रोकना। (विधिश्च) कि इस प्रकार करो, ऐसा मत करो।

भावार्थ—उसी परमात्मा से आदि-संसार में बहुत प्रकार के देव, ऋषि जो बिना माता-पिता के उत्पन्न हुए, उसी परमात्मा से वह ऋषि जो इसी जन्म के कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने के योग्य हैं, उत्पन्न हुए, उसी परमात्मा से सर्व मनुष्य साधारण बुद्धि रखने वाले उत्पन्न हुए, उसी परमात्मा ने चराचर पशु-पक्षी इत्यादिजीव उत्पन्न किये, उसी परमात्मा से प्राण अपान इत्यादि अनेक प्रकार के अन्न उत्पन्न हुए, उसी परमात्मा से तप करने की शक्ति मनुष्यों को प्राप्त हुई, उसके उपदेश से श्रद्धा उत्पन्न हुई, उसने ही संसार में सत्यव्रत का अभ्यास दिया, उसी ने ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का वेद द्वारा उपदेश किया और उसी ने प्रत्येक संकलन विकलन की आज्ञा जीवों को देकर इस योग्य बनाया कि वह अपने जीवन को ठीक प्रकार चला सके। जब सब कुछ परमात्मा ने दिया है, तो वह कौन सी वस्तु है जिस पर हम अभिमान करें ? वह

मनुष्य मूर्ख हैं, जो संसार में दूसरों को नीच समझते हैं। वह मनुष्य मूर्ख हैं, जो कर्म पर अभिमान करते हैं। सबसे अधिक वह मनुष्य मूर्ख हैं जो अपने को दूसरों से उत्तम विचार करते हैं। जिसमें जो कुछ गुण हैं वह परमात्मा से हैं और जो कुछ दोष हैं, वह प्रकृति के संग से। जीव तो व्यर्थ अभिमान करने वाला है।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः। इमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ । ३० ॥

पदार्थ—(सप्त प्राणाः) सात प्राण—सिर में वास करने वाले, नेत्र में वास करने वाले, कान में वास करने वाले दो, नाक में दो, मुख में एक। प्रभवन्ति) उत्पन्न होते हैं। (तस्मात्) उस परमात्मा से। (सप्तार्चिषः) सात प्रकार की किरणें जो सात प्रकार के पृथक्-पृथक् देशों को प्रकाश करती हैं। (समिधः) इस अग्नि को उभारने वाली समिधा। (सप्तहोमाः) सात प्रकार के विषयों के ग्रहण करने वाली शक्ति। (सप्त) सात। (इमे) प्रत्यक्ष। (लोकाः) देखने का कारण अथवा जो दृष्टि पड़ते हैं शरीर मन में। (चरन्ति) क्रिया करते हैं। (प्राणाः) प्राण। (गुहाशयाः) जो सोते समय अन्तःकरण के भीतर स्थिर होते हैं। (निहिताः) स्थिर रहते हुए। (सप्त-सप्त) सात, सात।

भावार्थ—ज्ञानेन्द्रियां और उनमें काम करने की शक्ति देने वाले सब प्राण और उनकी सहायक शक्तियां और कुल प्रबन्ध जो इस शरीर के भीतर स्थित है, जिससे ज्ञानेन्द्रियां और

उनकी प्रकाश शक्तियाँ और उनके सहायक काम करते हैं, सब परमात्मा ने ही बनाये हैं।

प्रश्न—सात प्राणों से क्या प्रयोजन है?

उत्तर—सिर के भीतर जो ज्ञानेन्द्रियों के सात छिद्र हैं, उनको सहायता देने वाली जो प्राण·शक्ति है, वह सात छिद्रों से सम्बन्ध रखते हुए सात प्राण कहलाते हैं।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः। अतश्च सर्वा औषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥९॥३१॥

पदार्थ—(अतः) उस परमात्मा से। (समुद्राः) सम्पूर्ण समुद्र। (गिरयः) समस्त पहाड़। (सर्वे) सब। (अस्मात्) उस परमात्मा से। (स्यन्दन्ते) बह रहे हैं। (सिन्धवः) समस्त नद्यादि। (सर्वरूपाः) उत्तर से दक्षिण को जाने वाली, पूर्व से पश्चिम को जाने वाली, पश्चिम से पूर्व को जाने वाली, दक्षिण से उत्तर को जाने वाली। (अतः) उस परमात्मा से। (च) और। (सर्वाः) सब। (औषधयः) औषधि, अन्न इत्यादि। (रसश्च) सम्पूर्ण रस। (येन) जिससे। (एष) वह परमात्मा। (भूतैः) पञ्चभूतों से बने हुए अस्थि, मांस, चर्बी इत्यादि से। (तिष्ठते) शरीर में स्थित होता है। (हि) निश्चय करके। (अन्तरात्मा) जो शरीर के भीतर रहने वाला जीवात्मा है।

भावार्थ—उस परमात्मा ने ही सम्पूर्ण समुद्र जो संसार को घेरे हुए हैं, इसी लोक के नहीं, किन्तु जितने नक्षत्र ब्रह्माण्ड हैं उनमें जितने समुद्र हैं, पहाड़ हैं और जितने बहने वाले (नद) नदी हैं, चाहे वह उत्तर से दक्षिण को जाने वाले हों

अथवा दक्षिण से उत्तर को, चाहे पश्चिम से पूर्व को और पूर्व से पश्चिम को, सब उसी परमात्मा से उत्पन्न हुई हैं। और उसी परमात्मा से प्रत्येक प्रकार का अन्न और औषधियाँ उत्पन्न हुई । और उसी से शरीर में जितने रस उत्पन्न होते हैं जिनसे, अस्थि माँस,चर्बी इत्यादि शरीर के भाग बने हैं,यह सब उसो परमात्मा से बने हैं, जिस शरीर के भीतर आत्मा रहता है वह सब परमात्मा ने ही बनाया है। जिस देश में रहता है, वह देश भी परमात्मा ने ही बनाया है। जिस महाद्वीप में हैं, वह परमात्मा ने ही बनाया है। जिस भूमि पर वास करते हैं, वह परमात्मा ने ही बनाई है। जिस ब्रह्माण्ड के बहुत छोटे भाग में हमारी भूमि है, वह सब परमात्मा ने ही बनाई है। पहाड़ और समुद्र उसी ने बनाए हैं। भला उससे पृथक् होकर जीव कहाँ शांति पा सकता है ?

पुरुष एवेदं विश्वम् कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहितम् गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सौम्य ॥१०।३२॥

पदार्थ — (पुरुषः) परमात्मा से। (एव) ही। (इदं) यह (विश्वं) जगत। (कर्म) जो कुछ क्रिया की जाती है। (तपः) ज्ञान। (ब्रह्म) वेद। (परामृतम्) महान् अमृत अर्थात्, नाश रहित। (एतद्) इस बात को (यः) जो मनुष्य। (वेद) जानता है। (निहितं) स्थित होकर। (गुहायां) भीतर आधे आकाश में। (सः) वह मनुष्य। (अविद्या ग्रन्थिम्) उलटे ज्ञान की ग्रन्थि को जिससे जीव बंधा हुआ है। (विरकिति) काट डालता है। (इह) इस संसार में। (सौम्य) हे प्रिय पुत्र !

भावार्थ—यह सब जगत् परमात्मा के रहने का स्थान है, इसके भीतर बाहर परमात्मा ही है। जो कुछ कर्म और ज्ञान है,

वह सब परमात्मा का ही है। जो हृदय के आकाश में प्रभु को स्थित करके इस बात को जान जाता है, वह अविद्या की गाँठ को जिससे यह जीव बँधा है, काटकर मुक्त हो जाता है। वह परमात्मा के स्वरूप में इस सारे जगत् को और जगत् में परमात्मा के स्वरूप को देखता है। जैसे घड़े के भीतर आकाश और आकाश के भीतर घड़ा है, ऐसे ही सब स्थान में परमात्मा व्यापक है।

इति द्वितीय मुण्डक का प्रथम खण्ड समाप्तः।

अथ द्वितीय मुण्डक—द्वितीय खण्ड

आविः सन्निहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम् एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥१।३३॥

पदार्थ— (आविः) जो योगी और ज्ञानी मनुष्यों के शुद्ध और स्थिर मन में प्रकाश होता है। (सन्निहितं) जो सर्वदा उनको निकट ही मालूम होता है। (गुहाचरत्) जो ज्ञानियों की बुद्धि में स्थित होता है। (नाम) प्रसिद्ध है। (महत्) सबसे बड़ा। (पदम्) जो प्राप्त होने योग्य। (अत्र) उस अपने अन्तःकरण में मिलने वाले ब्रह्म में। (एतत्) यह मन। (समर्पितम्) ठीक प्रकार लगाया हुआ। (एजत्) कांपने वाले। (प्राणत्) प्राणों के द्वारा मनुष्य और पशु इत्यादि। (निमिषत्) प्राण की चाल से शून्य, मृत्यु अवस्था को पहुँचा हुआ। (च) और दूसरे अन्य जीव पत्थर वृक्ष इत्यादि। (असत्। जो संसारी मनुष्यों को सुख मालूम हो। (वरेण्यं) ग्रहण करने या जानने योग्य। (परम्) सब से सूक्ष्म। (विज्ञानाद्) प्राकृत पदार्थों के ज्ञान से (यत्) जो। (वरिष्ठम्) बहुत ही उच्च है। (प्रजानाम्) मनुष्यों के लिये।

भावार्थ—जिस ब्रह्म की शक्ति से यह जगत् उत्पन्न होता और स्थित रहता व नाश होता है, यद्यपि वह सबसे बड़ा है, तो भी उसका प्रकाश साफ और स्थित मन में योगियों को मालूम होता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब सब देशों में पड़ता है, परन्तु जहाँ निर्मल जल या साफ शीशा हो वहीं दृष्टि में आता है, इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र विद्यमान् है,परन्तु उसका प्रकाश योगियों और ज्ञानियों के हृदय में होता है। अज्ञानी पुरुष सहस्रों जन्म यत्न करने पर उसको नहीं जान सकते, जैसे नेत्र में अञ्जन होता है, तो जिसके हाथ में साफ और सुथरा शीशा हो और प्रकाश में खड़ा हो, वह प्रत्येक स्थान पर नेत्र में अञ्जन को देख सकता है, परन्तु जिसके हाथ में शीशा नहीं और जो अँधेरे में खड़े हैं, या शीशा बहुत मैला है या हिल रहा है, वह सम्पूर्ण संसार में घूमकर भी सुरमा को नहीं देख सकता। प्रयोजन यह है कि ब्रह्म यदि दृष्टि पड़ता है तो योगियों की बुद्धि में दृष्टि आता है और किसी जगह जीवन भर खोज करने से नहीं मिल सकता। दूसरा कोई सुख चाहे वह सांसारिक पदार्थों के प्राप्त होने से हो, चाहे प्रकृति के पदार्थों के चमत्कार से प्राप्त हो, किसी दशा में उस सुख के सामने नहीं आ सकता जो सुख परमात्मा के दर्शन से प्राप्त होता है। वह चक्रवर्ती राज्य और प्रत्येक सांसारिक सुख से करोड़ों अरबों गुणा उत्तम है। उसके सामने सब सुख तुच्छ हैं। जो इस बात को जानता है, उसको कोई कष्ट हो ही नहीं सकता।

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिन्लोका निहिताः लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदुवाङ् मनः तदेतत्सत्यं तदमृतंतद्वोद्धव्यं सौम्य विद्धि ॥१।३४॥

पदार्थ—(यदर्चिमत्) जो प्रकाश का भी प्रकाश है। (यत्) जो। (अणुभ्योअणुः) सूक्ष्म से सूक्ष्म है। (यस्मिन्) जिसके भीतर। (लोकाः) दृष्टि आने वाले पृथिवी, चन्द्र, सूर्य इत्यादि। (निहिताः) स्थित हैं। (लोकिनः) जो लोकों में रहने वाले मनुष्य और पशु इत्यादि हैं। (च) और। (तत्) वह। (एतत्) यह। (अक्षरम्) नाश रहित। (ब्रह्म) परमात्मा है। (सः) वही ब्रह्म। (प्राणः) सब जगत् के प्राण हैं जो। (तत्) वह है। (वाक्) वाणी। (मनः) मन है। (तत्) वह। (एतत्) यह एक रहने वाला है। (तत्) वह। (अमृतम्) अमृत (तत्) वह। (बोधव्यम्) मन से जानने योग्य। (सौम्य) प्यारे पुत्र। (विद्धि) समझ ले।

भावार्थ—जो प्रकाश करने वालों को भी प्रकाश करता है, जो परमात्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, छोटे से छोटा है, जिसमें सम्पूर्ण पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य इत्यादि लोक और उन लोकों में वास करने वाले मनुष्य पशु स्थित हैं,वही नाश रहित ब्रह्म सबसे बड़ा और सबमें व्यापक परमात्मा है। वह सम्पूर्ण जगत् के प्राणों का प्राण और वाणी का वाणी और मन का मन है, और वही तीन काल एक सा रहने वाला और मौत के भय से निर्भय, नित्य मुक्त है अर्थात् अमृत है, और वही लक्ष्य है जिस पर काम करने की आवश्यकता है—इस बात को प्रिय पुत्र ! इस प्रकार जान ले।

धनुर्गृहीत्वौपनिशदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धयीत। आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि॥३।३५॥

पदार्थ — (धनुः) कमान जिससे बाण चलाया जाता है। (गृहीत्वा) पकड़ कर। (औपनिषदं) जो उपनिषदों में अर्थात् ब्रह्म-विद्या की पुस्तकों में दिखाया है। (महास्त्रं) जो बहुत बड़ा अस्त्र है। (शरम्) बाण। (हि) निश्चय करके। (उपास) ब्रह्म और जीव में जो ज्ञान की दूरी है, उसको ध्यान से दूर करके। (निशितम्) तेज। (संधयीत) ठीक लक्ष्य ताक कर। (आयम्य) इस कमान को खींचकर। (तद्भावगतेन) ब्रह्म की भावना से युक्त। (चेतसा) मन के द्वारा (लक्ष्यं) लक्ष। (तत्) वह। (एतत्) है। (अक्षरं) नाश रहित। (सौम्य) प्रिय शिष्य। (विद्धि) जान।

भावार्थ – उपनिषद् का बताया हुआ धनुष हाथ में पकड़ो जो बहुत बड़ा शस्त्र है, उसमें उपासना के बाण अच्छे पैने करके रक्खो, और इस धनुष को खींचकर ब्रह्म के प्रेम में मग्न हुए मन के साथ इस लक्ष्य पर जो अक्षर ब्रह्म के नाम से पुकारा जाता है, ठीक-ठीक आगे लिखे हुए विधान पर लक्ष्य-बेध करो। हे प्रिय शिष्य ! इस नियम को समझो।

प्रणवो धनुःशरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥४।३६॥

पदार्थ — (प्रणवः) ओंकार यह एक। (धनुः) धनु है। (शरः) शर। (आत्मा) आत्मा है। (अप्रमत्तेन) आलस को त्याग और सावधान होकर। (वेद्धव्यं) इस बाण को निशाने पर लगाना चाहिये। (शरवत्) तीर की भांति। (तन्मयः) अपने विचार को बनाकर। (भवेत्) हो जावे।

भावार्थ—ओंकार जो परमात्मा का सर्वोत्तम नाम सबसे

बड़ा कहाता है, वह धनुष है और आत्मा निश्चय तीर है और जिस लक्ष पर बाण लगाना है, वह ब्रह्म अर्थात् परमात्मा है। अर्थात् ओ३म् के द्वारा आत्मा को परमात्मा में लगाना है। क्योंकि धनुष के द्वारा बाण लक्ष पर लगा करता है, परन्तु किस प्रकार इस बाण को लगाना चाहिये बहुत ही सावधानी से, क्योंकि असावधानी से यह बाण नहीं लग सकता। किन्तु, आलस को त्याग, अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ होकर ओंकार के द्वारा जीवात्मा को परमात्मा की ओर लगाना चाहिये। जिस प्रकार धनुष से छूटा बाण सीधा लक्ष की ओर जाता है, बीच में इधर-उधर नहीं जाता, इसी प्रकार आत्मा को सीधा परत्मा की ओर लगाना चाहिये, इधर उधर नहीं भटकना चाहिये ताकि यह आत्मा परमात्मा जैसा हो जावे। जैसे परमात्मा सत्-चित् आनन्द है, इसी प्रकार जीव भी आनन्द प्राप्त करके सच्चि-दानन्द बन जावे। क्योंकि सत्‌चित् तो आत्मा पूर्व ही है,आनन्द परमात्मा से नैमित्तिक प्राप्त हुआ। अतः जीवात्मा जैसा सच्चि-दानन्द बन जावेगा।

प्रश्न—क्या जीव ब्रह्म बन सकता है ?

उत्तर—जो बनता है वह ब्रह्म कहला ही नहीं सकता। जीव ब्रह्म नहीं बनता, किन्तु उसमें ब्रह्मरूपता अर्थात् ब्रह्म जैसे गुण विद्यमान् हो जाते हैं।

प्रश्न— क्या जीव ब्रह्म की भाँति सर्वव्यापक हो जाता है ?

उत्तर—नहीं, केवल ब्रह्म का गुण आनन्द मिल जाने से सत्‌चित्, जीवात्मा ब्रह्मरूप कहलाता है, ब्रह्म नहीं। जैसे लोहा अग्नि में गर्म होकर लाल हो जाता है, उस समय लोहा अग्नि

रूप तो हो जाता है, परन्तु अग्नि नहीं होता। इसी प्रकार जीव में आनन्द के आ जाने से सच्चिदानन्द हो जाता है, परन्तु सर्व-व्यापक इत्यादि गुण नहीं आते, केवल आनन्द गुण आता है।

अस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुचथ अमृतस्यैष सेतुः ॥५॥३६॥

पदार्थ—(अस्मिन्) परमात्मा के भीतर। (द्यौः) सूर्य, चन्द्र, सब लोक अर्थात् ग्रह। (पृथिवी) भूमि। (अन्तरिक्षं) जिसके सहारे वायु और मेघ रहते हैं अर्थात् आकाश। (ओतम्) जिस प्रकार माला की गुरियों में तागा होता हैं, ऐसे पिरोया हुआ। (मनः) मन। (सहप्राणैः) सम्पूर्ण प्राणों के साथ। (च) और। (सर्वे) सब इन्द्रियां इत्यादि। (तम्) उस। (एव) ही। (एकं) एक को। (जानथ) पुरुषार्थ करके साधनों के द्वारा जाना। (आत्मानम्) एक परमात्मा है। (अन्याः) दूसरी। (वाचः) वाणी। (विमुञ्चथ) नितान्त त्याग दो। (अमृतस्य) मुक्ति का। (एष) यह। (सेतुः) पुल है।

भावार्थ—परमात्मा में सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, तारे इत्यादि समस्त लोक रहते हैं, उसी के भीतर आकाश रहता है। प्रयोजन यह है जो पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, तारे आकाश इत्यादि के योग से भी बड़ा है और जिसमें सम्पूर्ण इन्द्रियों के साथ प्राण पिरोये हुए हैं, जिस प्रकार तागे में माला के मनके, हम उस एक को पुरुषार्थ करके जानें। क्योंकि वह आत्मा ही संसार

रूपी सागर से पार उतारने के लिये पुल है। जो इस आत्मा को नहीं जानता, वह दुःखसागर से कभी पार नहीं हो सकता। क्योंकि जिस प्रकार अन्धकार को दूर करने के लिये प्रकाश के अतिरिक्त अन्य साधन नहीं, शीत को दूर करने के लिये गरमी के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं। प्रकृति जड़ अर्थात् परतन्त्र होने से दुःख स्वरूप ही है जिसमें दुःख ही है, उससे दुःख किस प्रकार दूर हो सकता है ? जीवात्मा सुख-दुःख दोनों से पृथक् है, वह स्वाभाविक सुखी है न दुःखी। इसलिये जीवात्मा से दुःख दूर होना भी सम्भव नहीं, केवल परमात्मा ही आनन्दस्वरूप है, उन्हीं से दुःख छूट सकता है। इसलिये परमात्मा को जानने के अतिरिक्त और सब बातों को त्याग दो।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः। स एषो-ऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥६।३८॥

पदार्थ--(अरा इव) जैसे पुट्ठियाँ पहिये की। (रथनाभौ) गाड़ी के पहिया की वेदी में इधर-उधर लगी होती हैं। (संहता यत्र नाड्यः) मिली हैं इसी प्रकार नाभि चक्र में सम्पूर्ण नाड़ियां। (सः) वह परमात्मा। (एषः) इनके। (अन्तश्चरते) सबके भीतर विद्यमान् है। (बहुधा जायमानः) बहुत तरह से प्रकाशित होता है अर्थात् योग, विराग, ज्ञान और मुक्ति से प्रकाश होने वाला। (ओमित्येवम्) ओ३म् इस शब्द के द्वारा। (ध्यायथ) ध्यान करते हुए। (आत्मानम्) जो सब जगत् में व्यापक है। (स्वस्ति) जो कल्याणस्वरूप है अथवा जिसके ज्ञान से ही कल्याण अर्थात् सुख और शान्ति होती है (वः) तुम को। (पराय) दुख के समुद्र से पार करने के लिये। (तमसः) अज्ञान और

अन्धकार से । (परस्तात्) जो पृथक् है जिसको कभी अविद्या और अज्ञान हो नहीं सकता ।

भावार्थ—जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में पुट्ठियां लगी हुई होती हैं, ऐसे शरीर के भीतर रोहे के आकाश में संपूर्ण नाड़ियाँ एक स्थान पर मिल रही हैं । इस स्थान पर योगी पुरुष परमात्मा को योग, वैराग्य और ज्ञान से मन को स्थिर करके उस परमात्मा के स्वरूप को अनुभव करते हैं । उसके ध्यान का विधान यही है कि उसको 'ओ३म्' इस अक्षर के द्वारा जो परमात्मा का सबसे बड़ा नाम है, शब्द का उच्चारण और अर्थ के विचार द्वारा करे । वह ओ३म् तुम्हारे लिये कल्याणकारी, दुःख और भय से छुड़ा कर, सुख और शान्ति और निर्भयता को देने वाला होगा, और उसके जप और विचार से ध्यान करके तुम इस दुःखों के समुद्र से पार जा सकोगे । क्योंकि उस परमात्मा के भीतर किसी प्रकार की अविद्या और अन्धकार नहीं । जो स्वयम् अविद्या और अज्ञान से बचा है, वही तुम को गिराने से बचा सकता है । जो प्रकृति अज्ञान-स्वरूप है और जो जीव अल्पज्ञ होने से अविद्या के चक्कर में आने वाला है, उसके संग से तुम इस अविद्या से पार नहीं हो सकते किन्तु उस ज्ञान स्वरूप परमात्मा की उपासना से ही अविद्या से पार होगे ।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि । दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः । मनोमयः प्राण-शरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्नेहृदयं सन्निधाय । तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥७।३६॥

पदार्थ—(यः) जो । (सर्वज्ञः) सबके जानने वाला । (सर्ववित्)

सबको जानता है। (यस्य) जिसकी। (एष) यह। (महिमा) महानता, बड़ाई। (भुवि) इस पृथिवी पर। (दिव्ये) शुद्ध आकाश में। (ब्रह्मपुरे) ब्रह्माण्ड अर्थात् रोहे जिस में समाधि अवस्था में जीव स्थित होता है। (हि) निश्चय करके। (एष) यह। (व्योम्नि) आकाश में। (आत्मा) सर्वव्यापक। (प्रतिष्ठितः) स्थित है। (मनोमयः) जिस प्रकार कि मन की अवस्था हो वैसा ही दृष्टि आने वाला (प्राणः) प्राण जो इन्द्रियों को चलाते हैं। (शरीरः) शरीर। (नेत्रः) इनको नियम से चलाने वाला। (प्रतिष्ठितः) स्थित रहता है। (अन्ने) भोजन के कारण से। (हृदयं) रोहे में जो आकाश है। (सन्निधाय) उसके सहारे रह कर। (तद्विज्ञानेन) उसके ठीक प्रकार जानने से। (परिपश्यन्ति) सब ओर से देखते हैं या सब स्थान पर देखते हैं। (धीराः) विद्वान् लोग। (आनन्दरूपं) आनन्दस्वरूप। (अमृतम्) जो किसी समय में भी न मरे। (यत्) जो। (विभाति) प्रकाश करता है।

भावार्थ—जो परमात्मा सबका जानने वाला है। जो एक ही काल में सबको जानता है। जिसकी यह महिमा पृथिवी पर प्रकाशित है। जिसकी महिमा में किसी प्रकार का दोष नहीं। जो रोहे कमल में अथवा ब्रह्माँड के छिद्र में दृष्टि में आता है। जो आकाश में व्यापक होकर स्थित है। जो जीवात्मा मन की अवस्था के अनुकूल अपनी दशा को अनुभव करता है। जो शरीर और प्राणों को प्रबन्ध में चलाने वाला है, जो प्राण भोजन से स्थिर रहते हैं। रोहे में स्थित होकर उस परमात्मा के ठीक-ठीक जानने वाले बुद्धिमान् मनुष्य, उस आनन्दस्वरूप अमृत रूप को जो सब पदार्थों को प्रकाश कराता है, उसको प्रत्येक ओर विद्यमान् देखते हैं। कोई ऐसी वस्तु नहीं जो उससे न बनी हो। कोई काम करने वाली शक्ति नहीं, जो उसकी सहायता के बिना काम कर सकती हो। जो कुछ संसार में का

हो रहा है, वह उस परमात्मा की महिमा को प्रकाश करता है, और आकाश के भीतर सूर्य चन्द्र और तारे काम कर रहे हैं वह सब उस परमात्मा के नियम में चल रहे हैं। ब्रह्मांड के भीतर कोई वस्तु नहीं जो इसके नियम को तोड़ सके। इसकी आज्ञा को उल्लंघन करके कोई दण्ड से बच नहीं सकता। कोई बड़े से बड़ा महाराज ऐसा नहीं जो उसके वारण्ट-मृत्यु को एक मिनट के लिये रोक सके। चालीस-चालीस लाख सेना, तोपें और बन्दूकें, गढ़ और भवन रखते हुए भी उसके नियम से स्वतंत्र नहींरह सकते। कोई शक्ति नहीं जो उसके दण्ड से बचा सके।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥८॥४०॥

पदार्थ—(भिद्यते) टूट जाती है। (हृदयग्रन्थिः) रोहे की गाँठ अर्थात् सूक्ष्म शरीर से वियोग हो जाता है। जन्म-मरण में तो सूक्ष्म शरीर से साथ रहता है, परन्तु उस दशा में पृथक् हो जाता है। (छिद्यन्ते) नष्ट हो जाते हैं। टूट जाते हैं। (सर्वसंशयाः) सब प्रकार के सन्देह।(क्षीयन्ते) क्षीण हो जाते हैं (च) और (अस्य) उस ब्रह्मज्ञानी के। (कर्माणि) सब कर्म। (तस्मिन्) उस अवस्था में। (दृष्टे) जब साक्षात् देख लेता है। (परावरे) जो इन्द्रियों से अनुभव होने योग्य नहीं है।

भावार्थ—जब कोई पुरुष इन्द्रियों से अनुभव न होने योग्य परमात्मा को भीतरी ज्ञान-चक्षु से देख लेता है, तब उसके रोहे की गाँठ अर्थात् सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है। सब संदेहों का सम्बन्ध मन से है और मन का सूक्ष्म शरीर से। जब सूक्ष्म शरीर ही न रहा, तो मन कहाँ ? जब मन ही नहीं तो उसमें उत्पन्न होने वाले संदेह कहाँ ? अतः सम्पूर्ण सन्देह दूर हो जाते हैं। और जब मन ही न रहा, जिसमें सब कर्मों के

संस्कार रहते हैं, तो उसमें रहने वाले कर्म किस प्रकार रह सकते हैं ? उस ज्ञानी के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न–क्या सम्पूर्ण कर्म ब्रह्मज्ञानी होने पर नष्ट हो जाते हैं ?

उत्तर—जब तक कर्मों का अभिमान बना है, तब तक ब्रह्मज्ञान या मुक्ति हो ही नहीं सकती। जब मुक्ति होती है, तब कोई कर्म शेष नहीं रहता। जैसे जब दीवाला निकल जावे, तब लेने और देने की समाप्ति हो जाती है।

हिरण्मये परे कोशे विरज ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषाँ ज्योतिस्तद्यदात्म विदोविदुः ॥९।४१॥

पदार्थ–(हिरण्मये) विज्ञानमय कोष में। (परे) अगले कोष में। (विरज) सम्पूर्ण प्रकार के मल से पृथक्। (ब्रह्म) परमात्मा है (निष्कलम्) जिस परमात्मा के प्राण, मन इत्यादि कोई कला नहीं। (तत्) वह परमात्मा। (शुभ्रम्) शुद्ध है। (ज्योतिषां ज्योतिः) सम्पूर्ण सूर्यादि का भी प्रकाश करने वाला है, सूर्यादि सब ही प्रकाशक उसकी शक्ति से, प्रकाश से प्रकाशित हैं। (तत्) वह परमात्मा। (यत्) जिसको (आत्मविदः) आत्मा को जानने वाला। (विदुः) जानते हैं।

भावार्थ—इस शरीर में पाँच कोष हैं अर्थात् एक अन्नमय कोष, दूसरा प्राणमय कोष, तीसरा मनोमय कोष, चौथा विज्ञानमय कोष, पंचम आनन्दमय कोष। निदान विज्ञानमय कोष से पहला जो आनन्दमय कोष है उसमें ब्रह्म का दर्शन होता है जिस पर किसी प्रकार का आवरण नहीं। संसार में जो ब्रह्म को देखते हैं, वह प्रकृति के आवरण से ढँपा हुआ है, परन्तु आनन्दमय कोष के भीतर इस आवरण से शून्य दृष्टि पड़ता है वह परमात्मा शुद्ध है। और परमात्मा प्रकाश करने वाले सूर्य चन्द्र और जीव इत्यादि का भी प्रकाश करने वाला है। उसको वही

मनुष्य जानते हैं, जो जीव को जानते हैं, जिनको जीव के तत्व का ज्ञान नहीं, उनको परमात्मा का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? जो मनुष्य अपनी आँख को नहीं देख सकता, वह नेत्र के सुरमा को किस प्रकार देख सकता है ? अतः वे मनुष्य परमात्मा को जान सकते हैं, जो प्रथम जीवात्मा को जान सकते हैं।

प्रश्न—क्या जीव और ब्रह्म एक हैं ? जीव के जानने से ब्रह्म का ज्ञान होगा ?

उत्तर—जीव ब्रह्म एक नहीं, किन्तु जिस प्रकार नेत्र और सुरमा दो वस्तु हैं, परन्तु उनमें इस प्रकार का सम्बन्ध है कि जो नेत्र को देखता है, वह नेत्र में लगे सुरमा को देखता है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भाँति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०।४२॥

पदार्थ—(न) नहीं। (तत्र) आनन्दमय कोष के भीतर। (सूर्यः) सूर्य। (भाति) प्रकाशकर्ता। (न) नहीं। (चन्द्रतारकं) उस स्थान में चन्द्र, तारे प्रकाश करते हैं। (न) नहीं। (इमा विद्युतः) यह विद्युत जो नेत्र को चकाचौंध करती है। (भान्ति) वहाँ प्रकाश करती हैं। (कुतः) कहां से। (अयम्) यह। (अग्निः) अग्नि। (तमेव) उसके। (भान्तम्) प्रकाश करने से। (अनुभाति) पीछे प्रकाश करते हैं। (सर्वं) सब। (तस्य भासा) उसके प्रकाश से। (सर्वम्) सबके सब। (इदं) यह। (विभाति) प्रकाश करते हैं।

भावार्थ—उस आनन्दमय कोष में जहाँ ब्रह्म के दर्शन करते हैं, यह सूर्य प्रकाश नहीं करता। जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख जुगनू प्रकाश नहीं कर सकता, ऐसे ही जहाँ उस परमात्मा की चमक नहीं वहाँ चन्द्र, तारे, उस स्थान में प्रकाश नहीं करते हैं।

और न नेत्रों को चकाचौंध करने वाली विद्युत् उस स्थान में प्रकाश कर सकती है। और जहाँ चन्द्र, सूर्य, तारे और विद्युत् प्रकाश करें तो वहाँ उस अग्नि के लैम्प और दीपक किस प्रकार प्रकाश कर सकते हैं ? उस परमात्मा के प्रकाश से ही सारे प्रकाशित हुए हैं, परमात्मा के प्रकाश देने के अतिरिक्त बिजली में प्रकाश करने की शक्ति नहीं जिस प्रकार चन्द्र और तारे सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, ऐसे ही सूर्य भी परमात्मा के प्रकाश को लेकर प्रकाश करता है। यदि परमात्मा अपनी शक्ति से परमाणुओं को सतोगुण देकर इस दशा में न लावें, तो कभी सूर्य, चन्द्र और तारे का कहीं नाम भी सुनाई न दे। अतः जो कुछ जगत् में प्रकाश करने वाली वस्तु हैं, वह उस सर्वव्यापक ब्रह्म के प्रकाश को लेकर ही प्रकाश कर सकती हैं।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिण-तश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। ११।४३॥

पदार्थ—(ब्रह्म परमात्मा। (एव) है। (इदम्) प्रत्यक्ष तौर पर। (अमृतम्) नाशरहित। (पुरस्तात्) सामने ब्रह्म है अर्थात् पूर्व की ओर। (ब्रह्म) परमात्मा। (पश्चाद्) पीछे की ओर। (ब्रह्म) परमात्मा है। (दक्षिणतः) दक्षिण की ओर। (उत्तरेण) उत्तर। (च) और। (अधः) नीचे की ओर। (ऊर्ध्वम्) ऊपर की ओर। [प्रसृतं] सब से अधिक फैला हुआ, सबसे बड़ा। [ब्रह्म] परमात्मा। [एव] है। [इदम्] प्रत्यक्ष। [विश्वम्] जगत् में फैला हुआ। [इदम्] प्रत्यक्ष। [वरिष्ठम्] सबसे उत्तम ब्रह्म ही है।

भावार्थ—ब्रह्म जगत् में अविनाशी रूप से विराज रहा है। यह ब्रह्म ही आगे की ओर जहाँ देखें, उधर ब्रह्म है, पीछे

की ओर देखें, तो वहाँ ब्रह्म ही है, यदि दक्षिण की ओर देखें, तो वहाँ ब्रह्म, बांई ओर देखें वहाँ भी ब्रह्म है. ऊपर की ओर, नीचे की ओर, निदान दशों दिशाओ में फैला हुआ है। जितनी वस्तुएं हैं वह एक दूसरे की अपेक्षा बड़ी फैली हुई हैं, परन्तु ब्रह्म सबसे बड़ा और सबसे अधिक फैला हुआ है।

इति द्वितीय मुण्डक का द्वितीय खण्ड समाप्त हुआ।

—o—

अथ तृतीय मुण्डक—प्रथम खण्ड

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ १ । ४४ ॥

पदार्थ—(द्वा) दो अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा। (सुपर्णा) जिनका मालूम होना बहुत ही प्रशंसनीय है, जो देखने योग्य पक्षी अर्थात् चैतन्य हैं। (सयुजा) जो कभी भी पृथक् नहीं होते, जिनका नित्य सम्बन्ध बना हुआ ही रहता है, जो परस्पर बहुत गुणों से अनुकूल होने से मित्र हैं। समानम्) एक हैं। [वृक्षम्] जो वृक्ष की भाँति नष्ट होने वाला जड़ शरीर है अथवा प्रकृति जिसके बहुत अवयव हैं। [परिषस्वजाते] जो वृक्ष के प्रत्येक भाग में व्यापक है। [तयोः] उन दोनों में से। [अन्यः] एक जीवात्मा। [पिप्पलम्] उस वृक्ष के फल को। [स्वादु] स्वाद समझकर। [अत्ति] खाता है। [अनश्नन्यः] दूसरा। उसके फलों को नहीं खाता हुआ। [अभिचाकशीत] वह उसको देखता है।

भावार्थ—इस शरीर रूपी वृक्ष में अथवा प्रकृति में दो चैतन्य पक्षी अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा रहते हैं, जो सदा परस्पर मिले हुए हैं। कभी पृथक् हो ही नहीं सकते क्योंकि जीव के भीतर ईश्वर व्यापक है, जो सर्वव्यापक होने से जीव से कभी पृथक् नहीं हो सकता। जहाँ जीव जाता है, वहीं ईश्वर उसके भीतर विद्यमान् होता है। और चैतन्य होने से इन दोनों में मित्रता है अर्थात् जीव को परमात्मा से ही सुख मिलता है क्योंकि समान गुण वाले के संग में ही उन्नति हुआ करती है। इनमें से जीवात्मा तो उस प्रकृति अथवा शरीर के शुभाशुभ कर्मों के फलों को उत्तम समझ कर भोगता है, परन्तु ईश्वर साथी होकर देखता है।

प्रश्न—प्रकृति को वृक्ष के साथ क्यों उपमा दी और जीव ब्रह्म को पक्षी के साथ ?

उत्तर—वृक्ष जड़ है, इसलिये जड़ प्रकृति के साथ उपमा दी। और पक्षी चैतन्य है, उसको जीव और ब्रह्म के साथ उपमा दी क्योंकि चैतन्य के लिये चैतन्य की उपमा ही उपयुक्त है।

समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्यमहिमानमिति वीतशोकः॥
२।४५॥

पदार्थ—[समाने] एक ही जड़ अचेतन। [वृक्षे] प्रकृति अथवा शरीर में। [पुरुषः] जीवात्मा। [निमग्नः] अहङ्कार से सम्बन्ध उत्पन्न करके, राग द्वेष के चक्कर में बंधा हुआ। [अनीशया] दुःखों की जंजीर से छूटने के अयोग्य विचार करके। [शोचति] यह विचार करता है कि मेरा धर्म नष्ट हो गया, मेरी संतान मर गई, इत्यादि। [मुह्यमानः] मोह के जाल में ग्रसित। [जुष्टं] जब ज्ञान से अथवा योगियों के संग से।

[यदा] जब। [पश्यति] देखता है। [अन्यम्] दूसरे को जो शोक से रहित है। [ईशम्] जो अपने कर्मों के करने में बलवान् है। [अस्य] इसकी। [महिमानम्] उसके बनाये हुए जगत् में उसकी महिमा को। [इति] यह। [वीतशोकः] सम्पूर्ण दुःखों से छूट जाता है।

भावार्थ—एक ही वृक्ष जिसमें जीव और ब्रह्म रहते हैं, जीवात्मा अहंकार की जंजीर से बंधकर अपने को शरीर मानकर यह विचार करता है कि मैं बलहीन हूं। मेरी संतान मर गई, मैं उसको बचा नहीं सका। मेरा धन नष्ट हो गया उसकी रक्षा नहीं कर सका। मेरे मित्र छूट गये। निदान अविद्या के चक्कर में फँसा हुआ इस प्रकार की चिन्ता में लगा रहता है। और अहंकार के कारण उन नष्ट होने वाली वस्तुओं को आत्मा मान लेता है। आप कलकत्ता में है, मकान दिल्ली में, मकान जल जाने का समाचार आता है, रोने लगता है, हाय ! मेरा नाश हो गया यद्यपि आप कुशल पूर्वक विद्यमान हैं। रोग से शरीर कृशतम हो गया, रोने लगता है, शोक में और दुबला हो गया। यद्यपि शरीर हुआ है, आत्मा को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती, परन्तु अविद्या से दुखी होता है। उस अवस्था में दूसरा साथी परमात्मा जो ज्ञान से पूर्ण होने के कारण सब कुछ कर सकता है और दुखों के बन्धन से पृथक् है, उसको न अविद्या में ला सकता है, न दुःख दे सकता है, उसकी उपासना से वह भी शोक से पृथक् हो जाता है। परमात्मा ही की उपासना जीव को दुखों से बचाने वाली है।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य तो जीव ब्रह्म को एक बताते हैं और वेद का सिद्धान्त अद्वैत बताते हैं ?

उत्तर—अद्वैत तीन प्रकार से होता है। एक, स्वरूप के

विचार से जब कोई दूसरी वस्तु न हो। परन्तु परमात्मा ऐसा नहीं, क्योंकि परमात्मा के गुण और नाम बताते हैं कि उसकी प्रजा भी है जिसमें वह व्यापक होने से आत्मा कहता है। दूसरे अद्वैतता होती है गुणों में अर्थात उसके समान गुण किसी में नहीं। तीसरे, अद्वैतता होती है उपासना के विचार से। अतः परमात्मा में दो प्रकार की अद्वैतता है अर्थात् वह एक ही उपास्य है तथा उसके समान गुण किसी दूसरे में नहीं।

प्रश्न—वह गुणों में अद्वैत है, क्या इसका यह अर्थ है कि जो गुण उसमें हैं, वह अन्य में नहीं है ?

उत्तर—यह अर्थ ठीक नहीं क्योंकि उसमें सत्ता का गुण है, वह दूसरे पदार्थों में भी पाया है।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ ३ ॥ ४६ ॥

पदार्थ—(यदा) जिस समय ज्ञान से अथवा समाधि की दशा में योगी (पश्यः) शुद्ध अन्तःकरण वाला ज्ञानी मनुष्य। (पश्यति) देखता है। (रुक्मवर्णं) प्रकाश है वर्ण जिसका। (कर्त्तारम्) जगत् उत्पादक। (ईशम्) सम्पूर्ण जगत् के स्वामी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को। (पुरुषं) जो सब में व्यापक है। (ब्रह्म योनिम्) वेद के कर्त्ता सर्वज्ञ को। (तदा) उस समय। (विद्वान्) वह ज्ञानी पुरुष। (पुण्यपापे) पुण्य और पाप अर्थात् शुभाशुभ कर्म के संस्कारों को। (विधूय) त्याग अर्थात् उस फल से साफ होकर। (निरञ्जनः) राग-द्वेष से पृथक् होकर। (परमम्) अविद्या इत्यादि क्लेशों से रहित जो सबसे सूक्ष्म है। (साम्यम्) उसकी समानता को। (उपैति) प्राप्त कर लेता है अर्थात् उन दुखों से छूट जाता है।

भावार्थ—जिस समय मन के मैल को दूर करके और मन की शक्तियों को एकत्र करके, योगी उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा को जिसके प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है, जो इस सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाला है और जो सबका स्वामी है, जिसकी शक्ति से सब ब्रह्माण्डों का चक्र चल रहा है—चन्द्र, सूर्य और पृथ्वी की चाल, तारों का चक्कर, ऋतुओं का परिवर्तन,उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का विकार—निदान प्रत्येक प्रकार के काम जिसकी शक्ति से चल रहे हैं, जब उसको देख लेता है, तब वह पाप और पुण्य की अभिलाषा और अहंकार के मल को धोकर अर्थात् किसी प्रकार की इच्छा न रहने से और अन्तःकरण के पृथक् हो जाने से परब्रह्म जो परमात्मा है, जो सबसे सूक्ष्म और सबसे बलवान्, उच्च और पूर्ण ज्ञाता, दुःखों के योग से रहित, जिसको कोई पकड़ नहीं सकता, जिसको प्राप्त करके उसके आनन्द गुण मिल जाने से, उसकी समानता को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार वह सत्, चित्, आनन्द स्वरूप है ऐसे ही उसके आनन्द से जीव भी आनन्द प्राप्त करके सम्पूर्ण दुःखों से पृथक् हो जाता है।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवेत नातिवादी। आत्मक्रीडी आत्मरति क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥४।४७॥

पदार्थ—(प्राणः) अपनी शक्ति से सम्पूर्ण जीवों के जीवन का कारण होने से परमात्मा का नाम प्राण। (हि) निश्चय करके। (एष) यह परमात्मा है। (यः) जो। (सर्वभूतैः) सम्पूर्ण जीवों में प्रकट होने वाला है। (विभाति) सबके भीतर रहकर प्रत्येक जीव को अपने नियम

से पाप पुण्य कर्मों का प्रकाश करने वाला। (विजानन्) उसको जानने से। (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष। (भवेत्) होता। (न) नहीं। अति-वादी) अधिक वक्ता, व्यर्थ प्रलापी। (आत्मक्रीडी) अपनी आत्मा में ही आनन्द को प्राप्त करता है। (आत्मरतिः) आत्मा में ही उसको प्रेम होता है, दूसरे से नहीं। (क्रियावान्) अपने ज्ञान के अनुकूल कर्म करता है, तात्पर्य यह कि ज्ञानी पुरुष कर्म करता है, वाणी से नहीं कहता है। (एष) यह। ब्रह्मविदाँ) वेद के ज्ञाताओं में अर्थात् परमात्मा के जानने वालों में। (वरिष्ठः) सबसे उत्तम।

भावार्थ—परमात्मा सम्पूर्ण जीवों के जीवन का कारण है। यदि परमात्मा अपनी शक्ति से संयोग न दे तो कोई जीव जीवित नहीं रह सकता। यह परमात्मा सम्पूर्ण जीवों के भीतर प्रकाश कर रहा है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जो नियमानुकूल चल रहा है परमात्मा की सत्ता का प्रकाश कर रहा है, जिस प्रकार हमारी वाणी का नियमपूर्बक बोलना, हाथ, पाँव का इच्छानुकूल चलना हमारे भीतर नियम से चलाने वाले आत्मा का प्रकाश करता है। जैसे इञ्जन में इच्छुक-क्रिया अर्थात् उसका आगे बढ़ना, पीछे हटना, खड़ा होना इत्यादि ड्रायवर की विद्यमानता के प्रमाण हैं। इञ्जन तो भाप से चलता है परन्तु नियमानुकूल इच्छुक-क्रिया ड्रायवर का प्रमाण देती है। जो उस परमात्मा को जान लेता है, वह ज्ञानी पुरुष अधिक बोलने वाला नहीं होता किन्तु अपने आत्मा के भीतर ही आनन्द भोगता, परमात्मा से ही प्रेम करता, कर्मकाण्डी, सत्यवादी होता है। ब्रह्म के जानने वालों में वही उत्तम है जो मन, वाणी और कर्म का सच्चा है। इस अगले मन्त्र में उस विधान और उन साधनों को बताते हैं जिनसे उस ब्रह्म का ज्ञान होता है। जो मनुष्य ब्रह्म

को साक्षात् करने के लिए दूर-दूर देशों में घूमते हैं या जो पुरुष यह आशा रखते हैं कि गुरु अथवा पीर हमको निकाल कर परमात्मा दिखावेगा वह बहुत ही भूल करते हैं। गुरु मार्ग बता सकता है, दिखा नहीं सकता।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तः शरीरेज्योतिर्मयो हि शुभ्रोयं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥५।४८॥

पदार्थ—(सत्येन) सदा सदा सत्य बोलने, सत्य मानने, सत्य करने से। (लभ्यः) मिलता है, जाना जाना है। (तपसा) इन्द्रियों को विषयों से रोकने और शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा इत्यादि के सहन करने। (हि) निश्चय करके। (एष) यह आत्मा जीवात्मा परमात्मा। (सम्यग्ज्ञानेन) ठीक प्रकार जो वस्तु जैसी है उसको वैसा हो जानना चाहिये। (ब्रह्मचर्येण) सदा वेदानुकूल ८ प्रकार के मैथुनादि से पृथक् रहने से। (नित्यम्) सदा से यही नियम है। (अन्तःशरीरे) इस शरीर में परमात्मा के दर्शन होते हैं। (ज्योतिर्मयः) वह प्रकाशस्वरूप जिसमें अज्ञान और तम का पता भी नहीं। (हि) निश्चय करके। (शुभ्रः) शुद्ध है। (यम्) जिसको। (पश्यन्ति) देखते हैं। (यतयः) संन्यासी पुरुष। (क्षीणदोषाः) जिनके मल, विक्षेप, आवरण दोष नष्ट हो गये।

भावार्थ—जो मनुष्य सत्य पर चलता है अर्थात् सत्य ही बोलता, सत्य ही मानता और सत्य हो करता है, वह आत्मा को जान सकता है, परन्तु वह मनुष्य सत्य पर नहीं चल सकता जो तप का अभ्यासो नहीं जिससे शोतोष्णता, क्षुधा, तृषा और इन्द्रियों को विषयों से रोक सके। जो कष्ट होता है उसके सहन करने का स्वभाव नहीं उत्पन्न किया तो यह हित का स्वभाव नहीं हो सकता। जब तक ठीक-ठीक ज्ञान न हो, क्योंकि जो

जानता है कि क्षुधा, तृषा प्राणों का धर्म है और मैं प्राण नहीं, वृद्ध होना और मरना शरीर का धर्म है, मेरा नहीं, हर्ष, शोक मन का धर्म है, मेरा नहीं, उसमें तो सहने की शक्ति हो सकती है, दूसरे में नहीं। परन्तु ज्ञान उनको हो सकता है जो नित्य ब्रह्मचर्य के साथ नियमानुकूल गुरु से शिक्षा पाते हैं। जिन मनुष्यों ने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं किया, उनको ठीक ज्ञान नहीं हो सकता और जिनको ठीक-ठीक ज्ञान न हो,वह तप नहीं कर सकते, वह सदा आलसी बने रहते हैं और आलसी मनुष्य सन्मार्ग पर नहीं चल सकते। क्योंकि सच्चे को बहुत सी परीक्षाओं में से निकलना पड़ता है। जैसे खरा सुवर्ण कभी अग्नि में जलाया जाता है, कभी परीक्षक को दिखाया जाता है और कसौटी पर घिसा जाता है, किसी को काटकर दिखाया जाता है, इसी प्रकार सत्य की परीक्षा होती है। जो परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है, वही सच्चा ठहरता है। निदान जीवात्मा अपने शरीर में तप करके उस प्रकाशस्वरूप को जिसमें किसी प्रकार की मूल या तम लेशमात्र भी नहीं होता और जो शुद्ध है,जिसको सब मनुष्य नहीं देख सकते किन्तु वे संन्यासी मनुष्य जानते हैं जिन्होंने तीन प्रकार की इच्छा को त्याग कर और कर्मकांड से अन्तःकरण की चञ्चलता को, और अहङ्कार को त्याग देने से आवरण दोष को दूर कर दिया हो। जब तक यह तीन प्रकार की इच्छाएँ और तीन प्रकार के दोष विद्यमान् हैं, कोई भी परमात्मा को नहीं देख सकता और न कोई दिखा सकता है। अतः ब्रह्मज्ञान के इच्छुकों को बाहर के प्रत्येक प्रकार के आडम्बर को त्यागकर भीतर देखने के लिए जो साधन बताए गए हैं उन पर आचरण करना चाहिए।

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥६।४६॥

पादर्थ—[सत्यमेव जयति] सत्य कर्म करके ही मनुष्य मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। [न] नहीं। [अनृतम्] झूठ की जय नहीं होती। [सत्येन] सत्य से। [पन्था] मार्ग जिस पर मनुष्य चल रहे हैं। [विततः] फैला हुआ है। [देवयानः] वेदों के जानने वाले देवतों के कर्म का मार्ग। [येन] जिस मार्ग से। [आक्रमन्ति] परस्पर में उत्साह से चलते हैं। [ऋषयः] वेदों के अर्थ के ठीक-ठीक जाननें वाले ज्ञानी। [हि] निश्चय करके। [आप्तकामा] जिन्होंनें अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करली है, जिस दशा में। [यत्र] जहां पर [तत्] वह। [सत्यस्य] सत्य कर्म करने का। [परमम्] अत्यन्त सुन्दर। [निधानम्] अन्तिम सीमा है।

भावार्थ—अन्त में सत्य की जय होती है, यद्यपि परीक्षा के समय सत्यता निर्बल मालूम होती है। झूठ को कभी सफलता प्राप्त नहीं होती। मुलम्मा कहने से कोई परीक्षा नहीं करता, सोना कहने से उसकी परीक्षा की आवश्यकता होतो है। इसके यह अर्थ नहीं कि मनुष्य सोने से मुलम्मा को अच्छा समझते हैं, इस कारण उसकी परीक्षा नहीं करते। सत्य से ही देवतों के सन्मार्ग का द्वार खुला हुआ है अर्थात् सत्य से मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं, जिस मार्ग से ऋषि मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं, वह वेद के ज्ञानियों का ही मार्ग सत्यता की अन्तिम सीमा है।

प्रश्न—क्या सत्य को सदैव जय होती है? हम तो प्रायः देखते हैं कि सत्य की पराजय होती है।

उत्तर—अन्त में अवश्य सत्य की जय होगी। मध्य में जो

असत्य की जय होती है, वह सत्य की परीक्षा होती है। क्योंकि यदि सत्य पर पूर्ण विश्वास होता है, तो असफलता की दशा में भी सत्य से पृथक् नहीं होता। यदि पूर्ण विश्वास नहीं, तो वास्तव में वह सत्य नहीं।

बृहच्चतद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यन्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥७।५०॥

पदार्थ—(बृहत्) बहुत ही बड़ा। (च) और। (तत्) वह। (दिव्यम्) वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है, उसके देखने को किसी अन्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं। (अचिन्त्यरूपं) जिसके रूप को मन से भी विचार नहीं सकते, मन सब की सीमा पर हो आता है, परन्तु वह इस शक्ति से बाहर है। (सूक्ष्मात्) अति सूक्ष्म से। (च) और (तत्) वह (सूक्ष्मतरं) अधिक सूक्ष्म (विभाति) प्रकाश करता है। (दूरात्) दूर से भी। (सुदूरे) अधिक दूर है। (तत्) वह। (इह) यहाँ। (अन्तिके) निकट ही है। (च) और। (पश्यत्सु) देखनेवालों के भीतर है। (इह) यहां। (एव) भी। (निहितम्) स्थिर है, विद्यमान् है। (गुहायाम्) बुद्धि के भीतर।

भावार्थ—वह परमात्मा सबसे बड़ा और प्रकाशस्वरूप है, जिसके जानने के लिए किसी अन्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं। उसके रूप को मन से भी विचार नहीं सकते, क्योंकि उसके गुण अनन्त हैं और सूक्ष्म प्रकृति और जीव से भी अधिक सूक्ष्म है, इसलिए उनके भीतर व्यापक हो रहा है और उनको प्रकाश देता है, जिसके प्रकाश से यह प्रकृति और जीव काम कर रहे हैं। वह अज्ञानी से दूर है, वे उसे न मक्का जाकर पा सकते हैं और न काशी, द्वारका और रामेश्वर में। और ज्ञानियों के लिए वह इस शरीर के भीतर ही विद्यमान् है। जो

मनुष्य अन्तःकरण को शुद्ध करके विज्ञान से मन की वृत्तियों को स्थिर करके अहङ्कार के आवरण से पृथक् होकर उसको देखना चाहते हैं, उनको यहाँ ही अपनी बुद्धि के भीतर मालूम पड़ता है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा को देखने के लिये कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं, किन्तु अन्तःकरण में देखने की आवश्यकता है। जो मनुष्य परमात्मा को बाहर ढूंढते हैं, उनसे परमात्मा बहुत ही दूर है। और जो हृदय में देखते हैं उनके नितान्त समीप है। बाह्य-ज्ञान से देखने वालों को वह किसी दशा में मिल नहीं सकता और ज्ञान-चक्षु से देखने वाले उसको सदा देखते हैं।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः ॥ ८ । ५१ ॥

पदार्थ (न) नहीं। (चक्षुषा) नेत्रों से (गृह्यते) उसे कोई देख सकता है, क्योंकि वह अनन्त है, सत् है, सूक्ष्म है। (न) नहीं। (अन्यैः देवैः) दूसरी इन्द्रियों के द्वारा। (अपि) भी। (वाचा) वाणी से। (तपसा) तप से। (कर्मणा वा) न कर्म से। (ज्ञान प्रसादेन) ज्ञान द्वारा, भीतर जो राग-द्वेष इत्यादि दोष प्रस्तुत हैं, जब यह दोष दूर हो जावें। (विशुद्ध सत्त्वः) साफ दर्पण की भाँति मन शुद्ध हो जावे। (तत्) उससे। तो। (तम्) उस परमात्मा को। (पश्यति) देखते हैं। (निष्कलम्) निराकार और अनन्त को। (ध्यायमानः) ध्यान करते हुए।

भावार्थ—परमात्मा निराकार है, इसलिये उसको नेत्र नहीं देख सकते और वह अत्यन्त समीप है, इसलिये भी नेत्र देखने में असमर्थ हैं। वह महान् से भी महान् है, इसलिये भी नेत्र देख नहीं देख सकते और न वाणी उसके गुणों की सीमा को बता

सकती है। और न कोई दूसरी इन्द्रियाँ उसको अनुभव कर सकती हैं। और न उसको तप अर्थात् शीतोष्णादि कष्ट सहन करने से जान सकते हैं और न कर्म से उसका ज्ञान हो सकता है। किन्तु अज्ञान के दोषों से रहित होकर जब बुद्धि शुद्ध हो जाती है अर्थात् मन में जो मल-विक्षेप आवरणादि दोष हैं, यह नितान्त दूर हो जाते हैं, तब उस शुद्ध मन से ध्यान करता हुआ उसको देख सकता है।

प्रश्न—इन्द्रियाँ बाहर की चीजों के देखने के लिये हैं, उनसे भीतर नहीं देखा जा सकता। इसलिये जो भीतर देखता है, वह किसी भौतिक इन्द्रिय अथवा मन से नहीं देखा जाता है। जीवात्मा की स्वाभाविक शक्ति जो बुद्धि है, उससे देखा जाता है।

उत्तर—निराकार के अर्थ असंयोग के हैं। क्योंकि आकार कहते हैं नियत वस्तुओं के योग को, जिसका दूसरा नाम स्थूल है। और जिसमें योग न हो, वह निराकार अर्थात् सूक्ष्म है। अतः सूक्ष्म और स्थूल वस्तु अपने गुणों से ग्रहण की जाती हैं। जिसके देखने के लिये जो साधन नियत हैं, उससे वह देखा जाता है, दूसरे से नहीं देख सकते।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश। प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम् यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥६।५२॥

पदार्थ—(एष) यह। (अणुः) सूक्ष्म। (आत्मा) सबमें व्यापक। (चेतसा) पवित्र ज्ञान से जो हर प्रकार के दोष से पृथक् हो। (वेदितव्यः) जानने के योग्य है। (यस्मिन्) जिसके भीतर। (प्राणः) प्राण वायु। (पञ्चधा) पांच प्रकार के प्राण, अपान,

व्यान, समान, उदान, नाम वाले। (संविवेश) ठीक प्रकार प्रविष्ट हो रहे हैं। (प्राणैः) प्राणः: और उसके आश्रय काम करने वाली इन्द्रियों के साथ। (चित्तं) अन्तःकरण। (सर्वं) सब प्रकार के अर्थात् मन और बुद्धि। (ओतम्) मनकों में तागे की भांति पिरोया हुआ है। (प्रजानाम्) प्रजा का। (यस्मिन्) जिस शरीर के भीतर। (विशुद्धे) शुद्ध होने से। (विभवति) अपने स्वरूप को प्रकट करता है। (एष) योगियों को प्रत्यक्ष होने वाला। (आत्मा) परमात्मा।

भावार्थ—उस सूक्ष्म आत्मा को ज्ञान-चक्षु से देख सकते हैं। जिस शरीर में पाँच प्रकार के प्राण ठीक प्रकार प्रविष्ट हो रहे हों, प्राणों से सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और चारों प्रकार के भीतरी यन्त्र अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार उस प्रकार पिरोये हुए हैं, जैसे माला के मनकों में धागा पिरोया होता है। जिस शरीर में चित्त अथवा अन्तःकरण सम्पूर्ण दोषों से शुद्ध हो जाते हैं, अर्थात् मन में मल अथवा दूसरों की क्षति चाहना, चञ्चलता हर समय इच्छा का बढ़ते रहना, आवरण, अहङ्कार से अपनी शक्ति और दशा को अनुभव करना, किन्तु बड़ा मान लेना, और अज्ञान से पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ न जानना किन्तु और का और जानना—यह सब दोष दूर हो जाते हैं, तब चित्त में परमात्मा अपना प्रकाश अरते हैं। और जिस प्रकार किसी बड़े अफसर का आना होता है, तो सम्पूर्ण शहर की सफाई कराते हैं, सम्पूर्ण हाट बाजारों में रोशनी करते हैं, इसी प्रकार जो अन्तःकरण तम-अवस्था में अपवित्र हैं, वहां परमात्मा के दर्शन नहीं होते, किन्तु जो शुद्ध और प्रकाशित है उस चित्त में परमात्मा के दर्शन होते हैं।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मात्चात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः १० । ५३ ॥

पदार्थ—(यम् यम्) जिस जिस को। (लोकं) शरीर को। (मनसा) मन से। (संविभाति) इच्छा करता है। (विशुद्धसत्वः) जिसका मन राग-द्वेष, छल-कपट, आडम्बर से रहित है। (कामयते) इच्छा करते हैं। (याम्) जिनको। (च) और। (कामान्) इच्छाओं को। (तम् तम्) उस उस। (लोकम्) सूर्य, चन्द्रादि अथवा शरीर में। (जायते) उत्पन्न होता हैं। (तान्) उन। (कामान्) इच्छाओं को। (तस्मात्) इस कारण से (चात्मज्ञम्) आत्मा के जानने वाले विद्वान् को। (अर्चयेद्) उसकी सेवा करके, अर्थात् उसका संग करके उसके गुणों को प्राप्त करते हैं। (भूतिकामः) जिसको योग सिद्ध करने की इच्छा हो, क्योंकि उसके संग से वह वैसा बन सकता हैं।

भावार्थ— जिस ज्ञानी पुरुष ने अपना मन शुद्ध कर लिया है, वह जिस-जिस लोक में जाने की इच्छा करता हो, अथवा जिस वस्तु की इच्छा रखता हो, उसको वह प्राप्त कर सकता है। इस कारण जिस मनुष्य को योग की इच्छा हो कि मैं योग सिद्ध करूँ उसको चाहिये कि आत्मा के जानने वाले योगियों की सेवा करे।

प्रश्न—अन्तःकरण की शुद्धि होने पर, मनुष्यों को और दूसरी वस्तुओं की कामना कैसे हो सकती है ? क्योंकि अन्तःकरण के शुद्ध होने का प्रमाण यही है कि तीन प्रकार की वस्तु अर्थात् वित्तैषणा, लोकैषणा, पुत्रैषणा की इच्छा न रहे। जिसको इनकी इच्छा है, उसका मन शुद्ध नहीं। और जिसका मन शुद्ध है, उसको इच्छा नहीं।

उत्तर—इच्छा दो भाँति से होती है, एक अपने स्वार्थ से दूसरे परोपकार के लिये। जिसका मन अपवित्र होता है, उसको अपने लिये इच्छा होती है। और जिसका मन शुद्ध है, उसको दसरों के उपकार की इच्छा होती हैं।

प्रश्न—परोपकार का फल अन्तःकरण की शुद्धि है। जब अन्तःकरण शुद्ध हो गया, तो परोपकार का क्या प्रयोजन ?

उत्तर—जीवात्मा का स्वभाव कर्म करना है, जिससे वह उस दशा के अतिरिक्त जब कि कर्म करने के यन्त्र मन आदि न हों, कर्म से मन की विद्यमानता में खाली नहीं रह सकता। अतः वह शुभ कर्म करे अथवा अशुभ, इसलिये मन के शुद्ध होने पर भी बुद्धिमान् परोपकार करते हैं, जिससे पाप की ओर मन न चला जावे।

प्रश्न—शुद्ध मन वाला ज्ञानी भी पाप कर सकता है ?

उत्तर—मन सदा काम करता है, यदि ज्ञानी उसको सन्मार्ग पर जाने देगा तो वह पाप नहीं कर सकता। यदि उसके स्वभाव के विरुद्ध उसको रोकेगा, तो वह जिस प्रकार अवसर मिलेगा कर्म करेगा। इसलिये मन की शुद्धि के पश्चात् योग के साधनों से उसकी चञ्चलता को रोकने की आवश्यकता विद्वानों ने स्वीकार की है। [तृतीय मुण्डक का प्रथम खण्ड समाप्त।]

—०—

अथ तृतीय मुण्डक—द्वितीय खण्ड

स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्। उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः॥ १। ५४॥

पदार्थ—(सः) वह ज्ञानी पुरुष जिसका विचार ऊपर हो चुका है। (वेद) जानता है। (एतत्) यह प्रत्यक्ष। (परमम्) सबसे सूक्ष्म। (ब्रह्म-धाम) परमात्मा हैं। (यत्र) जिसमें। (विश्वं) यह सम्पूर्ण जो विद्यमान् है। (निहितं) स्थित होकर। (भाति) प्रकशित हो रहा है। (शुभ्रम्) जो शुद्ध है, जिसमें किसी प्रकार का दोष नहीं। (उपासते) उपासना करते हैं। (पुरुषं) उस पुरुष को। (यः) जो ज्ञानी मनुष्य। (हि) निश्चय करके। (अकामाः) निष्प्रयोजन। (ते) वह ज्ञानी मनुष्य। (शुक्रम्) वीर्य को। (एतत्) इस। (अतिवर्त्तन्ति) उसकी शक्ति से बाहर निकल जाते हैं अर्थात् वह विषयभोग नहीं करते। (धीरः) ऐसे बुद्धिमान् योगी।

भावार्थ—उक्त गुणों से युक्त ज्ञानी जान सकता है कि सबसे सूक्ष्म परमात्मा किस स्थान पर दर्शन देते हैं। जिस परमात्मा में यह सम्पूर्ण जगत् स्थिर होकर प्रकाश करता है, उस परमात्मा के अतिरिक्त जगत् की सत्ता का दृष्टि पड़ना कठिन है। क्योंकि जगत् में दो गुण, संयोग और वियोग काम कर रहे हैं जो परस्पर विरोधी हैं। एक से उत्पत्ति होती है दूसरे से नाश। यह दोनों एक ही प्रकृति का गुण तो हो नहीं सकते, अतः एक ही माना जाता है। प्रकृति में स्वाभाविक गुण संयोग मान कर भी दुनियाँ का काम चल नहीं सकता और न वियोग मान कर चल सकता है। अतः शुद्धस्वरूप परमात्मा ही संसार में प्रकाश करते हैं। जो उस परमात्मा की निष्काम उपासना करता है, वह ससार के विषयों में नहीं फंसता, वह वीर्य्य को नहीं गिराता किन्तु अपनी सम्पूर्ण शक्ति परमात्मा की उपासना और ज्ञान में व्यय करता है।

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र । पर्याप्त कामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।।२।५५।।

पदार्थ—(कामान्, कामनाओं को। (यः) जो मनुष्य। (कामयते) चाहता है। (मन्यमानः) मन में उनकी वासना रखता हुआ। (सः) वह मनुष्य। (कामभिः) कामनाओं के कारण। (जायते) उत्पन्न होता है। (तत्र तत्र) उस २ स्थान में जहाँ की इच्छा थी। (पर्याप्त कामस्य) जिसने कामनाओं को पूर्ण कर लिया है, अब उसे कोई इच्छा शेष नहीं। (कृतात्मनः) जिसकी आत्मा, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से पृथक् हो गई है। (तु) तो। (इह) इस संसार में। (एव) ही। (प्रविलीयन्ते) अपने-अपने कारण में प्रवेश हो जाती है। (कामा) उसकी इच्छा।

भावार्थ—जो मनुष्य संसार की कामनाओं में फँसा हुआ निशदिन कामना ही करता रहता है वह अपनी अभिलाषा के अनुकूल बार-बार जन्म लेता है। यदि घोड़े की इच्छा है, तो घोड़े के जन्म में जाता है। यदि स्त्री की इच्छा है तो स्त्री का जन्म लेता है। यदि सूर्य लोक में जाने की कामना है, और वैसे ही काम किये हैं तो सूर्यलोक में जाकर जन्म लेता है। प्रयोजन यह है कि इच्छा से काम करने का परिणाम जन्म है, मुक्ति नहीं। जिसने आत्मा को कामनाओं से अलग करके काम, क्रोध, लोभ, मोह को आत्मा से दूर रहने दिया है और सब कामनाओं को पूर्ण करके उनका फल समझ लिया है और अब उसके मन में कोई भी इच्छा उत्पन्न नहीं होती ? उसकी सब इच्छाएँ अपने-अपने कारण में प्रवेश हो जाती हैं।

प्रश्न—क्या जिस प्रकार की कामना की जावे वैसा ही जन्म होता है ?

उत्तर—जिस प्रकार की इच्छा से यज्ञादि शुभ कर्म किए जावेंगे, वैसा ही जन्म होना सम्भव है।

नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥३।५६॥

पदार्थ—(न) नहीं। (अयमात्मा) यह जीवात्मा, यह परमात्मा। (प्रवचनेन लभ्यो) बहुत से व्याख्यान करने से मिल सकता है। (न) नहीं। (मेधया) बुद्धि से जाना जाता है। (न बहुना श्रुतेन) न बहुत-सी पुस्तकों के पढ़ने से अथवा बहुत से कथावार्त्ता और व्याख्यानों के सुनने से जाना जाता है। (यम्) जिस पुरुष को। (एष) इस जगत् में परमात्मा व्यापक है। (वृणुते) अधिकारी समझकर स्वीकार करता है। (तेन) उस पुरुष को। (लभ्यः) ज्ञान होता है। (तस्य) उसके लिए। (एष) यह जगत्कर्त्ता परमात्मा। (विवृणुते) फैला देता है, प्रकाश करता है। (तनूं) फैलाव को। (स्वाम्) अपने।

भावार्थ—उस परमात्मा को, बहुत पढ़ने अथवा उपदेश करने अथवा व्याख्यान देने से नहीं जान सकते, और न बुद्धि से परमात्मा का ज्ञान होता है और न बहुत से शास्त्रों के सुनने-सुनाने और पुस्तकों के पढ़ने-पढ़ाने से परमात्मा को जान सकते हैं। जिसको अधिकारी देखकर यह आत्मा स्वीकार करता है अर्थात् जिसने ज्ञान, कर्म और उपासना से सम्पूर्ण दोषों को दूर कर लिया है, जिसको आत्मा के जानने के अतिरिक्त और कोई इच्छा नहीं, जिसका आत्मा के अतिरिक्त और भरोसा नहीं,

निदान जिसका सर्वस्व आत्मा ही है, जिसका दूसरी ओर ध्यान ही नहीं, जिसकी बुद्धि पतिव्रता स्त्री की भांति परमात्मा के ध्यान में लगी हुई है, जिसको और विचार करना भी दुःख का कारण मालूम होता है, वह परमात्मा के जानने का अधिकारी है, उसको परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं। सब साधन अधिकारी बनने के लिए हैं। जब अधिकारी बन जाता है, तब परमात्मा उस पर अपने स्वरूप का प्रकाश कर देते हैं।

प्रश्न—एक ओर तो कहा जाता है कि परमात्मा बुद्धि से नहीं जाना जाता। दूसरी ओर कहा जाता है, परमात्मा केवल बुद्धि से जाना जाता है ?

उत्तर—बुद्धि दो भांति की होती है। एक जीवात्मा का स्वाभाविक ज्ञान। दूसरे विशिष्ट बुद्धि। मन की प्रेरणा से परमात्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। स्वाभाविक बुद्धि में समाधि और मुक्ति की दशा में ज्ञान होता है।

नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् । एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वाँस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥४।५७॥

पदार्थ—(न) नहीं। (अयमात्मा) यह परमात्मा। (बलहीनेन) जिसने ब्रह्मचर्य का सेवन करके आत्मिक बल नहीं बढ़ाया। (लभ्यः) वह उसको जान नहीं सकता। (न) नहीं। (च) और। (प्रमादात्) जिसने अभिमान में फँसकर चैतन्य आत्मा की ओर से लापरवाही की है। (तपसः) तप से भी उसको नहीं जान सकते। (वापि आलिङ्गात्) पाखंड से, सम्पूर्ण वैदिक धर्म के लक्षणों को त्याग देने से, ही परमात्मा नहीं जाना जाता। (एतैः) उस ब्रह्मचर्याश्रम को करने और आलस को त्यागने, सत्य, तप करने आदि। (उपायैः) उपायों से। (यतते) परि-

श्रम करता है। (यस्तु) जो कि। (विद्वान्) ज्ञानी मनुष्य। तस्य उसको। (एष:) योग से जानने योग्य। (आत्मा) परमात्मा। (विशते) प्रवेश करता है या देखता है। (ब्रह्म) सबसे बड़े। (धाम) सबके रहने के स्थान परमेश्वर को।

भावार्थ—जिस मनुष्य ने ब्रह्मचर्य धारण करके और कर्म और उपासना से आत्मिक बल प्राप्त नहीं किया, उस शक्ति से शून्य मनुष्य को परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते। और जो अभिमान से लिप्त और नित्य कर्मों से वञ्चित हैं, उनको भी परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते। और न आडम्बरपूर्ण तप से कोई परमात्मा को जान सकता है। और न वैदिक धर्म के लक्षणों को त्यागकर स्वतन्त्रता से उसको जान सकता है। यदि नियमपूर्वक ब्रह्मचारी बनकर, अज्ञान को नाश करके और गृहस्थ आश्रम में परोपकार से मन को शुद्ध करके, इन उपायों से जो वेदों ने बताये हैं, जो विद्वान् पुरुषार्थ करता है, उसको परमात्मा अपने स्वरूप का दर्शन कराते हैं, अथवा वह ब्रह्मधाम में प्रविष्ट होता है। प्रयोजन यह है कि परमात्मा के जानने के लिए बहुत बड़ी शक्ति अर्थात् प्रकृति के विषय की तुलना करनी पड़ती है। प्रत्येक ओर से विषय आत्मा को ले जाना चाहता है। यदि आत्मा में बल नहीं है, तो मन के पीछे लग जाता है। यदि ब्रह्म को उपासना करने से आत्मा बलवान् है, तो विषयों से हटकर परमात्मा की ओर लग जाता है।

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वज्ञं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ।।५।।५८।।

पदार्थ—(सम्प्राप्य) ठीक प्रकार प्राप्त करके। (ऋषयः) वेद जानने वाले ज्ञानी अथवा वैदिक धर्म के आचार्य। (ज्ञानतृप्ताः) बाहर के विषयों को त्याग करके, भीतर के ज्ञान से तृप्त। (कृतात्मानः) जिनकी आत्मा शुद्ध हो गई है अर्थात् ऊपर की उपाधि से पृथक् हो गये हैं। (वीतरागाः) जिनका राग दूर हो गया है। (प्रशान्ताः) शान्त चित वाले। (ते) वह विद्वान् मनुष्य। (सर्वज्ञ) सबके जानने वाला, सर्वव्यापक परमेश्वर। (सर्वत्र) सब ओर से। (प्राप्य) प्राप्त करके। (धीराः) आत्म-दर्शन वाले। (युक्तात्मानः) जिनकी बुद्धि, मन परमात्मा से युक्त है। (सर्वमेव) सर्व कारण का कार्यरूप जगत् को। (अविशन्ति) स्वतंत्रता से घूमते अथवा प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—उस परमात्मा को प्राप्त होकर वेद को जानने वाले ज्ञानी मनुष्य जो ज्ञान से तृप्त हैं, जिनको किसी वस्तु की इच्छा शेष नहीं रही, जिनका आत्मा बाहर की सम्पूर्ण उपाधियों से शुद्ध हो गया है, जिनका राग-द्वेष सब नष्ट हो चुका है, जिनके विषयों की चिन्ता जड़ मूल से जातीरही है। वह मनुष्य इस सर्वव्यापक,सब के ज्ञाता,को सब स्थान पर प्राप्त होकर आत्म विचार में लगे हुए और बुद्धि को परमात्मा की ओर मिलाये हुए सब कारण के कार्यरूप जगत् में स्वतन्त्रता से घूमते हैं। उनको कोई बन्धन नहीं होता और कहीं आने जाने में बाधा नहीं होती। इसलिए वह स्वतत्रता से आनन्द भोगते हुए शान्त-मना हो विचरते हैं।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यास योगाद्यतयः शुद्धसत्वाः। ते ब्रह्म लोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६।५८॥

पदार्थ—(वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः) वेदान्त के पुस्तकों से

उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान है अर्थात् उपनिषद् और वेदान्त दर्शन से जो ज्ञान होता है, उससे जिसने अर्थों का निश्चय कर लिया है। (संन्यास योगात्) या तो वैराग्य द्वारा अर्थात् प्रत्येक सांसारिक वस्तु में दोष मालूम करने से अथवा योगाभ्यास से मन को रोकने से। (यतयः) जिन्होंने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, इससे। (शुद्धसत्वाः) बुद्धि को सब प्रकार के द्वेषों से शुद्ध कर लिया है। (ते) वह ज्ञानी पुरुष। (ब्रह्मलोकेषु) ब्रह्मलोक अर्थात् ब्रह्मदर्शन में। (परान्तकाले) महाकल्प की सीमा तक अथवा पराविद्या से उत्पन्न हुए शुद्ध सुख के अन्तकाल तक। (परामृताः) पराविद्या से मुक्त हुआ जीव। (परिमुच्यन्ति) उस अवस्था से छूट जाते हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य वेदान्त के ग्रन्थों अर्थात् उपनिषदों और वेदान्तसूत्र इत्यादि के मन्त्रों और मन, जीवात्मा और परमात्मा और प्रकृति के स्वरूप को निश्चय कर चुके हैं, वह जीवनमुक्त संन्यास अर्थात् वैराग्य द्वारा सब वस्तुओं में दोष देखने अथवा योग द्वारा मन को ठीक करने से अथवा प्रकृति के त्याग और परमात्मा के योग से मन शुद्ध करके, इन्द्रियों को वश में करने वाले महात्मा ब्रह्मलोक से प्राप्त होकर अर्थात् दर्शन करके पराविद्या से उत्पन्न हुए ज्ञान के अन्त तक पराविद्या से प्राप्त मुक्ति को भोगते हैं और महाकल्प के पश्चात् फिर सब उस दशा से छूट जाते हैं।

प्रश्न—परान्तकाल का अर्थ ब्रह्मायु अथवा महाकल्प, अथवा पराविद्या से परान्तज्ञान का अन्तकाल किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर—यदि ब्रह्मलोक कार्य है जैसे कि शंकराचार्य इत्यादि विद्वानों ने स्वीकार किया है, तो कार्य की आयु भी

होती है। क्योंकि ब्रह्म तो नित्य है उसकी आयु नहीं हो सकती, क्योंकि आयु अनित्य को होती है। नित्य पदार्थों में काल का व्यवहार नहीं हो सकता। इसलिए जिस जगह ब्रह्म की आयु लिखो है, इसका प्रयोजन ब्रह्मलोक की आयु अथवा ब्रह्म-दर्शन का आयु से है। और ब्रह्म-दर्शन पराविद्या से होता है, पराविद्या से प्राप्त ब्रह्म-दर्शन का अन्त परान्त कहलाता है।

गताः कलाः पंचदशः प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति ॥७।६१॥

पदार्थ—(गताः) प्राप्त करके। (कलाः) शरीर से सम्बन्ध रखने वाली प्राणेन्द्रियाँ। (पञ्चदश) पांच प्राण, दस इन्द्रियाँ। (प्रतिष्ठा) अपने कारण। (देवाश्च) विषयों को प्रकाश करने वाली कान आदि इन्द्रियाँ। (सर्वे) सब। (प्रतिदेवतासु) आकाश आदि अपने-अपने कारणों में। (कर्माणि) कर्मों से उत्पन्न हुए संस्कार। (विज्ञान-मयः) ज्ञानस्वरूप जिसको स्वाभाविक व नैमित्तक दोनों ज्ञान हों। (च) और। (आत्मा) जीवात्मा। (परे) सब से उच्च। अव्यये) नाश से रहित। (सर्वे) सब। (एकीभवन्ति) एकत्र होते हैं।

भावार्थ—मुक्ति होने के पश्चात् जीवात्मा के साथ जो पञ्चदश कला अर्थात् पांच प्राण और दश इन्द्रियाँ हैं, वह सब अपने-अपने कारणों में अर्थात् पांच भूतों के भीतर प्रवेश हो जाती हैं। और सूक्ष्म शरीर के कारण में प्रविष्ट हो जाने से सम्पूर्ण कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। कर्मों का सम्बन्ध तब ही तक है जब तक जीव के शरीर और अन्तःकरण में अहंकार है अर्थात् उनको अपना मानता है, और जब यह अहङ्कार नष्ट हुआ, तो सारा सूक्ष्म शरीर अपने कारण में प्रविष्ट हो गया। और

कर्मों का संस्कार भी सूक्ष्म शरीर के साथ हो गया। कर्मों के नाश होने पर जीवात्मा परमात्मा के साथ रहता है और उससे सुख भोग करता है।

प्रश्न—क्या मुक्तिकाल में जीव-ब्रह्म का भेद दूर हो जाता है ?

उत्तर—जीव-ब्रह्म में दूरी थी वह दूर हो जाती है, क्योंकि न तो देश की दूरी थी न काल की, केवल ज्ञान की दूरी थी, वह दूर हो जाने से और ब्रह्म के गुण भी जीव में आ जाते हैं।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥६२॥

पदार्थ—(यथा) जैसे। (नद्यः) नदी। (स्यन्दमानाः) बहते हुए। (समुद्रे) समुद्र में। (अस्तं गच्छन्ति) प्रविष्ट होकर अदृष्ट हो जाती हैं। (नामरूपे) नाम और रूप। (विहाय) त्यागकर अर्थात् जब नदी सागर में मिल जाती है, तब उसका नाम और रूप दोनों ही समाप्त हो जाते हैं। (तथा) ऐसे ही। (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष। (नामरूपात्) नाम रूप से। (विमुक्त) छुटकारा पाकर। (परात्परं) सूक्ष्म से सूक्ष्म, बड़े से बड़ा, चैतन्य से चैतन्य। (पुरुषम्) सर्वव्यापक परमात्मा को। (उपैति) प्राप्त होता है। (दिव्यम्) प्रकाशस्वरूप को।

भावार्थ—जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई समुद्र में जाकर अपने नाम रूप को त्याग कर समाप्त हो जाती हैं, ऐसे ही विद्वान् ज्ञानी पुरुष नाम से जो शरीर के हैं, जो उत्पन्न और नष्ट होने वाले हैं, इन सब से छूटकर अर्थात् शरीर के अहङ्कार से पृथक् होकर मन और इन्द्रियों से सम्बन्ध छोड़कर, अपने भीतर रहने

वाले परमात्मा को जो सूक्ष्म, बड़ा ज्ञानी, धनी से धनी, सुखी से सुखी, निदान प्रत्येक गुण में जो अन्तिम सीमा पर है, जिससे किसी गुथ में कोई समानता नहीं कर सकता, जो प्रकाशस्वरूप सब को प्रकाश करता है, इसको प्राप्त होता है।

प्रयोजन यह है कि जब तक शरीर में अभिमान है, तब ही तक नाम रूप से सम्बन्ध है। क्योंकि सब नाम रूप इत्यादि जीव के नहीं, किन्तु शरीर के हैं। शरीर के नाम रूप में अभिमान करना अविद्या है। जब परमात्मा के ज्ञान से यह अविद्या मिट गई तो बाहर की ओर दृष्टि दूर हो जाने से, वृत्ति भीतर जाकर व्यापक, जो परमात्मा है, उसको प्राप्त करती है।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥९।६२॥

पदार्थ—(स यो ह वै) जो परमात्मा के ज्ञान से पूर्ण हो जावे अर्थात् पूर्ण ब्रह्मज्ञानी हो। (तत्) वह। (परमम्) सबसे उत्तम। (वेद) जाना जाता है। ब्रह्म एव भवति) ब्रह्म के गुणों वाला हो जाता है। अथवा ब्रह्म ही हो जाता है। (न) नहीं। (अस्य) उसके। (अब्रह्मवित्) ब्रह्म को न जानने वाला। (कुले) कुल में। (भवति) होता है। (तरति शोकम्) सम्पूर्ण चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। (तरति पाप्मानं) पापों से छूटता है। (गुहाग्रन्थिभ्यो) बुद्धि में स्थित राग-द्वेष और अविद्या की गाँठ से। (विमुक्तः) छूटकर। (अमृतः) मुक्त। (भवति) हो जाता है।

भावार्थ—जो उस परमात्मा को, जो सब से उत्तम है, जान जाता है, वह परमात्मा के अनुकूल ही हो जाता है। उसके कुल में ब्रह्म के न जानने वाले उत्पन्न नहीं होते। वह सब

शोक, मोह से पार हो जाता है और सब पापों से पृथक् होकर और मन में जो राग, द्वेष और अहङ्कार की गांठ हैं, उन सब से विरक्त होकर मुक्त हो जाता है।

प्रश्न—ब्रह्म के अनुरूप हो जाता है, ऐसा क्यों कहा और मनुष्य तो यह कहते हैं कि वह ब्रह्म ही हो जाता है।

उत्तर—जो हो जाता है, वह ब्रह्म नहीं होता। जो नित्य एक रस है, वह ब्रह्म है। और जिसमें परिवर्तन है वह ब्रह्म नहीं। अतः जो ब्रह्म के ज्ञान से होता है, उसमें ब्रह्मरूपता होती है। जिसका कपिल जी से पता लगता है।

तदेतदृचाभ्युक्तम् क्रियावन्तः श्रोत्रियाब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वते। एकर्षिश्रद्धयन्तस्तेषामेवं तां ब्रह्मविद्याँ वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥१०॥६३॥

पदार्थ—(तदेतदृचाभ्युक्तम्) इस बात में वेद मन्त्र प्रमाण है। (क्रियावन्तः) वेदानुकूल क्रिया करने वाला, वेदों के पढ़ने और पढ़ाने वाला ज्ञानी। (ब्रह्मनिष्ठाः) जिसका मन ब्रह्म में लगा हुआ है। (स्वयम्) अपने आप। (जुह्वते) फल की इच्छा से पृथक् होकर होम करता है। (एकर्षि) जिस कर्म का एक ही वेदरूपी ऋषि बताने वाला है। (श्रद्धयन्तः) श्रद्धा के साथ। (तेषाम्) उनको। (एव) ही (एताम्) इस मुण्डक उपनिषद् नाम की। (ब्रह्मविद्यां) ब्रह्मज्ञान के विधान को। (वदेत्) उपदेश करे। (शिरोव्रतं विधिवत्) सब गुणों का धारण करना, सत् पुरुषों की प्रतिष्ठा करना यह व्रत वेदानुकूल। (यैस्तु) जिन्होंने। (चीर्णम्) वह उस पर चल सकेगी।

भावार्थ—यह उपदेश वेदों में भी कहा है कि जो वेदानुकूल कर्म करने वाला, जिसने वेद का पठन-पाठन सीखा हो और धर्म जानता हो, जिसके चित्त में ब्रह्म जानने की पूर्ण इच्छा

हो, अपनी इच्छा से वेदानुकूल होम करने वाला, श्रद्धा से जिज्ञासु मनुष्यों को इस ब्रह्मविद्या का उपदेश करे। जिसने तप से अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया, जिसका मन एकाग्र न हो, उनको उपदेश न करे। जिनका व्रत यह हो कि वह कभी धर्म के कर्मों को न छोड़ेंगे और दूषित कर्म न करेंगे, उनको उपदेश देने से सफलता होती है। जो अधिकारी नहीं, उनको उपदेश करने से सफलता नहीं होती।

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिरा पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतो-ऽधीते। नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः ॥

११।६४॥

पदार्थ—(तत्) वह। (एतत्) यह ब्रह्मविद्या। (सत्यम्) जो तीन काल में रहती और रहने वाली है। (ऋषि) वेद के ज्ञाता। (अङ्गिरा) ऋषि ने। (पुरोवाच) पूर्व समय में उपदेश किया था। (न) नहीं।(एतद् चीर्ण व्रतोऽधीते) यह ब्रह्मविद्या नहीं पढ़ सकता।(नमः परम ऋषिभ्यः) परमात्मा और वेदज्ञानी को नमस्ते। (नमः परम-ऋषिभ्यः) वेद के तत्व को जानने वालों को नमस्कार।

भावार्थ—प्राचीन समय में यह ब्रह्मविद्या अंगिरा ऋषि ने ऋषियों को उपदेश की थी और कहा था कि इस ब्रह्मविद्या को वह मनुष्य जिसने व्रत के आचरण करने का नियम नहीं रक्खा, न पढ़े। क्योंकि जो अधिकारी नहीं, उसको लाभ नहीं हो सकता। रोगी को औषधि से लाभ हो सकता है, जो रोगी नहीं उसको औषधि हानिकारक है। अधिकार के बिना ब्रह्म-विद्या लाभ नहीं दे सकती। अन्त में परमवेद के ज्ञाता ऋषियों को, जिन्होंने इस ब्रह्मविद्या का प्रचार किया बार-बार नमस्ते हो।

—०—

ओ३म्

माण्डूक्योपनिषद्

—०—

ब्रह्मविद्या में यह उपनिषद् सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और अद्वैतवादियों को प्रिय है। इस पर गौड़पादाचार्य जी ने माण्डूक्यकारिका लिखी है, जो नवीन वेदान्त की मूल समझी जाती है। यद्यपि गौड़पाद की कारिका के दो पादों का अनुवाद प्रथम उपस्थित कर दिया गया है। परन्तु यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस उपनिषद् का शेष पादों के सहित अनुवाद प्रस्तुत किया जावे।

ओमित्येतदक्षरमिदँसर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिती सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥ १॥

पदार्थ—(ओम्) परमात्मा। (इति) जो। (एतद्) यह। (अक्षरम्) नाश रहित है। (इदं) यह। (सर्वं) सब। (तस्य) इसका। (उपव्याख्यानं) प्रकाशित करने वाली। (भूतं) भूत। (भवत्) जो वर्तमान है। (भविष्यत्) जो आने वाला है। (इति) जो। (सर्वम्) सब है। (ओङ्कार एव)

ओङ्कार ही है। (यत्) जो। (च) और। (अन्यत्) दूसरे। (त्रिकालातीतं) तीनों कालों से पृथक् सर्वव्यापक है। (तत्) वह। (अपि) भी। (ओङ्कार एव) ओङ्कार ही है।

भावार्थ—एक नित्य वस्तु ओ३म् ही है, जो कुछ जगत् में दृष्टि पड़ता है सब इसका प्रकाश करनेवाला वही है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब ओंकार ही है। तीनों कालों से परे जो ब्रह्म अथवा प्रकृति अथवा जीव जो सत्स्वरूप हैं, वह भी सब ओंकार ही है। क्योंकि शक्ति और शक्ति वाला दो नहीं होते, इसीप्रकार प्रकृति और जीव, परमात्मा की शक्ति कहने से परमात्मा के साथ ही आ जाते हैं। परमात्मा एक ही है, अतः परमात्मा की प्रजा जीवात्मा और इसकी सम्पत्ति नित्य मिल कर ही परमात्मा बनती है। क्योंकि तीन अक्षर मिलकर ओ३म् बना है, इन्ही तीन वस्तुओं से परमात्मा ओङ्कार कहाता है। यदि व्याप्य प्रकृति न हो, तो परमात्मा को व्यापक अर्थात् आत्मा नहीं कह सकते, यदि शरीर में व्यापक जीवात्मा न हो तो भी परमात्मा नहीं कह सकते, इसलिए ओङ्कार में ही सब आ जाता है, सब ओङ्कार की व्याख्या ही है। जैसे राजा की प्रजा और सम्पत्ति, राजा की महिमा बताने वाली होती है, इसी प्रकार जीव के असंख्य होने और प्रकृति की महत्ता से परमात्मा के गुण का ही प्रकाश होता है। जो कुछ बीत चुका है, इसकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और मृत्यु परमात्मा की सत्ता का प्रकाश करती है, जो कुछ विद्यमान् है उसकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश परमात्मा की सत्ता का प्रकाश कर रहे हैं, जो आगे होगा, वह भी इसी काम को करेगा। निदान कार्य, कारण, प्रकृति और जीव से ओ३म् का ही प्रकाश होता है, इसलिये सब ओम् की ही महिमा समझनी चाहिये।

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मयमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

पदार्थ—(सर्वं) सब। (हि) निश्चय करके। (एतद्) यह। (ब्रह्म) परमात्मा है। (अयमात्मा) यह जो मेरे भीतर व्यापक है। (ब्रह्म) परमात्मा है। (सो) इसलिए (अयमात्मा) यह आत्मा। (चतुष्पात्) चार भागों वाला है।

भावार्थ—यह सब जगत् जो कुछ दीख पड़ता है, ज्ञानियों की दृष्टि में ब्रह्म को शक्ति प्रकाश होने से ब्रह्म ही है। योगी समाधि की दशा में अपने भीतर देखता हुआ परमात्मा के आनन्द को अनुभव करके कहता है कि यह जो मुझमें व्यापक है यह ब्रह्म ही है। सो यह आत्मा चार पाद वाला है। ज्ञानी पुरुष जब संसार में जगत् के नियमानुकूल बनावट को देखता है, तो उसे विचार उत्पन्न होता है कि इसका सम्बन्ध ब्रह्म से है। जब स्वप्न की दशा में देखता है तो वहाँ भी ब्रह्म की महिमा का पता लगता है। जो वस्तु जाग्रत दशा में देखी होती है, उसके संस्कार जो मन में स्थित हो चुके. वे दोखते हैं। जब स्वप्न अवस्था गाढ़ निद्रा में सो जाता है. तब भी ब्रह्म से ही आनन्द प्राप्त करता है, जिससे संसार में रहते हुए भी दुःख दूर हो जाते हैं। जब मुक्ति में शरोर त्याग देता है, तब भी ब्रह्म से ही आनन्द प्राप्त करता है। यह ब्रह्म के चार पाद हैं। दूसरे, प्रकृति सत्य है, जीव सत् चित् है ब्रह्म सच्चिदानन्द और स्वतन्त्र है। यह सत् चित् आनन्द और स्वतन्त्रता ब्रह्म के चार पाद हैं। अब उपनिषद्कार इसको अपने शब्दों में बताते हैं।

जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः सप्तांगएकोनविंशति मुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

पदार्थ—(जागरितस्थानों) जागने की दशा अर्थात् स्थूल शरीर जिसका स्थान है। (बहिः प्रज्ञः) जिसकी बुद्धि बाहर की ओर काम करती है। (सप्तांगः) सात जिसके अङ्ग हैं। (एकोन विंशतिमुखः) उन्नीस जिसके मुख हैं। (स्थूलभुक्) जो स्थूल विषयों को भोगता है। (वैश्वानरः) जो सम्पूर्ण नरों को भोगने वाला है। (प्रथमः पादः) प्रथम पाद है।

भावार्थ—अब ब्रह्म के चार पाद बता कर उसके विभाग बताते हैं, जिसमें जीव जागने की अवस्था में काम करता है। जिसकी बुद्धि बाहर की ओर लगी होती है, जिसके सात अंग उन्नीस मुख हैं, जो स्थूल विषयों को भोगने वाला है, वह वैश्वानर नाम वाला ब्रह्म का प्रथम पाद कहाता है।

प्रश्न—क्या निराकार चैतन्य के भी पाद हो सकते हैं ?

उत्तर—यद्यपि ब्रह्म के पाद नहीं हो सकते, परन्तु समझाने के लिये कल्पना करते हैं, कि जीव की अवस्थाओं के विचार से ब्रह्मज्ञान भी चार भागों में होता है। जिस समय जीव जागता है और अपनी बुद्धि को बाहर के विषय की ओर लगाता है, जब जीव का सात अङ्गों और उन्नीस मुखों से सम्बन्ध होता है, तब वह स्थूल शरीर का अभिमानी होने से स्थूल विषयों को भोगता है। इस दशा में जो किसी क्षण में जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध होता है, उस ब्रह्म को वैश्वानर के नाम से उच्चारण करते हैं, क्योंकि उस समय जगत् के मनुष्य विषय-भोग करते हुए ब्रह्म के आनन्द को विषय का आनन्द विचार करते हैं, परन्तु वह आनन्द उत्तमानन्द नहीं होता।

प्रश्न—जीव के १९ मुख कौन से हैं ?

उत्तर—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार यह सब जीव के मुख कहाते हैं। क्योंकि जिस प्रकार मुख के द्वारा खाना खाते हैं, इसी प्रकार इन्द्रियों इत्यादि के विचार मे जीव बाहर के सुखों को भोगता है। कभी उसको सुख अनुभव होता है, कभी दुख अनुभव होता है। यदि यह उन्नोस न हों, तो जीव ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त नहीं हो सकता। केवल स्वाभाविक ज्ञान जो उसका नित्य है, वही उसको ज्ञात होता।

प्रश्न—अन्य शास्त्रों में सत्रह सूक्ष्म शरीर माने गये हैं। यहाँ पर उन्नीस बताये हैं, इसका कारण क्या है? सत्य कौनसा है?

उत्तर—इसमें अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं। एक मनन वृत्ति जब कि अन्तःकरण के द्वारा किसी वस्तु के होने न होने, सत् असत्, सुख-दुःख के कारण इत्यादि होने का अन्वेषण करता है, उस दशा का नाम मन है। दूसरे, जब अन्तःकरण इन्द्रियों के साथ ब्राह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है, उसका नाम बुद्धि है। तीसरे, जब किसी वस्तु का चिन्तन करता है, जंसे कोई मनुष्य सोचता है कि इस समय मेरे पास १०)रु० हैं, इससे ब्यापार करके दस सहस्र कर लूँगा, पुनः एक लक्ष से एक वाटिका निर्माण कराऊँगा, इसमें सब देशों से एकत्र करके उत्तम-उत्तम फल पुष्पादि लगाऊँगा, फिर उन्हें आनन्द से खाऊँगा। इस प्रकार की दशा का नाम चित्त है। चौथे, जब अपनी सत्ता और उससे सम्बन्धित वस्तुओं को अपना जानता हुआ प्रकाश करता है, इस दशा का नाम अहंकार है। कतिपय आचार्यों ने मन और चित्त और बुद्धि और अहंकार को एक मान कर, क्योंकि इनकी दशाओं में बहुत ही न्यून भेद है, एक स्वीकार कर लिया है। परन्तु वेदान्त शास्त्र ने जिसका

उद्देश्य ही आत्मिक विद्या का प्रचार करना है, उस थोड़े से भेद से भी पृथक्ता प्रकट कर दी है, जिससे सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद विदित हो जावे ।

प्रश्न—अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि और चित्त, अहंकार नित्य हैं अथवा अनित्य ?

उत्तर—इनके दो भेद हैं; एक शक्ति, दूसरे कारण । शक्तियाँ सब जीवात्मा का स्वभाव [गुण] होने से नित्य हैं और कारण सब कार्य होने से अनित्य हैं ।

प्रश्न—जीव की शक्तियां न्यूनाधिक होती हैं, जिनसे विकार सविकार होना स्वीकार किया जाता है, और जो वस्तु विकार वाली होती है, वह उत्पन्न होने वाली होती है । अतः वह शक्तियाँ उत्पन्न होने वाली हैं । और शक्तियाँ जिन्हें जीवात्मा का स्वाभाविक गुण आपने स्वीकार किया है तथा विकार वाली नाशवान् हैं । इसलिये जीवात्मा भी कार्य और नाशवान् स्वीकार करना पड़ेगा ।

उत्तर—जीवात्मा की शक्ति बढ़ती-घटती नहीं, किन्तु उसके साधन अर्थात् कारण बढ़ते-घटते हैं । दूसरे, शक्ति का न्यूनाधिक जीव के विचार से होता है । अतः साधन और विचार में परिवर्त्तन है, न कि जीवात्मा की शक्ति में । यथा हम कभी तो बालकों को बल से तमाचा मारते हैं, जब कि वह दोषी होते हैं । और कभी प्रेम से बहुत हलका मारते हैं । क्या इन दोनों दशाओं में हमारी शक्ति में भेद होता है अथवा विचार में । इसी प्रकार कभी नेत्र सूर्य की रोशनी में देखता है और कभी पर्वत पर से देखता है,तो पचास और सौ कोस तक वृक्ष तथा मकान दीख पड़ते

हैं। और दीप के प्रकाश में अथवा कूप के भीतर घुस कर देखते हैं, तो घर और कूप के बाहर की वस्तु भी नहीं दीख पड़ती। क्या यह साधनों की न्यूनाधिकता है, अथवा नेत्र की शक्ति की। अतः साधन परिवर्त्तन होने से अनित्य हैं और शक्तियाँ एक-रस अर्थात् नित्य हैं। कर्मेन्द्रियों की शक्ति साधनों और विचार से और ज्ञानेन्द्रियों की साधनों से न्यूनाधिक मालूम होती है। वास्तव में वह एक रस है, इसलिये कार्यरूप न होने से शक्ति उत्पन्न होने वाली नहीं और न उन शक्तियों का भण्डार, जीवात्मा उत्पन्न होने वाला है।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य जीव को माया के कार्य और अविद्या उपाधि से अथवा इस अन्तःकरण से मिला हुआ मानते हैं और अन्तःकरण के नाश से जीवात्मा का नाश स्वीकार करते हैं?

उत्तर—यह ब्रह्मविद्या अथवा वेदान्तशास्त्र के अज्ञान के कारण हैं। क्योंकि माया का कार्य अन्तःकरण उपाधि किसने बनाया और किसके वास्ते बनाया। यदि कहो ब्रह्म ने अपनी माया से बनाया तो प्रश्न यह होता है कि ब्रह्म स्वाभाविक कर्त्ता है अथवा नैमित्तिक है। यदि कहो कि स्वाभाविक कर्त्ता है तो जीव नित्य हो जावेगा, इसका नाश मानना अविद्या होगी। क्योंकि ब्रह्म अपने स्वभाव से अन्तःकरण बनाता ही रहेगा और उस उपाधि से ढपा हुआ होने से जीव भी बना रहेगा। यदि ब्रह्म नैमित्तिक कर्त्ता है, तो इरादा दो प्रकार का होता है। लाभ-दायक और अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने का और प्राप्त हानिकारक वस्तु को नाश करने का। अब जिस वस्तु अर्थात् अन्तःकरण को ब्रह्म ने उत्पन्न करने का विचार किया है वह उसके लिये लाभ-दायक होना आवश्यक है। लाभदायक वह वस्तु होती है, जो

दोष को दूर करे अथवा त्रुटि को पूरा करे। अब ब्रह्म ने अपने किस दोष को दूर करने और किस कमी को पूरा करने के लिये अन्तःकरण बनाया। इसका पता नहीं लग सकता, क्योंकि ब्रह्म में न तो कमी है और न कोई दोष है। जब अन्तःकरण के बनाने की आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती, तो विचार से यह कार्य उपाधि उत्पन्न नहीं हो सकती, जिससे जोवका उत्पन्न होना और नाश होना सम्भव हो। अतः जीव को अनादि मानना ही ठीक है। जीव बिना अन्तःकरण के न तो अपने स्वरूप को जान सकता है और न प्रेम के आनन्द को प्राप्त करने के जो साधन हैं, वह कर सकता है। इसलिये जीवों के लिए माया से अपनी दया के कारण अन्तःकरण और सब जगत् बनाता है।

प्रश्न--ब्रह्म में अन्तःकरण के न होने से माया के गुणों को भोगने की शक्ति न थी, इसलिए उसने अन्तःकरण को बनाकर अपनी इस कमी को पूरा किया ?

उत्तर--अन्तःकरण से सर्वज्ञ ब्रह्म अल्पज्ञ हो गया, जिससे ब्रह्म में दोष उत्पन्न हो गया और कोई काम दोष बढ़ाने को नहीं किया जाता। अतः यह विचार सत्य नहीं। दूसरे भोग सुख, दुःख बुद्धि का नाम है। दुःख भोगने की तो किसी को इच्छा नहीं होती और सुख प्रकृति का गुण नहीं। इसलिए दुःख स्वरूप प्रकृति के गुणों के भोगने के योग्य न होना उत्तमता है, कमी नहीं। अतः उत्तमता को दूर करने और दोष को उत्पन्न करने के लिये कोई बुद्धिमान् मनुष्य भी काम नहीं करता, तो सर्वज्ञ ब्रह्म किस प्रकार कर सकता है ? अतः ब्रह्म को जीव बनाना अपने को दोषी बनाना है, जो असम्भव है। ऐसी अविद्या ब्रह्म में नहीं आ सकती, जिससे वह आनन्दस्वरूप होकर दुःख भोगने की इच्छा करे, सर्वज्ञ होकर अल्पज्ञ बन जावे। क्योंकि

ऐसा मानना वेद विरुद्ध है, इसलिये सत्य नहीं। दूसरे ब्रह्म ने अन्तःकरण किससे बनाया ? यदि कहो माया से, तो माया गुण है, अथवा द्रव्य और नित्य है अथवा अनित्य। यदि कहो नित्य है, तो अद्वैत सिद्धान्त गिर गया, क्योंकि ब्रह्म के साथ माया भी नित्य हो गई। यदि कहो अनित्य है, तो उसको ब्रह्म ने किस से बनाया ? यदि माया का उपादान कारण कुछ और बताना होगा, तो इसके सम्बन्ध में भी यही शङ्का होगी। यदि माया को ब्रह्म का गुणी मानकर अद्वैत बताओगे, तो गुण से गुणी उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये संसार में एक भी उदाहरण नहीं मिल सकता, जहाँ गुण से गुणी उत्पन्न होता दृष्टि पड़े।

प्रश्न—क्या तुम ब्रह्म को अद्वैत नहीं मानते ?

उत्तर—हम ब्रह्म को अद्वैत इस प्रकार मानते हैं कि वह नित्य है। उसका ऐश्वर्य प्रकृति अथवा माया भी नित्य है। किसी स्वामी की सम्पत्ति उसको मिल नहीं सकती। इसलिए प्रकृति की विद्यमानता में उसका स्वामी ब्रह्म अद्वैत ही बना रहता है। दूसरे ब्रह्म राजा है, जीव उसकी प्रजा है। किसी राजा की प्रजा भी उसके समान नहीं कही जा सकती, किन्तु सम्पत्ति और प्रजा राजा को वास्तव में राजा सिद्ध करने वाली होती है। नहीं तो बिना सम्पत्ति और प्रजा के राजा शतरञ्ज के खेल से अधिक क्या मान रख सकता है। यदि राजा नित्य होगा तो उसकी सम्पत्ति और प्रजा भी नित्य होगी। जिसकी सम्पत्ति और प्रजा नित्य न हो, वह बनावटी राजा होगा। चाहे वह राज उसने स्वयं उत्पन्न किया हो परन्तु नित्य राजा कभी नहीं होगा।

प्रश्न—यह सब विद्वानों का एक मत सिद्धान्त है कि ब्रह्म सजाति, विजाति और स्वजाति भेद से शून्य है। यदि जीव प्रकृति

को ब्रह्म से अलग सत् माना जावे, तो विजाति भेद तो विद्यमान् रहा जिससे सिद्धान्त बिगड़ जाता है।

उत्तर—प्रथम तो ब्रह्म में जाति हो नहीं क्योंकि जाति बहुतों में होती है। और ब्रह्म एक है इसमें जाति का लक्षण पाया नहीं जाता। दूसरे, जाति का चिन्ह आकृति है और ब्रह्म निराकार है; इसलिये जीव इसमें मौजूद नहीं। जब ब्रह्म में जाति नहीं, तो समान जाति और पृथक् जाति हो ही नहीं सकतो। तीसरे, विजाति का अर्थ यहाँ पृथक् जाति नहीं; किन्तु विरुद्ध जाति है। और जीव, प्रकृति ब्रह्म की प्रजा और सम्पत्ति है इस कारण विरुद्ध है। नहीं तो विजाति वस्तु किस प्रकार हो सकती है?

प्रश्न—सात अङ्ग कौन से हैं ?

उत्तर—अग्नि इसका घर, चन्द्र सूर्य नेत्र, वायु प्राण, वेद उसकी वाणी अथवा रसना, दिशा श्रोत्र, आकाश नाभि, पृथिवी पाँव हैं।

प्रश्न—अग्नि को सिर और पृथिवी को पाँव क्यों कहा ?

उत्तर—अग्नि सतोगुणी होने से सबसे ऊपर का भाग अर्थात् सिर है अर्थात् सतोगुणो जीव मनुष्य जाति का सिर अर्थात् सबसे उच्च है। और पृथिवो तमोगुण है और पाँव सबसे नीचे हैं। इस कारण बताया कि तमोगुणी जीव सबसे नीचे हैं, रजोगुणी मध्यम हैं।

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः॥ ४॥

पदार्थ—(स्वप्नस्थानः) स्वप्न अवस्था। (अन्तः प्रज्ञः)

भीतर की ओर है बुद्धि जिसकी। (सप्ताङ्गः) सात अङ्ग हैं। (एकोनविंशतिमुखः) उन्नीस जिसके मुख हैं। (प्रविविक्तभुक्) बाह्य विषयों के न होने पर भोगने वाली है। (तैजसः) तैजस नाम वाला आत्मा। (द्वितीयः) दूसरा पाद है।

भावार्थ--जिस अवस्था में जीवात्मा स्वप्न देखता है उस समय उसकी बुद्धि अर्थात् मन के जानने वाली वृत्ति अथवा उसका स्वाभाविक ज्ञान संसार में बाह्य विषयों से सम्बन्ध न रखता हुआ सात अङ्गों और उन्नीस मुखों से जिनका उपर्युक्त वर्णन हुआ, उन्हीं पदार्थों को भोगता है कि जिनके संस्कार जागने की दशा में मन पर पड़ गये हैं। इस अवस्या में इसका नाम 'तेजस' कहलाता है और यह दूसरा पाद है।

प्रश्न--क्या स्वप्न अवस्था में वही पदार्थ दृष्टि पड़ते हैं जिनके संस्कार जागने की अवस्था में पड़ गये हैं, अथवा अन्य वस्तु भी दृष्टि पड़ सकती है ?

उत्तर--जाग्रत अवस्था में तो जीवात्मा बाह्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब उतारता है। जिस प्रकार फोटूग्राफर के कैमरे में दो शीशे होते हैं, एक बाहर का शीशा दूसरा भीतर का और प्रकाश की किरणें उस वस्तु के प्रतिबिम्ब को प्रथम शीशे पर डालती हैं, तो वह उलटा पड़ता है। जब दूसरे शीशे पर जाता है, तो सीधा हो जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा फोटूग्राफर के लिये परमात्मा ने यह मनुष्य का शरीर कैमरा बना दिया है जिसके बाहर के शीशा तो इन्द्रियाँ हैं और भीतर का शीशा मन है, इन्द्रियों का सहायक प्रकाश उनके विषय का फोटू इन्द्रियों पर डालता है, जिससे वह उलटा होता है, और मन पर जाकर सीधा हो जाता है। जब जीवात्मा बाहर के शीशों को बन्द कर देता है, तो

नवीन फोटू उतरने बन्द हो जाते हैं। केवल जो कुछ फोटू में उतारा हुआ है, उसी को देखता है। जो वस्तु बाहर न होगी, उसका चित्र शीशे पर नहीं आ सकता। जो चित्र शीशे पर न हो, उसको कैसे देख सकते हैं। अतः स्वप्न में वही जाना जाता है जो कि जाग्रत अवस्था में देखा हुआ होता है। अतिरिक्त जाग्रत के देखे हुए संस्कारों के स्वप्न में कुछ भी नहीं आ सकता। जाग्रत, जीवात्मा के फोटू खींचने की अवस्था का नाम है। और स्वप्न, उस फोटू के देखने का नाम है।

प्रश्न—हम बहुत सी वस्तुएँ स्वप्न में देखते हैं कि जिनको हमने जन्म भर में कहीं नहीं देखा होता ?

उत्तर—यदि इसी जन्म के संस्कार मन में होते, तो यह कहना ठीक था। परन्तु मन में सहस्रों जन्मों के संस्कार विद्यमान् होते हैं, जो वस्तुतः हमारी देखी हुई वस्तुओं के प्रतिबिम्ब होते हैं। परन्तु अल्पबुद्धि हम समझते हैं कि वह हमारी देखी हुई नहीं। वास्तव में जब जीव मुक्ति से लौट कर योनिज सृष्टि में आता है, तब उसको नवीन मन मिलता है। और इस समय से लेकर अब तक जितने जन्म व्यतीत हुए हैं, सब के संस्कार हमारे भीतर प्रस्तुत हैं। जिसको योगीजन जानते हैं, परन्तु दूसरों को ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न—क्या कारण है कि हमारे भीतर जो संस्कार विद्यमान् हैं उनको भी हम नहीं जानते ? और योगी किस प्रकार जानते हैं ?

उत्तर—यदि तुम एक गढ़े में दो फीट गेहूँ (गोधूम) भर दो उसके ऊपर दो फुट चने डाल दो, उसके ऊपर दो फुट यव डाल दो उसके ऊपर दो फुट मकई, इसी प्रकार बीस भांति के

अन्न इस गढ़े में भर दो। फिर ऊपर से देखो तो सबसे पीछे जो चावल डाले हैं वही दृष्टि पड़ेंगे। नीचे वाले सब अन्न मौजूद होते हुए भी दृष्टि नही आवेंगे। यही संस्कारों की अवस्था है। जो समीप के होते हैं वह स्मरण रहते हैं, जिनको देर होती जाती है, वह नवीन पड़ने वालों के नीचे दब जाते हैं। इसको सर्व मनुष्य अनुभव नहीं कर सकते। जो खोद कर देखता है, उसको मालूम होते हैं। योगी का मन और विचारशक्ति ठीक होती है, इस कारण वह इन संस्कारों को मालूम कर सकता है जैसा कि महात्मा कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि—'हे अर्जुन! मेरे तेरे बहुत से जन्म व्यतीत हुए हैं, परन्तु मैं उन जन्मों को जानता हूँ और तू नहीं जानता।''

प्रश्न—बुद्धि स्वीकार नहीं करती कि योगी का ज्ञान इतना बढ़ जावे ? यद्यपि हम गीतादि अवलोकन करते हैं, विद्वानों से श्रवण करते हैं, परन्तु बिना युक्ति मानने को उद्यत नहीं।

उत्तर—जिस प्रकार गंगा एक धार में बहती है, तो इसमें यह शक्ति होती है कि बड़े-बड़े मकानों को बहा ले जाती है परन्तु जब उस गंगा में नहरों के द्वारा छोटी नालियाँ कर दी जातीहैं, तो वह एक ईंट को भी बहा नहीं सकती। ऐसे ही जब मन का भाव वृत्तियों के एकत्र होने से एक ओर चलता है, तो बड़े-बड़े पदार्थों का ज्ञान हो सकता है, सूक्ष्म तथा दूर की वस्तु को जान सकता है। परन्तु जब मन की वृत्ति फैल जाती है, तो उसकी शक्ति न्यून हो जाती है।

प्रश्न—जब कि मन भी आत्मा से बाहर है; तो उसका भीतर स्थान क्यों बताया ?

उत्तर—इन्द्रियों की अपेक्षा मन भीतर है अर्थात् इन्द्रियाँ

बाहर का शीशा और मन भीतर का शीशा है । इस कारण भीतर स्थान में बुद्धि का काम करना बताया है ।

प्रश्न--जाग्रत और स्वप्न अवस्था में क्या अन्तर है ?

उत्तर--हम ऊपर कथन कर आये हैं,कि जीव जाग्रत अवस्था में बाहर की वस्तुओं का फाटू लेता और उससे दुःख-सुख अनूभव करता है । और स्वप्न अवस्था में बिना बाहर की वस्तु होने के, भीतर ही फोटू को देखता है और इसे दुःख-सुख मानता है । अतः जोव की इस अवस्था को जब वह बाहर के विषय की उपस्थिति में सुख-दुःख को अनुभव करता है, 'पशु' कहते हैं । और जब बाहर के विषयों को अनुपस्थिति में सुख-दुःख को भोगता है, उस समय वह तैजस कहाता है ।

प्रश्न--स्वप्न में जिन वस्तुओं को भोगते हैं, उसमें तो प्रभाव शरीर पर भी पड़ जाता है । लेकिन फोटू देखने की दशा में प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता ?

उत्तर--यदि कभी स्वरूपवान का फोटू देखते हैं, तो प्रसन्नता और निकृष्ट आकृति का फोटू देखते हैं तो घृणा उत्पन्न होती है । सहस्रों मनुष्य फोटू देखने से ही मस्त हो गये । इस कारण जो प्रभाव स्वप्न से शरोर पर मन के द्वारा पड़ता है, वही फोटू के देखने से भी पड़ता है ।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ।

पदार्थ--(यत्र) जिस अवस्था में । (सुप्तः) सोया हुआ । (न)

नहीं। (कञ्चन) कामं) किसी काम को। (कामयते) इच्छा करता। न) नहीं। (कञ्चन) कोई। (स्वप्नं, स्वप्न का। (पश्यति) देखता है। (तत्) वह। (सुषुप्तम्) सुषुप्ति की अवस्था है। (सुषुप्तस्थाने) उस स्थान पर। (एकीभूत:) समस्त ज्ञान से। एकत्रित होकर। (प्रज्ञानघन:) अंधेरी रात्रि की भाँति विवेक रहित ज्ञानवाला। (एव) है। (आनन्दमय:) आनन्द युक्त। (आनन्दभुक्) आनन्द को भोगता है। (चेतोमुख) केवल स्वाभाविक ज्ञान हो जिसका मुख है। (प्राज्ञ:) प्राज्ञ नाम वाला (तृतीय:पाद:) यह तीसरा पाद है।

भावार्थ—जब यह जीवात्मा बाहर के ज्ञान से पृथक् होकर ऐसी अवस्था में चला जाता है, जहाँ उसकी इच्छा शेष नहीं रहती और न किसी प्रकार का स्वप्न देखता है (अर्थात् पूर्व देखे हुए ज्ञान का भी कुछ प्रभाव शेष नहीं रहता तथा बाहर के ज्ञान से नि:सम्बन्ध होकर और बाहर के ज्ञान के कारण इन्द्रियों और मन के सम्बन्ध को त्याग कर जब भीतर की ओर लग जाता है) उस अवस्था का नाम सुषुप्ति है। उस अवस्था में सब बाह्य ज्ञानों के दूर हो जाने से, विवेक से रहित ज्ञान; जैसे अंधेरी रात में नेत्र लाल काले रूप के विवेक से रहित होकर अंधेरा ही अंधेरा देखते हैं। इसी प्रकार जीवात्मा भीतर देखता है, उस समय एक ही दृष्टि आती है, और आनन्द स्वरूप परमात्मा के आनन्द को जो बाहर की ओर लग जाने से दूर हो गया था, भोगता है। उस समय भोगने का साधन केवल स्वाभाविकज्ञान जो जीवात्मा का जातीय गुण है, प्रस्तुत होता है। कोई अन्य यन्त्र मन इत्यादि नहीं होता। इस अवस्था में जीव का नाम प्राज्ञ होता है। यह तीसरा पाद है।

प्रश्न—क्या स्वप्न की दशा में जीवात्मा आनन्द भोगता है?

उत्तर—अवश्य, तीन दशाओं में जीव को ब्रह्म का गुण आनन्द मिलता है। एक समाधि की अवस्था में, दूसरे सुषुप्ति की

अवस्था में,तीसरे, मुक्ति की अवस्था में। अतएव महर्षि कपिलजी सांख्यदर्शन में लिखते हैं—"समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्म रूपिता" अर्थात् समाधि,सुषुप्ति और मुक्ति इन तीन अवस्थाओं में सतचित् स्वरूप आत्मा ब्रह्म के गुण नैमित्तिक आनन्द से ब्रह्मरूपित अर्थात् सच्चिदानन्द अवस्था को प्राप्त होताहै, अर्थात् उस अवस्था मेंजीव भी सच्चिदानन्द कहाता है। जैसे लोहे का गोला अग्नि में पड़ने से उष्ण होकर अग्नि,के गुण वाला हो जाता है, तो उसमें अग्नि का गुण जलाना इत्यादि मौजूद होते हैं, परन्तु अपने गुण भार इत्यादि भी उपस्थित रहते हैं। इसी प्रकार जीव में ब्रह्म का गुण आनन्द आ जाता है; परन्तु उसका अपना गुण अल्पज्ञान भी मौजूद होता है। जिस प्रकार अग्नि रूप लोहे के गोले को अग्नि कह सकते हैं। ऐसे ही समाधि की अवस्था मे जीव को ब्रह्म भी कह सकते हैं परन्तु वह कहना उपचार से होता है, वास्तव में नहीं।

प्रश्न—समाधि, सषुप्ति और मुक्ति के स्वरूप में क्या अन्तर है ?

उत्तर—जब ज्ञान सहित और शरीर सहित जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध होता है, उस अवस्था का नाम समाधि है। और जब शरीर सहित और ज्ञान रहित जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध हो, उस अवस्था का नाम सुषुप्ति है। औरशरीर रहित और ज्ञान सहित जीव का ब्रह्म से सम्वन्ध हो, उस अवस्था का नाम मुक्ति है।

प्रश्न—क्या स्थूल शरीर की विद्यमानता में ब्रह्म से जीव का सम्वन्ध हो सकता है ?

उत्तर—जब तक स्थूल शरीर का जीव को अभिमान है, तब तक ब्रह्म से सम्बन्ध हो नहीं सकता। परन्तु समाधि और सुषुप्ति

में जब अभिमान नहीं रहता, तो ब्रह्म से सम्बन्ध हो जाता है। क्योंकि जीव को बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध कराने वाला अहङ्कार ही है और समाधि, सुषुप्ति की दशा में अहङ्कार विद्यमान नहीं होता। जब अहङ्कार न हो, तो उसका प्रकृति से सम्बन्ध नहीं हो सकता। जब प्रकृति से सम्बन्ध नहीं;तो ब्रह्म के साथ सम्बन्ध अवश्य होगा। क्योंकि चेतन जीवात्मा बिना सम्बन्ध के नहीं रहता।

प्रश्न—क्या सुषुप्ति में ज्ञान रहता है जिससे वह आनन्द भोगता है ?

उत्तर--जीवात्मा का स्वाभाविक गुण ज्ञान है, वह जीव से किस प्रकार पृथक् हो सकता है। जिस प्रकार अग्नि से उष्णता का पृथक् होना असम्भव है ऐसे ही जीव से ज्ञान का पृथक् होना भी असम्भव है। यदि बाहरी ज्ञान के साधन होंगे, तो बाहर की वस्तुओं को जानेगा, यदि साधन न होंगे तो भीतर की वस्तुओं को जानेगा। अतः जब जाग उठता है, तो कहता है कि आज मैं सुख से सोया जिससे स्पष्ट विदित होता है कि उसको इस बात का ज्ञान था कि सुख है।

प्रश्न--बहुत मनुष्य कहते हैं कि सोने के समय ज्ञान नहीं होता। जब जाग कर देखता है, तब कहता है। क्योंकि जागने से पूर्व कोई नहीं कहता।

उत्तर--यदि ऐसा स्वीकार किया जावे, तो मूर्खता ही कहलावेगी। क्योंकि जिस समय ज्ञान नहीं था उस समय सुख था और जब ज्ञान हुआ, तब सुख नहीं। तब सुख से सोने को किस प्रकार प्रकट कर सकते हैं। ऐसा कहने वाले महाशय सुख के स्वरूप से भी अनभिज्ञ हैं। सुख दुःख दोनों ज्ञान हैं। यदि ज्ञान न हों, तो सुख कह ही नहीं सकते।

प्रश्न—फिर योग दर्शन में क्यों लिखा है कि ज्ञान की अभाव-वृत्ति का नाम निद्रा है ?

उत्तर—योग दर्शन के कर्त्ता का आशय बाह्य ज्ञान से है अतः निद्रा की अवस्था में बाहरी ज्ञान का अभाव होता है ।

प्रश्न—इसका क्या प्रमाण है कि बाहर का ज्ञान नहीं होता और भीतर का ज्ञान होता है ?

उत्तर—प्रथम तो जीवात्मा का चेतन होना ही इसका प्रमाण है क्योंकि चेतन किसी समय भी ज्ञान से शून्य नहीं रह सकता । द्वितीय, सुषुप्ति में सुख होना भी इस बात का प्रमाण है कि सुख अनुकूल ज्ञान का नाम है। तृतीय, जाग कर यह कहना भी प्रमाण है कि आज ऐसा सुख से सोया कि कुछ स्मरण नहीं रहा । जिससे स्पष्ट विदित है कि बाहर की कुछ सुध न थी केवल सुख की सुध थी । अब जीव की तीनों अवस्थाओं का कथन करके जिससे भीतर जाकर जीव—समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति में आनन्द को प्राप्त होता है, उस ब्रह्म का कथन करते हैं ।

एष सर्वेश्वर एव सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः । सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

पदार्थ—[एषः] यह । [सर्वेश्वरः] सबका स्वामी । [एषः] यही । [सर्वज्ञः] सब कुछ जानने वाला । [एषः] यह । [अन्तर्यामी] सब के भीतर रहकर नियमानुकूल चलाने वाला । [एषः] यही । [योनिःसर्वस्य] सब जगत् का कारण । [प्रभवः] उत्पन्न होने का स्थान । [अप्ययौ] सुख पाने । [भूतानाम्] भूतों के ।

भावार्थ—यह परमात्मा सब का स्वामी है, जो सब के कर्मों को जानने वाला है। जो सर्वव्यापक होकर उनको नियमानुकूल चला रहा है, यही सबका निमित्त कारण है और अपने ऐश्वर्य से

ही कुल जगत् को बनाता है और सम्पूर्ण जीव उसी से सुख पाते हैं। जब जीव अपनी तीन दशाओं से पार होकर, भीतर जाकर परमात्मा के दर्शन करता है तब उसको परमात्मा के आनन्द की प्राप्ति होती है। तब वह यह कहता है कि यह जो मेरा अन्तर्यामी है, यही सबका स्वामी, यही सबका ज्ञाता, यही सब जगत् का अपनी सामग्री से उत्पादक है। इसी से सब को आनन्द प्राप्त हो सकता है।

प्रश्न—प्रायः मनुष्य कहते हैं कि सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी जो जीवात्मा है, वही सर्वज्ञ ईश्वर इत्यादि है ?

उत्तर--ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि उस दशा में किस का अन्तर्यामी होगा ? सुषुप्ति की दशा में भी अन्तर्यामी होना आवश्यक है, उस समय किसका अन्तर्यामी होगा; क्योंकि बाहर के विषयों से तो कोई सम्बन्ध नहीं। अतः सुषुप्ति की दशा में जीव का अन्तर्यामी है। पूर्व तो यह सन्देह हो सकता था कि आनन्द बाहरी विषयों से मिलता है,जाग्रत में बाहरी विषय और स्वप्न में उसका प्रतिबिम्ब आनन्द का कारण कह सकते थे। अतः सुषुप्ति की दशा में न तो बाहर के विषय ही प्रस्तुत में न उनका प्रतिबिम्ब प्रस्तुत है। अब जिससे जीव आनन्द को प्राप्त होता है. वह कोई बाहरी वस्तु नहीं, किन्तु वह भीतर वास करने वाला है। उसीके यह लक्षण कहते हैं।

प्रश्न--यहाँ तो ओंकार जो परमात्मा है उसके चार पाद बताये हैं, जिससे जीव ब्रह्म का भेद प्रकट किया है। तुम और ही ओर चल रहे हो।

उत्तर--आत्मा शब्द का अर्थ है व्यापक। उसकी जो चार सीढ़ियाँ हैं, वह आत्मा के चार पाद हैं। पहले जाग्रत अवस्था में

जिस स्थूल शरीर का अभिमानी जीवात्मा है, उसके भीतर जो व्यापक है, वह सूक्ष्म-शरीर है। सूक्ष्म-शरीर से सूक्ष्म होने से उसमें व्यापक कारण-शरीर है। कारण-शरीर में सूक्ष्म होने के कारण व्यापक जीवात्मा है। और जीवात्मा से सूक्ष्म होने के कारण व्यापक परमात्मा है। जो मनुष्य आत्मज्ञान से तीन मार्गों को व्यतीत करके चौथे मार्ग में पहुँचते हैं, उनको जीवात्मा अर्थात् अपने भीतर परमात्मा के दर्शन होते हैं। और उससे वह आनन्द को प्राप्त करके कहते हैं कि यह जो मुझ में व्यापक है, वह ब्रह्म है। तीन मार्गों में तो जव व्यापक है, चौथे मार्ग में जाव व्याप्य और ब्रह्म व्यापक है। यद्यपि जीव ब्रह्म में कोई दूरी नहीं होती, इस कारण अभेद कहते हैं। यथा नेत्र में अञ्जन है, अब नेत्र और अञ्जन में दूरी नहीं। क्योंकि दूरी तीन प्रकार की होती है; एक देश की, दूसरे काल की, तीसरे ज्ञान की। नेत्र और अञ्जन देश और काल की दूरी से तो रहित हैं, केवल ज्ञान की दूरी है। जब जीवात्मा अपने ज्ञान को बाहर की ओर से हटाकर भीतर देखता है, वह ज्ञान की दूरी भी दूर हो जाती है। इसी दूरी के दूर करने का नाम अभेदज्ञान है; न कि जीव ब्रह्म को एक मानने का।

प्रश्न—जीव ब्रह्म के दो होने में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—वेदान्त शास्त्र में जीव ब्रह्म के दो होने में अनेक प्रमाण दिये हैं। प्रथम, ब्रह्म का लक्षण सच्चिदानन्द ही इस बात का प्रमाण है। द्वितीय, ब्रह्म का जीव के भीतर होना जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् की श्रुति से प्रकट होता है। तृतीय, ब्रह्म के चार पाद होना। चतुर्थ वेदान्त के सूत्रों में स्थान-स्थान पर व्यास जी का यह बताना कि श्रुति ने जीव-ब्रह्म का भेद बताया है। इस कारण अभेद पाद का तात्पर्य इतना ही है कि जीव-ब्रह्म में दूरी नहीं, जिसके लिये किसी को (दूत) की आवश्यकता पड़े,

केवल अन्तःकरण के दर्पण को शुद्ध करके भीतर देखने की आवश्यकता है।

प्रश्न—ब्रह्म के पहले इतने विशेषण क्यों दिये ?

उत्तर—पहले कहा यह ब्रह्म सब का स्वामी अथवा ईश्वर है। परन्तु वेदान्तदर्शन में मुक्त जीव का नाम भी ईश्वर स्वीकार किया गया है। फिर जीव को अल्पज्ञ समझ कर सर्वज्ञ बताया। फिर शंका हुई कि मनुष्य योगियों को भी सर्वज्ञ कहते हैं। इस कारण अन्तर्यामी कहा क्योंकि किसी जीव के भीतर कोई दूसरा जीव नहीं जा सकता। यदि अन्तर्यामी शब्द न देते तो उपाधि कृत भेद वालों का मत बन सकता था परन्तु श्रुति ने अन्तर्यामी शब्द देकर जीव-ब्रह्म को एक मानने वालों का भ्रम दूर कर दिया। फिर इस बात को स्वीकार करने के लिये सारे जगत् का कारण बता दिया, जिससे किसी को जीव का भ्रम न रहे। क्योंकि वेदान्तदर्शन में स्थान-स्थान पर सिद्ध कर दिया है कि जीव अथवा प्रकृति जगत-कर्ता नहीं। इसके पश्चात् यह कह कर कि उससे आनन्द को प्राप्त करते हैं, अतः आनन्द स्वरूप तो अतिरिक्त ब्रह्म के कोई भी नहीं। इस पर वेदान्त के प्रथम पाद में अत्यन्त सबल विचार किया गया है। क्या इन विशेषणों को देखकर भी जीव-ब्रह्म के एक होने का विचार रह सकता है ? अब उस ब्रह्मको जीव से पृथक् करते हैं।

नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञा न घनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्य-मव्यपदेश्यकात्म-प्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥

भावार्थ—(नान्तः प्रज्ञं) भीतर को ओर ज्ञान नहीं। (न बहिः प्रज्ञं)

बुद्धि नहीं जाती। (नोभय प्रज्ञं) न दोनों ओर भीतर बाहर बुद्धि जाती है। (न प्रज्ञान घनं) न अंधेरे की ओर एक ही ज्ञान होता है। (न) नहीं।(प्रज्ञं) प्राप्त किया हुआ ज्ञान।(न) नहीं। (अप्रज्ञं) ज्ञान की जड़ता। (अदृष्टम्) नेत्रों के देखने योग्य नहीं। (अव्यवहार्यम्) व्यवहार दशा से रहित। (अग्राह्यम्)पकड़ने योग्य नहीं। (अलक्षणम्) जिसका लक्षण इन्द्रियों से जाना नहीं जाता। (अचिंत्यम्) मनकी कल्पना-शक्ति जिसकी सीमा को नहीं पा सकती। (अव्यपदेश्यम्) जो किसी नाम के कहने से ध्यान में नहीं आता। (एकात्म प्रत्ययसारं) किसको एक आत्मा ही जानने का अधिकारी है। (प्रपञ्चोपशमं)बाहर पञ्चभौतिक ज्ञान से एक होकर(शान्तं) जो शान्त अर्थात् विक्षेपरहित है। (शिवम्) जो कल्याणकारी और शरीर, मन और प्राणों के धर्म से रहित है। (अद्वैतं) अनुपम। (चतुर्थं) चौथा (मन्यन्ते) विचार करते या मानते हैं। (स आत्मा) वह जीवात्मा है। (सः) वह। (विज्ञेयः) जानने योग्य है।

भावार्थ—परमात्मा सबसे सूक्ष्म है, इस कारण इसके भीतर कोई पदार्थ नहीं। अतः वह भीतर किसे देखे, जिससे उसको भीतरी ज्ञान हो। और परमात्मा के सर्वव्यापक होने से उससे कोई वस्तु बाहर नहीं. जिसको वह बाह्य ज्ञान के द्वारा देखे और बाहरी बुद्धि को प्राप्त करे। और जब उसके भीतर बाहर कुछ नहीं. तो दोनों ओर जाने वाली बुद्धि भी उसकी नहीं हो सकती। और न अन्धेरे में केवल उसको अन्धेरा ही दृष्टि पड़ता है, जिसको एक ही प्रकार का ज्ञान कहा जावे, और न उसे नैमित्तिक ज्ञान होता है और न कोई वस्तु ऐसी है जिसको वह न जानता हो। क्योंकि उसको पूर्व सर्वज्ञ बता चुके हैं। अतः वह

क्या है, जो इन्द्रियों से नहीं जाना जाता। नाम रूप से प्रत्यक्ष सम्बन्ध से उसमें व्यवहार दशा नहीं हो सकती। उसका कोई लक्षण ही ऐसा नहीं हो सकता जो इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो सके। मन से कितना ही विचार किया जावे, उसके अनन्त गुणों की सीमा नहीं। वह ऐसी आकृति नहीं कि जो केवल नाम लेने से ही उसका स्वरूप स्मरण हो जावे। उसको केवल जीवात्मा ही जान सकता है। जब कि इन्द्रियों से अनुभव होने योग्य बाह्य वस्तुओं से मन पृथक् करले और उपासना के द्वारा चंचल मन को शान्त और स्थिर करे, वह कल्याणकारक क्षुधा, तृष्णा, शोक, मोह, बुढ़ापा, मौत से रहित है। जिसके समान कोई नहीं हुआ है, न होगा। उसको चतुर्थ पाद मानते हैं, वही इस जीव के भीतर वास करनेवाला आत्मा है, वही जानने योग्य है। जो इसको नहीं जानता, वह अपने जन्म को नष्ट करता है।

प्रश्न—वेद ने यह बताया है कि मनुष्य सब भूतों को आत्मा के भीतर देखता है और सबके भीतर आत्मा को देखता है। इससे स्पष्ट विदित है कि सब आत्मा के भीतर हैं, तो उसको भीतर का ज्ञान अवश्यकीय है। और जब वह सब के भीतर है, तो सब उससे बाहर हैं। इस कारण बाहर का ज्ञान भी अवश्य चाहिये। फिर श्रुति ने क्यों कहा कि वह भीतर बाहर के ज्ञान से रहित है ?

उत्तर—भीतर के कहने से आशय परमात्मा से सूक्ष्म कोई नहीं, जिसको भीतर जाकर देखने की आवश्यकता हो, और जीव को भीतर जाकर परमात्मा के दर्शन की आवश्यकता है। बाहर कहने से यह आशय है कि वह एकदेशी नहीं, जिसको बाहर की वस्तुओं के देखने के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता हो

प्रश्न—जबकि ब्रह्म अदृश्य अर्थात् देखने योग्य नहीं तो बृहदाण्यकोपनिषद् में क्यों लिखा है कि--हे मैत्रेयि ! आत्मा ही देखने-सुनने योग्य और मनन करने योग्य है।

उत्तर--आत्मा इन्द्रियों से अनुभव नहीं होता, इस कारण अदृश्य कहा है। परन्तु मन से उसका प्रत्यक्ष होता है, इस कारण देखने योग्य कहा है। दोनों श्रुतियों में विरोध नहीं।

प्रश्न—परन्तु उपनिषद् में बताया है कि वह मन से चिन्तन नहीं किया जाता फिर उसका मन से प्रत्यक्ष मानना भी युक्तियुक्त नहीं मालूम होता क्योंकि श्रुति इसका खण्डन करती है।

उत्तर--कठोपनिषद् में स्पष्ट लिखा है कि वह परमात्मा मन ही से जाना जाता है। वास्तव में मन की दो दशाएँ हैं। एक मल-विक्षेप और आवरण दोष से रहित मन दूसरे इन दोषों से युक्त मन। जो श्रुति कहती है कि परमात्मा मन से नहीं जाना जाता उसका, आशय दोषयुक्त मन से है। और जो श्रुति कहती है कि परमात्मा मन से जाना जाता है, उसका आशय दोष से रहित मन से है। यदि परमात्मा का ज्ञान किसी भाँति न हो तो उसकी सत्ता ही किस प्रकार स्वीकार की जावे ?

प्रश्न—मल-दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर--मन में जो दूसरों को हानि पहुँचाने का विचार है वही मल-दोष है। जब तक यह दोष बना हुआ है, तब तक मन परमात्मा को जानने में साधन नहीं हो सकता। यथा दर्पण से नेत्र और उसके भीतर रहने वाले सुरमा (अञ्जन) का दर्शन होता है। मैला दर्पण नेत्र और सुरमा का दर्शन नहीं करा सकता। इस कारण नेत्र और सुरमा को देखने वाले प्रथम दर्पण को शुद्ध करते हैं। वह मनुष्य मूर्ख है, जो मन को

शुद्ध किये बिना जीवात्मा और परमात्मा के देखने की इच्छा रखता है। और वह गुरु कपटी है, जो परमात्मा को दिखाने के लिए मन शुद्ध करने के अतिरिक्त अन्य साधन बताता है।

प्रश्न--विक्षेप-दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर--मन की चंचलता का नाम विक्षेप-दोष है। मन इस वेग से संकल्प-विकल्प करता है कि उसकी गति विद्युत् से भी अधिक है। यदि इस भाँति वेग से गति करने वाले दर्पण से, कोई नेत्र और उसके भीतर रहने वाले अञ्जन का दर्शन करना चाहे, तो क्योंकर सफल हो सकता है।

प्रश्न--आवरण-दोष किसे कहते है ?

उत्तर--जैसे दर्पण पर एक कागज पड़ा हो, तो इसमें नेत्र और नेत्र के भीतर रहने वाले अंजन का दर्शन नहीं हो सकता। यहीं आवरण-दोष है।

प्रश्न-- क्या इन तीन दोषों के अतिरिक्त परमात्मा के जानने में और भी कोई बाधा है ?

उत्तर--सबसे बड़ा दोष जिससे हम जीवात्मा और परमात्मा को नहीं जान सकते; अविद्यान्धकार है। जब तक अविद्या रहेगी कोई भी जीवात्मा और परमात्मा को नहीं जान सकता।

प्रश्न--इन दोषों के दूर करने का उपाय क्या है जिससे परमात्मा के जानने योग्य बन सकें ?

उत्तर--ब्रह्मचर्याश्रम के द्वारा वेद-वेदाङ्ग और उपाङ्ग को यथावत् पढ़ना। फिर वेद के बताये हुये निष्काम कर्म से मन के मल को दूर करना। जैसे ही मन में किसी अन्य को हानि पहुँचाने का विचार हुआ उस के स्थान में दूसरों के साथ परोपकार का विचार नियत करना। फिर विक्षेप दोष को दूर

करने के लिये वानप्रस्थाश्रम करके अष्टाङ्ग योग के अभ्यास अथवा वैराग्य द्वारा चंचलता को दूर करना। पुनः संन्यासाश्रम के द्वारा मन के ऊपर जो अहंकार का परदा पड़ा हुआ है, इसको दूर करना। अतएव इन चारों आश्रमों का नियम पूर्वक पालन करना ही परमात्मा को जानने का सन्मार्ग है। इसके विरुद्ध चलने वालों को कभी ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रंपादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

पदार्थ—(सः) इसलिये। (अयमात्मा) यह जीव के भीतर वास करने वाला आत्मा। (अक्षरम्) नाश रहित। (ओकार) ओ३म् है। (अधिमात्र) मात्रा इनसे बताया गया। (पादाः) अर्थात् भागों से विभाजित करके। (मात्रा) मात्रा से विभाग करके। (मात्राश्च) मात्रा में। (पादाः) पाद है। (अकार) अकार। (उकार) उकार। (मकार) मकार।

भावार्थ—सो यह आत्मा जो विनाशरहित और जीव के भीतर वास करने वाला है, वह पाद और मात्रा के विभाग से विभाजित करके अकार, उकार, मकार के शब्द से प्रकाशित किया गया है जिससे समझने वालों को सरलता से परमात्मा का ज्ञान हो सके। समस्त संसार में जानने के योग्य चार ही वस्तु हैं जो चार पाद कहलाते हैं–तीन प्रकृति के गुण और एक तीनों से पृथक्। चार आश्रम, चार वर्ण, चार वेद, चार अवस्था जानने के चार साधन हैं। किन्तु ब्रह्म चार ही से जाना जाता है। इस कारण ओ३म् अक्षर में तीन पाद तो चेतन जीवात्मा के, जो प्रकृति के गुणों को अल्पज्ञता से भोगता है, दिखाकर चौथे में उस जीव के भीतर रहने वाले परमात्मा को प्रकट किया।

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति हवै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवंवेद ॥ ९ ॥

पदार्थ—(जागरितस्थानः) जाग्रत दशा का अभिमानी जीव में व्यापक। (वैश्वानरः) वैश्वानर नाम वाला। (अकारः) अकार। (प्रथमा) प्रथम। (मात्रा) सर्व अक्षरों में व्यापक। (आप्तेः) पाना। (आदिमत्त्वात्) सब अक्षरों में पहला होने से। (आप्नोति) प्राप्त होता है। (हवै) निश्चय करके। (सर्वान्-कामान्) सम्पूर्ण इच्छाओं का। (च) भी। (भवति) होता है। (यः) जो। (एवं) इस प्रकार। (वेद) जानता है।

भावार्थ—ओंकार की प्रथम जो मात्रा अर्थात् अक्षर अकार है, उसका नाम वैश्वानर है। क्योंकि जिस प्रकार अकार सब अक्षरों में व्यापक है, बिना अकार के किसी अक्षर को बोल नहीं सकते ऐसे ही परमात्मा जो वैश्वानर है, वह सब पदार्थों के भीतर व्यापक है। बिना उसकी सत्ता के संसार के भीतर कोई नियम स्थित नहीं हो सकता। दूसरे सम्पूर्ण अक्षरों में अकार प्रथम है। इसी प्रकार सृष्टि के सब कारणों में परमात्मा प्रथम कारण है अर्थात् कर्ता है। बिना कर्ता के कोई कारण कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता। अर्थात् मिट्टी कभी अपने आप घड़ा नहीं बना सकती। जो मनुष्य बिना कर्ता के जगत् की उत्पत्ति मानते हैं उनके पास दृष्टान्त के लिये कोई शब्द नहीं।

प्रश्न—जगत् अनादि है, उसका कोई आदि नहीं और न अकार सब में व्यापक है ?

उत्तर—जो वस्तु विकार वाली हो वह अनादि कैसे हो सकती है ? जगत् के पदार्थों में षट् विकार अर्थात् १. उत्पन्न

होना २, बढ़ना ३, एक सीमा तक बढ़कर रुक जाना ४, रूप बदलना, ५, घटना, ६, नाश होना-- पाये जाते हैं। जबकि जगत् का प्रत्येक पदार्थ विकारयुक्त है, तो उसका योग विकार से शून्य कैसे हो सकता है ? अत: जगत् विकार वाला होने से अनादि कभी नहीं हो सकता। और आदि कहते हैं कारण को, अतएव जो उत्पन्न है उसका कारण अवश्य है और किसी व्यंजन का उच्चारण बिना अकार के नहीं हो सकता।

प्रश्न—इकार उकार का उच्चारणतो बिना अकार के होताहै?

उत्तर—इकार और उकार दो स्वर इस कारण पृथक् हैं कि जीव और प्रकृति जो ब्रह्म की सम्पत्ति तथा प्रजा हैं वह नित्य हैं। इस कारण तीन स्वर जो नित्य हैं अर्थात् अकार ब्रह्म, और उकार जीव, और इकार प्रकृति। शेष सब स्वर और व्यञ्जन यौगिक हैं। स्वर की परिभाषा ही यह है कि जो अपने आप हो जिसका कोई कारण न हो। अत: जीव की तीन अवस्थाओं में ब्रह्म उसके भीतर विराजमान् होता है। इस कारण तीन पाद और मात्राएँ जीव को दिखा, चौथा पाद और मात्रा ब्रह्म है। जीव के भीतर कोई नहीं वह सबसे सूक्ष्म और सबसे महान् सब के भीतर रहकर उनका प्रबन्धक है। जब तक जीव उसको न जाने तब तक उसको यथार्थ शान्ति नहीं मिल सकती।

प्रश्न—जब कि जीव, प्रकृति और ब्रह्म तीनों नित्य हैं, तो अकेले ब्रह्म को सब के भीतर क्यों माना, प्रकृति को क्यों नहीं ?

उत्तर--अकार के बिना तो किसी व्यञ्जन का उच्चारण नहीं हो सकता क्या इकार उकार की यही दशा हैं ? कदापि नहीं। इस दृष्टान्त से बताया गया है कि ब्रह्म के बिना तो वस्तु स्थिर नहीं रह सकती परन्तु ऐसे पदार्थ हैं जिनके भीतर

जीव नहीं इसीलिये जगत् दो प्रकार का है, एक जड़, दूसरे चेतन अथवा स्थावर, जगम इत्यादि ।

प्रश्न--भला जीव के होने न होने से तो जड़ चेतन का भेद किया; परन्तु प्रकृति को तो सबके भीतर मानना ही पड़ेगा। फिर अकेले ब्रह्म ही को क्यों व्यापक कहा ?

उत्तर—सूक्ष्म वस्तु के भीतर स्थूल वस्तु नहीं जा सकती, परन्तु स्थूल के भीतर सूक्ष्म जा सकती है। अतः प्रकृति स्थूल है इसके भीतर जीव और ब्रह्म रह सकते हैं, परन्तु जीव, ब्रह्म के भीतर प्रकृति नहीं। अतः अकेला ब्रह्म ही व्यापक हो सकता है। जीव एकदेशी होने से व्यापक नहीं हो सकता ।

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति हवै ज्ञानसन्तर्तिं समानश्च भवति नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥

पदार्थ—(स्वप्नस्थानः) स्वप्न की दशा जिस स्थान में है। (तैजसः) तैजस नाम। (उकार) द्वितीय मात्रा है। (उत्कर्षात्) महान् होने से। (उभयत्वाद्) दोनों के बीच होने से अथवा दोनों के साथ सम्बन्ध होने से। (उत्कर्षति) महत्ता को प्राप्त करता है। (ज्ञानसन्ततिम्) ज्ञान से उत्पादक फल को प्राप्त होता है। (समानश्च) जो सब को समान होता है। (न) नहीं। (अस्यकुले) इसके कुल में (अब्रह्मविद्) ब्रह्म को न जानने वाला (भवति) होता है। (यः) जो। (एवं) इस प्रकार वेद जानता है।

भावार्थ—द्वितीय पाद अर्थात् तैजस को द्वितीय मात्रा उकार से अनुकूल करके दिखाते हैं। स्वप्न दोनों दशाओं के मध्य में

होता है। जाग्रत और निद्रा की मध्यम दशा का नाम स्वप्न होता है, इस कारण वह दोनों के मध्य में होता है। और वह जाग्रत से उत्तम होता है क्योंकि जाग्रत की अवस्था में तो विषयों के संस्कार बढ़ते हैं और स्वप्न में उसकी उन्नति रुक जाती है। यहाँ उकार से आशय जीवात्मा का है, जो संसार में नैमित्तिक ज्ञान को प्राप्त करता है, जो प्रकृति से उत्तम है, क्योंकि प्रकृति में ज्ञान नहीं और जीवात्मा ज्ञान को प्राप्त करके उससे प्राप्त होने वाले आनन्द को प्राप्त करता है। और ब्रह्म प्रकृति के मध्य है परन्तु ब्रह्म की भांति ज्ञानस्वरूप नहीं। जिसको बाह्य ज्ञान की आवश्यकता ही न हो अथवा जिसका नियम उन्नति न कर सके और प्रकृति की भाँति ज्ञान से शून्य हो, वह अल्पज्ञ है। यदि वह प्रकृति के साथ सम्बन्ध करे तो मिथ्या ज्ञानी होकर अज्ञानस्वरूप प्रकृति के धर्म, दुःख को ग्रहण कर लेता है। प्रकृति दुःखस्वरूप है, जीव उसके सङ्ग से दुःख को प्राप्त होता है जैसा कि जाग्रत अवस्था में मालूम होता है। जाग्रत अवस्था में सम्पूर्ण इन्द्रियाँ प्रकृति के विषयों के साथ सम्बन्ध रखती हैं, जिससे सब प्रकार के दुःख ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि प्राप्त होते हैं। स्वप्न जाग्रत से ऐसे ही उत्तम है, जैसे प्रकृति से जीव। जाग्रत में प्रकृति के संस्कार बढ़ते हैं, स्वप्न में नहीं। सुषुप्ति में जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध होता है और जाग्रत में प्रकृति से; स्वप्न दोनों के मध्य में है।

ब्रह्म ज्ञान-स्वरूप और प्रकृति अज्ञान-स्वरूप है। परन्तु जीव न तो ज्ञान स्वरूप है, न अज्ञान-स्वरूप है। थोड़ा ज्ञान है, शेष वस्तुओं का सीमाबद्ध होने से अज्ञान रहता है। जितने शब्द सुने हैं, जितने रूप देखे हैं, जितनी वस्तुओं का रस चक्खा है, जितनी गन्ध सूंघी है, जितना स्पर्श किया है इन सब का संस्कार मन में रहता है: उनकी स्मृति होती है, उनको

स्वप्न में देखता है। शेष सम्पूर्ण वस्तुओं से अज्ञानी रहता है। जब जीवात्मा के साथ सम्बन्ध करता है तो उसका बाह्य ज्ञान अल्प होता है और सुख की वृद्धि होती है। जब प्रकृति के साथ सम्बन्ध करता है तो उसका बाह्य ज्ञान बढ़ता है और सुख घटता है। जो इस बात को ठीक प्रकार से जानता है, उसके कुटुम्ब में ब्रह्मज्ञानी उत्पन्न होते हैं। कोई ब्रह्म का न जानने वाला उस कुल में नहीं होता।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रामितेरपीतेर्वा। मिनोति ह वा इदꣳ सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

पदार्थ—(सुषुप्तस्थानः) सुषुप्त स्थान। (प्राज्ञः) प्राज्ञ नाम वाला। (मकारस्तृतीया मात्रा) मकार तृतीया मात्रा है। (मितेः) अनुमान करने से। (अपीतेर्वा) एक ही हो जाने से। (मिनोति) अनुमान करता है। (हवा) यथावत्। (इदं सर्वम्) इस सब जगत् को। (अपीतिश्च भवति) यह जगत् का जो कारण है इसको प्राप्त होता है। (यः) जो। (एवं) इस प्रकार। (वेद) जानता है।

भावार्थ—सोने की दशा में जीव का नाम प्राज्ञ होता है, इसके लिये मकार तृतीय मात्रा है। इसके बताने के लिये अनुकूलता का कारण क्या है? इसके उत्तर में बताया गया है कि प्राज्ञ से विश्व और तैजस का अनुमान किया जाता है। द्वितीय, जिस प्रकार प्रथम अकार, उकार, मकार के योग से ओ३म् एक हो जाता है, ऐसे प्राज्ञ अर्थात् सोने की दशा में सम्पूर्ण नैमित्तिक ज्ञान से अलग होकर, भीतर रहने वाले आत्मा में मन को लगा कर इस सारे जगत् का ठीक-ठीक अनुमान कर लेता है।

क्योंकि जिस समय जागता था, उस समय बाहर के क्लेश भीतर आ रहे थे। जब स्वप्न की दशा में आ गया तब बाहर से क्लेश आने बन्द हो गये, परन्तु आये हुए विद्यमान् रहे, परन्तु सुषुप्ति दशा में किसी प्रकार के इशारे बाहर से आने के अतिरिक्त भीतर भी शेष नहीं रहे, क्योंकि वह तो आत्म स्वरूप से पृथक् मन में आत्मभाव होने के कारण से थे। जब मन के साथ सम्बन्ध टूट गया अर्थात् इसमें अहँकार न रहा, तब सब क्लेश दूर हो गये। इससे जीव को जगत् का अनुमान विदित हो गया, कि जब इन्द्रियों के विषयों से सम्बन्ध होता है तो मन बहुत फैल जाता है, जिससे दुःख ही दुःख प्रतीत होता है। मकान गया, मन दुःखी हो गया। धन नाश हो गया, मन दुःखी हो गया। पुत्र मर गया, मन दुःखी हो गया। अपने शरीर के अतिरिक्त 'मैं' इतनी बढ़ जाती है कि जिसकी सीमा नहीं रहती। और जितनी 'मैं' उन्नति करती है, उतना ही दुःख बढ़ता है।

जाग्रत अवस्था में अहङ्कार अपने शरीर से बाहर की वस्तुओं का भी बना रहता है, परन्तु स्वप्न की दशा में अत्यन्त निर्बल हो जाता है, केवल इन्द्रियों के पदार्थों का सम्बन्ध मन में रह जाता है। इस कारण स्वप्न की दशा में जाग्रत अवस्था की अपेक्षा उत्तमता मानी गई है। परन्तु जब सो जाते हैं, तो 'मैं' न जगत् के पदार्थों में रहती है, न शरीर में, न सूक्ष्म शरीर में। जब 'मैं' इन नाश वाली वस्तुओं से पृथक् हो गई, तो किसके नाश से दुःख हो। इस समय 'मैं' केवल जीव आत्मा के भीतर चली गई। जब 'मैं' जीवात्मा के भीतर रहती है, तो इसका नाश हो नहीं सकता, जिससे कोई दुख हो सके। परन्तु जीवात्मा का ज्ञान स्वाभाविक गुण है, जो बिना जाने रह नहीं सकता। जब बाहर का सम्बन्ध टूट गया तो बाहर का ज्ञान तो बन्द हो गया जिससे जीवात्मा को दुःख न रहा। अब उसने भीतर देखना

आरम्भ किया; जहां एक ही आनन्दस्वरूप था यदि दो होते तो ज्ञान होता एक में ज्ञान किस प्रकार हो सकता है । अतः आनन्द में जीव रहा जिससे वह सम्पूर्ण दुःख जो जागने में रहे थे, जाते रहे ।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार । आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानय एवं वेद य एव वेद ॥१२॥

पदार्थ—(अमात्रः) जिसके लिये कोई मात्रा नहीं। (चतुर्थः) चतुर्थ पाद । (अव्यवहार्यः) जिस पर कोई व्यवहार नहीं हो सकता (प्रपञ्चोपशमः) जहाँ पहुँच कर यह प्रपञ्च अर्थात् अज्ञान दूर हो जाता है ।(शिवः) कल्याणकारी-क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, बुढ़ापे और मौत से रहित । (अद्वैतम्) अनुपम । (ओंकार) ओंकार है। (आत्मा) जीवात्मा । (एव) है । (संविशति) व्याप्त होता है। (आत्मना) परमात्मा से। (अ त्मानं) आतमा को (एवं) इस प्रकार ।(वेद) जानता है। द्विवचन ग्रन्थ-समाप्ति सूचक है ।

भावार्थ—यहाँ तक तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के अभिमान से तीन पाद और तीन मात्रा ओ३म् से प्रकट करके अब इन तीनों शरीरों के अभिमानी जीवात्मा के भीतर जो व्यापक परमात्मा होता है, उसका उन अवस्थाओं से सम्बन्ध है, न कि इन तीन शरीरों से । और न क्षुधा, तृष्णा,शोक, मोह, जरा, मृत्यु का उस पर कोई प्रभाव है । जिस प्रकार जीव बहुत से हैं, परन्तु परमात्मा एक ही है जो जीव के भीतर भी व्यापक है । जो जीवात्मा को इस प्रकार जानता है वह बाहर सम्बन्ध छोड़कर, अपने भीतर परमात्मा को व्यापक देख कर, यह

कहता है कि मुझ में जो व्यापक है, यह ब्रह्म है, यह आत्मा है, उसको कोई दु:ख हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार सूर्य के निकट जाने से अन्धकार स्वयम् भाग जाता है ऐसे ही परमात्मा को अपने भीतर देखने से सब दोष दूर हो जाते हैं।

जो मनुष्य विचार से इस उपनिषद् को पढ़ते हैं, वह तो आत्मज्ञान को प्राप्त होते हैं। और जो मनुष्य अविचार से पढ़ते हैं वह मायावाद के जाल में ग्रसित हो जाते हैं।

वेदाँतदर्शन ऐसा उत्तम दर्शन है कि जिसको जानने वाला मनुष्य मनुष्यत्त्व की पदवी से आगे बढ़ जाता है। जो मनुष्य वेदांत को नहीं जानते, वह मनुष्यत्त्व से गिरे हुए हैं। क्योंकि जो मनुष्य यह नहीं जानता कि 'मैं क्या हूँ ?' उससे बढ़ कर संसार में मूख कौन हो सकता है। मैं सम्पूर्ण संसार के रोगों की चिकित्सा जानता हूँ परन्तु अपने रोग से हिल नहीं सकता और इसकी चिकित्सा भी नहीं कर सकता, तो मेरी अन्य रोगों की चिकित्सा जानने से क्या लाभ है? क्योंकि मैं जब तक स्वयं आरोग्य होकर इनकी बीमारी की चिकित्सा न करूं, मेरे ज्ञान से दूसरों को क्या लाभ पहुँच सकता है ? वेदांतशास्त्र ही है जो जीव को अपने रूप का ज्ञान करा के सब प्रकार के दुःख और भयमुक्त कराता है।

मायावादियों ने तो वेदांतशास्त्र को बदनाम कर रक्खा है। किन्तु वह वास्तव में ठीक नहीं। बहुत से मनुष्य यह कहते हैं कि वेदांती मनुष्य आलसी होता है और निकम्मा हो जाता है। परन्तु यह विचार केवल मूर्खों का है। वास्तव में वेदांती अपने स्वरूप को जानता है, इसको निश्चय हो जाता है कि आत्मा नित्य है। कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो आत्मा को हानि पहुँचा सके। कोई शस्त्र ऐसा नहीं, जो आत्मा को काट सके। कोई अग्नि ऐसा नहीं, जो आत्मा को जला सके। यदि संसार की सर्व

शक्तियां एकत्रित हो जावें, तो भी आत्मा को कोई हानि नहीं हो सकती। क्षुधा, तृषा, प्राणों के धर्म हैं। आत्मा प्राण नहीं, प्राण उत्पन्न तथा नाश होने वाले हैं, उनके धर्म से आत्मा को कोई दुःख नहीं। प्राण परमात्मा ने कर्मों का फल भोगने के लिये अवधि दी है, जिसकी रक्षा परमात्मा का काम है। जब तक परमात्मा इस की रक्षा करेगा, तब तक यह सुरक्षित रहेंगे। परमात्मा की आज्ञा होते ही कोई भी इनको स्थिर नहीं रख सकता। संसार के बड़े-बडे राजाओं को एक मिनट में चलना होगा। कोई सेना तथा तोप, डायनामाइट के गोले और बन्दूकें, गढ़ और खन्दकें एक मिनट के लिये इस वारंट को रोक नहीं सकतीं।

संसार में अनगिनत राजा हुए, आज उनके शरीरों का कुछ भी चिन्ह नहीं। जो उत्पन्न हुआ है उसको नाश भी होना है। प्राण न उत्पन्न हुए हैं न उनको नाश होना है। नाश से रहित का नाश वाले से क्या मेल ? इसलिये प्राणों की रक्षा की उसको कोई चिन्ता नहीं। वह रोटी के लिये अपने धर्म को नहीं बेच सकता। वह जानता है कि मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं। एक पामर दूसरे विषयी. तीसरे मुमुक्ष। जो मनुष्य पशुओं के शरीर से आते हैं, उनके भीतर पशुओं के संस्कार होते हैं। पशुओं को खाने के अतिरिक्त और कोई चिन्ता नहीं होती। उसको यह निश्चय नहीं होता कि जिस स्वामी ने मुझे खूंटे पर बांधा है, जिसको मुझसे काम लेना है, वह मुझ को अवश्य खाने को देगा। स्वामी खाना देने आता है, पशु रस्सा तुड़ाने के लिये दौडता है। जब तक चारा उसके सामने न आ जावे, उसको शान्ति नहीं होती। वह अपने साथियों से चारे के लिये लड़ता है। ऐसे ही जो मनुष्य पशु शरीर से आये हैं, जिनमें ज्ञान के संस्कार बहुत कम हैं, जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त से अनभिज्ञ हैं: जो आत्मा की सत्ता से अनभिज्ञ हैं, जो परमात्मा के और इसके नामों से दूर

हैं, जो कर्म और फल भोगने के विधान से अनभिज्ञ हैं वह पामर मनुष्य हैं; जिनके जीवन का उद्देश्य ही रोटी है।

भारतवर्ष में आज भी लक्षों पामर मनुष्य हैं, जिनको धर्म-कर्म का कुछ भी ज्ञान नहीं, जो केवल रोटी की खोज ही मुख्य समझते हैं। जिनके हृदय में यह बैठा हुआ है कि यदि हम अपने धर्म की ओर लग जावें, तो रोटी कहाँ से आवे ? वह यह नहीं देखते कि जिस समय मनुष्य अति न्यून असत्य बोलते थे, जिस समय मनुष्य अंग्रेजी शिक्षा से शून्य थे, जिस समय मनुष्य अंग्रेजी विज्ञान से नितान्त अनभिज्ञ थे उस समय रोटी कैसी सरलता से प्राप्त होती थी। उस समय न तो ऐसे सूखा पड़ते थे और न रोग फैलते थे। जितनी अंग्रेजी शिक्षा बढ़ती जाती है, उतना ही मनुष्य परमात्मा को भूलकर प्रकृति उपासक बन गये। जिसका परिणाम हर प्रकार का दुःख है।

विचारणीय है, कि जब गवर्नमेंट के विरोधी आराम से नहीं सो सकते, उनको रात-दिन पकड़े जाने का भय लगा रहता है। यद्यपि सरकार अल्पज्ञ है, वह विरोधियों के मन का वृत्तान्त नहीं जान सकती, उसे गुप्त भेदो द्वारा पता लगाने की आवश्यकता पड़ती है। इतनी कमजोरी पर भी विद्रोही पकड़े जाते हैं और दंड पाते हैं। फिर उस सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् परमात्मा के विद्रोही जिसके सर्वत्र होने से किसी गुप्त-भेद की अवश्यकता नहीं। जिसके दंड से झूठी साक्षी नहीं बचा सकती, कोई योग्य वकील भी कानून द्वारा मुक्त नहीं करा सकता। फिर उससे विरोध करके जो सुख चाहते हैं, वह निरे पशु ही कहलावेंगे।

दूसरे प्रकार के मनुष्य विषयी कहलाते हैं जो इन पशुओं से कुछ अधिक ज्ञान रखते हैं। वह प्राकृतिक विज्ञान के प्रेमी और अपनी सत्ता से शून्य होते हैं। इनको भी न तो जीवात्मा की सत्ता का ज्ञान होता है और न परमात्मा की सत्ता का ज्ञान।

और न इनको पुनर्जन्म पर कुछ विश्वास होता है और न वेद पर। इसलिये वह मनुष्य जीवन का उद्देश्य खाना पीना और विषय-भोग ही समझते हैं।

इस प्रकार यह दोनों तो पुनर्जन्म के विश्वास न होने से वर्तमान जन्म के लिये प्रबन्ध करते हैं। पर वे भूल जाते हैं कि वर्तमान जन्म का प्रबन्ध पशु भी करते हैं। खाना-पीना और विषय भोगना भी पशुओं में पाया जाता है। यह अपने आपको पशुओं से आगे नहीं ले जा सकते। यह बार-बार पशुओं के शरीर में जन्म लेते हैं। इनका जीवन बहुमूल्य जीवन नहीं होता। क्योंकि यह अपने जीवन को शरीर की गाडी को धोने और इन्द्रियों के घोड़े चराने में व्यय करते हैं। वह जीवन जो गाड़ी को धोने और घोड़ों के चराने में खर्च हो, उत्तम पुरुष का जीवन नहीं हो सकता। क्योंकि गाड़ी का धोना घोड़ों का चराना साईस का काम है। साईस चाहे कितने ही अधिक हों, उन से देश की प्रतिष्ठा नहीं होती क्योंकि इनकी आत्मा बल से शून्य होती है, उनके छोटे काम तथा छोटे विचार होते हैं। निर्बलता उनको आधीन रखती है।

वेदान्त के ज्ञाता तीसरे प्रकार के मनुष्य हैं, जिनको 'मुमुक्ष' कहते हैं। इनके भी तीन भेद हैं। एक वह जिनके मन मैले थे, वह उसको शुद्ध करने के लिये निश दिन परोपकार में लगे रहते हैं। वह समस्त संसार की भलाई को ही अपना उद्देश्य समझते हैं। उनका वचन यह होता है कि अपने उत्साह को ऊँचा रख, ताकि ईश्वर और सृष्टि के समीप हो और तेरे उत्साह के अनुसार तेरा आदर हो। न तो उनको आराम की इच्छा, न धन की, यदि इच्छा है तो परोपकार की। वह संसार के कष्टों की कुछ परवाह नहीं करते। वह यश तथा अपयश को तुच्छ समझते हैं। वह मान-अपमान से कोई स्वयं नहीं रखते। वह किसी दशा में भी

जीवमात्र को हानि पहुँचाने का विचार नहीं करते। उनका विचार स्वतन्त्र रहता है। ईश्वर की आज्ञा पर उनको संतोष होता है। वह जानते हैं कि परमात्मा जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है। उसने जो कुछ किया अच्छा ही किया। वह जो कुछ करेगा, अच्छा ही करेगा। क्योंकि वह न्याय तथा दया के अतिरिक्त कुछ करता ही नहीं। यदि तुमको दुःख मिलता है; तो तुम्हारे कर्मों से। दयालु परमात्मा ने कोई वस्तु ऐसी नहीं बनाई जो जीवोंको दुःख देने वाला हो। और न कोई वस्तु सुखदाता है; सुख-दुःख का कारण निज कर्म हैं। यदि हम ज्ञान के अनुकूल कर्म करते हैं, तो सुख होता है। यदि ज्ञान के विरुद्ध करते हैं; तो दुःख होता है। ज्ञान हमको बताता है कि जिस प्रकार के बीज बोवेंगे, वैसा ही फल आवेगा। इसी प्रकार हम दूसरों के साथ जैसी वासना करते हैं, वैसा ही हमको फल मिलता है। जो मनुष्य दूसरों को हानि पहुँचाने का विचार करता है, उसके मन में पाप का बीज बोया गया। जिसका फल दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। वह दूसरों के दोष टटोलने पर नहीं रहता, न इस कर्म को अच्छा समझता है। किन्तु किसी में कोई दोष दृष्टि पड़ता है, तो उसको किसी उपाय से दूर करना चाहता है। वह मधु-मक्षिका की भांति पुष्पों से मधु निकालता है। वह जिससे मिलता है, उसके गुणों में से कोई न कोई गुण प्राप्त करता है। वह संसार में रहता है परन्तु सराय समझ कर। संसार को अपना घर नहीं समझता, उसका विचार इस दृष्टांत पर रहता है।

दृष्टान्त [१]

किसी राजा ने एक जड़ाऊ छड़ी बनवाई। जिसमें लाखों रुपये के हीरा-मोती लगा दिये। एक दिन राजा श्मशान के पास से होकर निकले, वहां एक पागल को देखा, राजा ने उससे कहा—तुम नगर में क्यों नहीं आते? दीवाने ने उत्तर दिया—

जो नगर में हैं, वह कहां जाते हैं। अन्त को वह भी यहां ही आते हैं। पागल की इस बात को सुनकर राजा ने छड़ी उसको देदी। पागल ने कहा—मैं इसको क्या करूं यह मेरे किस काम की है। राजा ने कहा—इसे रक्खो, जब कोई तुम से अधिक उन्मत्त मिले, तो उसे दे देना। पागल ने वह छड़ी लेली।

कुछ समय के बाद राजा की मृत्यु के दिन समीप आये। यह समाचार पागल को मिला। वह राजा के समीप आया और राजा से हाल पूछा। राजा ने कहा—अब हमारा अन्तम समय है। पागल ने पूछा--आप कहाँ जायँगे ? राजा ने कहा--यह तो मालूम नहीं। पागल ने कहा —जहाँ आप जायँगे वहाँ कितनी सेना, रिसाला तोपे और पयादे साथ ले जायँगे। राजा ने कहा—तब ही तो तुझ को पागल कहते हैं। भला, इस अंतिम मार्ग में कहीं ऐसा सामान भी जाया करता है। दीवाने (पागल) ने फिर कहा---कितना कोष आप साथ ले जायँगे,क्योंकि इतनी बड़ी यात्रा के लिये जिसका पता ही न हो बहुत व्यय की आवश्यकता पड़ेगी। राजा ने कहा—वास्तव में तू पागल है। भला, कहीं अन्तिम यात्रा में कोष साथ जाया करता है ? उस यात्रा में बिना धन के ही जाना पड़ता है। पागल ने कहा--अच्छा कौन-कौन से मन्त्री आपके साथ जायँगे, क्योंकि बिना मन्त्री के तो काम चल ही नहीं सकता ? राजा ने कहा--तू बड़ा पागल है, कहीं इस अन्तिम यात्रा में मन्त्री साथ जाया करत हैं। पागल ने कहा--अच्छा कौन-कौन सी रानियाँ साथ जायँगी,क्योंकि बिना रानियों के यात्रा में अकेले आपका काम कैसे चलेगा ? राजा ने कहा--तुझ से बढ़कर कौन मूर्ख होगा। क्या इस अन्तिम यात्रामें रानियाँ साथ जाया करती हैं। पागल ने कहा—रानियाँ नहीं तो राजकुमार तो साथ जावेंगे, क्योंकि इनके बिना संतोष कैसे मिलेगा ? राजा ने कहा—नहीं, इस यात्रा में राजकुमार भी न जा सकेंगे। पागल ने

पूछा—तो फिर अकेले ही सही परन्तु किस सवारी में आप जावेंगे ? राजा ने कहा—अरे मूर्ख ! इस यात्रा में सवारी भी साथ नहीं जा सकती। यह सुनकर पागल ने छड़ी राजा के पास फेंक दी और कहा—मुझसे अधिक पागल तू है। सहस्रों मनुष्यों को दुःख देकर ऐसा सामान एकत्रित किया जिसको साथ नहीं ले जा सकता। तुझ से अधिक पागल कौन होगा, राजा सुनकर पश्चात्ताप करने लगा।

जो मनुष्य अज्ञानी हैं, वह सांसारिक पदार्थों को नित्य समझ कर उनको एकत्रित करने में लगे रहते हैं। और ज्ञानी पुरुष जानता है कि जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह अवश्य नष्ट होती है। क्योंकि पैदा हुई वस्तु कभी नित्य नहीं हो सकती। अनित्य में नित्य बुद्धि इत्यादि अविद्या ही सब दुःखों का कारण है। जो मनुष्य अविद्या के चक्कर में फंस जाते हैं, वह सदा दुःख भोगते हैं। जो मनुष्य विद्या के प्रकाश में काम करते हैं, वह सदा सुख भोगते हैं। उत्पत्तिशील वस्तु कभी नित्य नहीं हो सकती। करोड़ों राजा हुए, परन्तु उनके अस्तित्व का कोई चिन्ह संसार में दृष्टि नहीं आता। असंख्य धनी सम्पत्ति खोकर कङ्गाल बनते हैं। सहस्रों धनी पुरुषों के घर चोर-डाकू लूट लेते हैं। सैकड़ों बैंक दिवाला निकाल बैठे। सहस्रों जिमींदारों की जिमींदारियाँ बिक गईं। कोटि युवा बलवान् योद्धा मिट्टी में मिल राख की ढेरी बन गये। भीम और अर्जुन की अस्थियों के चिन्ह भी नहीं मिलते। राम, कृष्ण के शुभ कर्मों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक शरीर का कुछ भी पता नहीं। अतएव मुमुक्षु का यही विचार है कि जिस प्रकार हो सके संसार का निष्काम परोपकार करूं, जिससे अन्तःकरण की शुद्धि हो जावे। जब अन्तःकरण शुद्ध हो जावे तो तीन प्रकार की वासनाएँ अर्थात् वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा, (धन की इच्छा, पुत्र की इच्छा, यश की इच्छा दूर) हो जाती है। जिसकी यह इच्छाएँ

प्रस्तुत हैं, उसका मन शुद्ध नहीं। वह परोपकार के काम यदि करता है, तो लोकैषणा अर्थात् यश-प्रतिष्ठा तथा प्रभुत्व के कारण से करता है। परन्तु यह धर्म से गिरा कर पाप के गढ़े में गिराते हैं। इन्द्र जैसे देवराज को भी यश की इच्छा ने धर्म से पतित कर दिया। कोई यश का इच्छुक यह नहीं चाहता कि उस जैसे दो हो जावें। धर्म के विचार के लक्षों मनुष्य मिलकर काम कर सकते हैं, परन्तु यश और प्रतिष्ठा तथा हुकूमत के विचार के दो मनुष्य भी एक में नहीं समा सकते। जैसा एक कवि का कहना है—१० साधु एक गुदड़ी में समा सकते हैं, परन्तु दो बादशाह १ देश में नहीं समा सकते।

जब तक एक मनुष्य के मन में परोपकार का विचार रहता है, तब तक उसका किसी से विग्रह तथा झगड़ा नहीं होता। जहाँ स्वार्थ आये, वहां लड़ाई-झगड़े आरम्भ हो जाते हैं। जब तक विद्या रहती है, लड़ाई-झगड़े नहीं होते। परन्तु अविद्या महारारणी का पाँव जहाँ पड़ा, वहाँ सब फूट मरते हैं। द्वितीय कक्षा के मुमुक्षु वह हैं जिनका मन शुद्ध हो चुका है, जो केवल मन की चंचलता को दूर करने को अभ्यास करते हैं।

मन बिना वैराग्य और अभ्यास के स्थिर नहीं होता। योगीजन अभ्यास के द्वारा मन को पकड़ते हैं। मन रक्त की गति से गति (हरकत) करता है। यदि रक्त में गति न हो, तो मन नहीं गति कर सकता। रक्त प्राणों की गति से क्रियावान् होता है, यदि यह प्राणों की हरकत न हो, तो रक्त गति नहीं कर सकता अतएव जब प्राण-गति अधिकार में आ जाये तो रक्त की गति वश में हो जावेगी। जब रक्त कीं गति वश में हो जावेगी, तब चंचल मन भी वश में हो जावेगा। इस प्राण की गति को वश में करने के लिये महर्षि पातञ्जलि ने योगदर्शन में यम नियम इत्यादि योग के अष्टाङ्ग नियत किये हैं। उन अङ्गों पर ठीक प्रकार अनुष्ठान करने का नाम अष्टाङ्ग योग का

अभ्यास कहाता है। इस मार्ग पर चलने वाला मनुष्य यदि सिद्धियों के जाल में न फंस जावे, तो मुक्ति को प्राप्त होता है। उसके मार्ग की सम्पूरण बाधा स्थिर चित्त हो कर अभ्यास करने से दूर हो जाती हैं।

मन के वशीकार का द्वितीय साधन वैराग्य है। राग अर्थात् वासना उस वस्तु की होती है जिसको आत्मा अपने लिये सुलभ अप्राप्त समझता है। न तो उस वस्तु की इच्छा होती है जो लाभदायक न हो और न उस वस्तु का इच्छा होती है, जो प्राप्त हो। और जो वस्तु प्राप्त तथा हानिप्रद हो, उसमें दोष होता है। अब उपयोगी वह वस्तु होती है, जो न्यूनता को पूरा करे अथवा दोष को दूर करे। जब तक जीवात्मा अविद्या से अपने को शरीर समझता है, तब तक जो वस्तु शरीर की त्रुटि को पूरा करती है, भोजनादि अथवा शरीर के दोष को दूर करता हैं, यथा घृत ओषधि इत्यादि। तब उसका इनमें राग होता है। यदि सवारी को शरारार्थ उपयोगो विचार करता है, तो उसमें राग होता है। तात्पर्य यह, जितने पदार्थों में अपने होने का अभ्यास होता है, उन सब के लिये उपयोगो में राग होता है। जब जीव का पता लग जाता है कि मैं न तो शरीर हूँ और न इन्द्रियां, किन्तु यह मेरे मार्ग में ले जाने के लिये गाड़ा तथा घोड़े हैं। इनका सेवा में लगे रहना साईसी है। यदि यह अपनी गाड़ी होती, तो इसकी रक्षा की भी आवश्यकता होती। यह ता किराये की गाड़ो है, जिस का स्वामी हर समय किराया मांगता है। यदि थोड़ा देर के लिये वायु न मिले, तो भीतर से शब्द आता है—निकलो बाहर। यदि २४ घण्टे तक पानी न मिले, तो शब्द आता है—निकलो बाहर। यदि चार-पाँच दिवस भोजन न मिले तो, आज्ञा मिलती है—निकलो बाहर। भला ऐसे किरायेदार की गाड़ी में जिसका स्वामी क्षण-क्षण में किराया माँगता हो, स्वस्थ होकर बैठना बुद्धिमानी का काम

नहीं है। नहीं, इस गाड़ी से तो जितना मार्ग की ओर चला जावे, उतना ही लाभ है, गाड़ी और घोड़ों के चराने में अधिक समय व्यय करना अविद्या है। गाड़ी की रक्षा गाड़ी का स्वामी स्वयम् करेगा यात्री को तो जितनी यात्रा पूर्ण हो जावे, उतना ही लाभ है।

जिस मनुष्य को शरीर और आत्मा का पता लग जावे, वह उस शरीर से लाभ उठा सकता है। जिसको आत्म ज्ञान नहीं वह शरीर की आवश्यकताओं में राग उत्पन्न करके अपने आपको बिगाड़ देता है। यदि आवश्यकताओं तक ही इति श्री होती, तो कोई हानि नहीं थी। क्योंकि परमात्मा प्रत्येक आवश्यकता पूर्ण करते हैं। परन्तु शरीर को आत्मा समझने वाला तृष्णा-रूपी रोग का शिकार हो जाता है। जो परमात्मा सम्पूर्ण संसार की आवश्यकताएं पूर्ण करता हैं, वह एक मनुष्य की भी तृष्णा पूरी नहीं कर सकता। क्योंकि जितना मिलता जावे, तृष्णा उससे अधिक बढ़ती जाती है। जिसका कारण यह है कि संसार के पदार्थों में आनन्द तो है नहीं। जो इसमें आनन्द की इच्छा से काम करता है उसे और मनुष्यों को (जो उससे सांसारिक पदार्थों में अधिक हैं) देखकर विचार उत्पन्न होता है कि इनको आनन्द होगा। इसलिये वह उन पदार्थों को प्राप्त करता है। और साँसारिक वस्तुओं में आनन्द है नहीं, इस कारण पदार्थों के प्राप्त करने से भी आनन्द प्राप्त नहीं होता। फिर वह उससे अधिक में आनन्द समझ कर उसकी इच्छा करता है। फल यह होता है, सम्पूर्ण संसार का चक्रवर्त्ती राज्य प्राप्त होने पर भी दुःख बढ़ जाता है, आनन्द प्राप्त नहीं होता, परन्तु तृष्णा नित्यप्रति कष्ट देती है। इस कारण जब तक विद्या न हो, जब तक प्रकृति के मूल तत्त्व से मनुष्य का वास्तविक परिचय न हो, जब तक प्रत्येक वस्तु आत्मा के लिये बन्धन न समझ ली जावे, क्योंकि वस्तुओं का अहङ्कार ही बन्धन है, इसी से सम्पूर्ण दुःख उत्पन्न होते हैं।

जिस वस्तु को हम अपनी समझते हैं, उसी के नाश होने से दुःख होता है। जिसको हम अपनी नहीं समझते उसके नाश से भी दुःख नहीं होता। यदि हम उसको अपना शत्रु समझते है, तो उसके नाश से भी हमको प्रसन्नता प्राप्त होती है। यदि हमारा भवन भस्म हो जावे, तो हमको कष्ट होता है। यदि वह भवन बेच दिया हो, तो उसके नाश से कोई अप्रसन्नता नहीं होती। यदि किसी हमारे शत्रु का मकान हो तो उसके नाश से प्रसन्नता होती है। एक ही मकान बुद्धि भेद से दुःख, उदासीनता और सुख का कारण होता है। अतएव यह नाश वाला संसार है, इसकी प्रत्येक वस्तु विकार वाली पाई जाती है। उत्पन्न होना, बढ़ना, एक सीमा तक बढ़कर रुक जाना, आकृति में परिवर्तन करना, क्षय को प्राप्त होना तथा नष्ट होना, प्रत्येक शरीर वृक्ष और वस्तुओं में देखा जाता है। जितना विनाशयुक्त वस्तुओं में अहङ्कार होगा,उतना ही दुःख अधिक होगा। जितना इन अनित्य वस्तुओं से सम्बन्ध न्यून होगा, उतना ही दुःख भी न्यून होगा। अज्ञानी समझते हैं कि धनवानों को सुख अधिक होता है। परन्तु जितनी सम्पति अधिक होती है, उतना उसका चित्त कङ्गाल होता है। इसके सम्बन्ध में एक दृष्टान्त है।

दृष्टान्त [३]—एक बार एक राजा नगर से पर्वत पर मृगया हेतु गया। मार्ग में बूँदें पड़ने लगीं। राजा घर की ओर लौटा मार्ग में देखा कि एक साधु बैठा हुआ है, न तो कोई उस पर वस्त्र है, न पात्र, न कोई उस पर भोजन की सामिग्री है, न कोई खाट है न झोंपड़ी। राजा उस साधू की दशा देखकर चित्त में विचार करने लगा कि मैं कैसा अयोग्य राजा हूँ जिसके राज्य में ऐसे कङ्गाल मनुष्य रहते हैं। यह सोच राजा ने २५) एक सेवक द्वारा साधु के पास भेजे। साधु ने उत्तर दिया—किसी दीन को दे दो। नौकर ने आकर राजा से कहा कि रुपया

कम हैं इस कारण नहीं लिया। राजा ने ५००) रु० साधु के पास भेजा, तो भी उसने यही उत्तर दिया—किसी दीन को दे दो। जब नौकर ने आकर कहा, तो राजा ने कहा अब भी थोड़े हैं। अतः पाँच सहस्र रुपये साधु के समीप भेजे फिर उसने उत्तर दिया–किसी दीन को दे दो। राजा ने सुनकर कि थोड़े समझकर पच्चीस सहस्र भेजे। साधु ने उत्तर दिया—किसी दीन को दे दो। अन्तिम सवा लक्ष लेकर राजा स्वयम् गये। साधु ने फिर वही उत्तर दिया—किसी दीन को दे दो। राजा ने कहा—स्वामिन्! आप से बढ़ कर दीन कौन होगा? न तो आप के पास कपड़ा है न झोंपड़ी, न पात्र है, न भोजन सामिग्री। साधु ने कहा—हम तो राजा हैं। राजा ने सुनकर कहा राजाओं के पास तो सेना होती है, आपकी सेना कहाँ है। साधु ने कहा—उनको भय होता है, इस कारण वे सेना रखते हैं हमको भय किसका है, जिसके लिये सेना रक्खें।

राजा ने कहा—राजाओं के पास कोष होता है, तुम्हारा कोष कहां है? साधु ने कहा—राजाओं को भय रोग के कारण व्यय करना होता है, इससे वे कोष रखते हैं। न हमको भय का रोग है, न सेना की आवश्यकता है, न हमारा कोई व्यय है, फिर हम कोष क्यों रक्खें? राजा ने कहा आपके समीप राज-सामिग्री ही क्या है? साधु ने कहा—हमारे समीप रसायन है, जिस समय चाहें इन सम्पूर्ण पर्वतों के ताम्र को सुवर्ण बना दें। यह उत्तर श्रवण कर राजा चल दिये और मन में विचार किया कि यदि यह साधु रसायनी न होता, तो अवश्य इतना प्रभूत धन ले लेता। इसके रुपया न लेने से यह सिद्ध है कि यह अवश्य रसायनी है।

राजा रात्रि को सोने लगे तो विचार आया कि यदि इस रसायनकर्ता साधु से दस पांच सहस्र मन सुवर्ण बनवा लिया

जावे, तो दो-एक देश और पराजित हो सकते हैं। विचारा कि यह अवसर उत्तम है, क्योंकि रात्रि है किसी को मालूम भी न होगा। अतः राजा साधु की ओर बिना सवारी पैदल ही चल दिये। जब साधु ने पांव की आहट सुनी तो पूछा। कौन है ? राजा ने कहा—मैं आपका सेवक राजा हूँ। साधु ने प्रश्न किया कि तू इस समय क्यों आया ? राजा ने सब हाल वर्णन किया और कहा कि आप दस बीस सहस्र मन सुवर्ण बना दें। साधु ने कहा बता दीन तू है अथवा हम। माँगने तू आया अथवा हम ? यह उत्तर सुन राजा ने कहा निःसन्देह दीन तो मैं ही हूँ। आप दया कर सोना बना दें। साधु बोले—बना देंगे, तू आया कर।

राजा ने साधु के पास जाना आरम्भ कर दिया। और साधु ने उसको तत्वज्ञान का उपदेश कर दिया। एक वर्ष में राजा तत्वज्ञान का विद्वान् हो गया और उसकी वह वासनाएं नष्ट हो गईं। साधु ने जब देखा कि राजा अब दीन नहीं रहा। उसको आत्मिक दशा सुधर गई तो साधु ने राजा से कहा कि तुम दश सहस्र मन ताम्र ले आओ, हम सुवर्ण बनादें। राजा ने हँस कर उत्तर दिया—स्वामिन् ! वह ताम्र तो सुवर्ण बन चुका, अब कोई आवश्यकता नहीं।

वास्तव में तृष्णा-वश मनुष्य अनित्य को नित्य बनाने के हेतु सहस्रों प्रकार के पाप करता है। क्या उस मनुष्य से अधिक कोई मूर्ख हो सकता है कि जो अनित्य को नित्य होने का प्रयत्न करता है। अनित्य में नित्य बुद्धि अविद्या है। मनुष्य के कुछ बाह्य साधन और सामान अनित्य हैं, इनको नित्य बनाना असम्भव है। बड़े-बड़े मूर्ख राजाओं ने पत्थरों के गढ़ बनाये, सहस्रों तोपें बनाईं, शरीर के रक्षार्थ बड़े-बड़े वैद्य डाक्टर रक्खे, बाडीगार्ड और रक्षक रक्खे, क्या उन राजाओं के शरीर बच गये ? मूर्ख मनुष्य नहीं जानते कि महाराजा जार्ज षष्ठम

इस समय सबसे बड़े राजा हैं। उनके राज्य में एक कोटि उन्नीस लक्ष वर्ग मील पृथिवी है जिसमें चालीस कोटि से अधिक उसकी प्रजा है। उसकी राजधानी लंदन संसार के सब नगरों में बड़ा नगर है। उत्तम शासन-प्रबन्ध हैं। इन सब वस्तुओं के होते हुए भी उसके मां-बाप पर गये, भाई मरे बेटा मरा। जो सम्पूर्ण संसार के अज्ञानी पुरुषों को शिक्षा दे रहा है, कि इतनी शक्ति और सामिग्री होने पर उत्पन्न होने वाला शरीर स्थिर न रह सका। भला इनसे अधिक कौन मूर्ख मनुष्य हो सकता है कि जो धन के भरोसे पर इस दृश्य को भुला दें जो परमात्मा के अटल नियमों की ओर संकेत करता है और बताता है कि जो नित्य हैं, इसको कोई शक्ति नष्ट नहीं कर सकती और जो वस्तु अनित्य है, उसकी कोई रक्षा नहीं कर सकती। अनित्य का नष्ट होना अवश्य है, नित्य का स्थिर रहना अवश्य है नित्य के काम नित्य से चल सकते हैं। अनित्य से नहीं।

यदि ध्यान-पूर्वक ज्ञान-दृष्टि से ऋषियों के सिद्धान्त को विचारो, जो बिना किसी सांसारिक प्राकृतिक सामिग्री के जंगलों में रहते हुए भी राजाओं के राजा थे। किसी की शक्ति न थी कि उनको कष्ट दे सके। इनको कष्ट दे ही कौन सकता था? क्योंकि वह ऐसी बलवान् शक्ति के आश्रय थे कि जिसके सामने संसार की सम्पूर्ण शक्तियां तुच्छ हैं। गवर्नमेण्ट का पचास रुपये मासिक का सिपाही बड़े-बड़े धनपतियों को पकड़ लाता है। क्या वह चपरासी की अपनी शक्ति होती है? उत्तर मिलता है नहीं। किन्तु वह उस शक्ति के आश्रय जिसके प्रबन्ध में सम्पूर्ण संसार के राजा जी रहे हैं। जिसके यन्त्र-अग्नि, पानी वायु, विद्युत् ऐसे बलवान् हैं कि कोई बड़े से बड़ा राजा भी इसका प्रबन्ध नहीं कर सकता। इसके यन्त्र भूचाल आदि ऐसे दृढ़ हैं कि एक क्षण में राजाओं के राज्य को सेना आदि सहित नष्ट-भ्रष्ट कर सकते हैं। चाहे सामुद्रिक जहाज हों अथवा वायुयान, परमात्मा की शक्ति

का सामना नहीं कर सकते । अज्ञानी अपनी अज्ञानता से परमात्मा को त्याग प्राकृतिक वस्तु का आश्रय लेते हैं। परन्तु इस अविद्या के कारण अपने आपको दुःखमय बना लेते हैं। जो मनुष्य परमात्मा के ज्ञान से अपने आत्मिक बल को बढ़ा लेते है, उनको दाबने वाली कोई शक्ति नहीं । जबकि सरकारी सिपाही निज राजा के भरोसे बड़े-बड़े मनुष्यों को पकड़ लते हैं, तो ईश्वर-भक्तों को किस का भय हो सकता है ? वह जानते हैं कि मृत्यु हमारे स्वामी के हाथ है। उसके अतिरिक्त कोई नहीं मार सकता । मनुष्य के हाथ में केवल उसका विचार है, वह कुविचार से अपने आपको पापी बना सकता है, परन्तु अपने शत्रुओं को हानि पहुँचा देना उसके अधिकार से बाहर है। जितना मनुष्य का भोग दुःख अथवा सुख है, वह प्रत्येक दशा में उसको भोगना पड़ेगा । जिस मनुष्य का भोग उत्तम है, वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति नष्ट कर दे, धनवानों को कठोर से कठोर गाली प्रदान करे, किसी की पर्वाह स्वप्न में भी न करे, तो भी उसके सुख के साधन सब ही एकत्रित रहेंगे ।

निस्सन्देह वे मनुष्य सबसे अधिक मूर्ख हैं जो सुख को धन में मानते हैं । जो काम धनवान् धन से नहीं कर सकते, वह ईश्वर-भक्त सरलता से कर सकते हैं। संसार में धन के चार फल दृष्टि पड़ते हैं । प्रथम यह कि धनवान् भोजन उत्तम खा सकता है,परन्तु ऐसा कोई भोज्य-पदार्थ नहीं जो पशुओं को न मिलता हो । मांस-भक्षी मनुष्य मांस को उत्तम समझते हैं, परन्तु जिन पशुओं का मांस मनुष्य सेवन करते हैं,उन्हीं का पशु भी सेवन करते हैं । ऐसा कौन सा जीव है, जिसका मांस बाज आदि पक्षी अथवा व्याघ्र, गीदड़ आदि पशुओं को प्राप्त न होता हो । मनुष्य मेवे और अन्न खाते हैं, जिसको पशु पक्षी भी खाते हैं । मनुष्य के भोज्य-पदार्थ में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो दूसरे

जीवों को अप्राप्त हो जबकि वह भोजन जिसको धनवान् खाते हैं, परमेश्वर ने पशुओं को भी दे रक्खा है। तो इसके लिये ईश्वर-भक्ति को त्याग कर धन एकत्रित करने लग जाना अविद्या नहीं तो और क्या है? हमने अनुभव किया है कि ईश्वर-विश्वासी मनुष्य धनवानों से नित्य उत्तम भोजन करते हैं। यथा साधूओं को देखिये वह भोजन करने में किसी अमीर से कम नहीं, क्योंकि उनको प्रत्येक निर्धन और धनवान् निमंत्रण देते हैं और अपने भोजन से उत्तम भोजन जिमाते हैं। द्वितीय सुख जिसको धन से प्राप्त होना समझते हैं, सेवकों से काम लेना है। इस काम में भी ईश्वर-भक्त धनवानों से अच्छे रहते हैं, क्योंकि ईश्वर-भक्तों को प्रत्येक स्थान में सेवक मिल जाते हैं। राजा, महाराजा भी उनकी सेवा को परम कर्तव्य समझते हैं, जैसा कि एक उर्दू के कवि का वचन है--"अय हुमा पेशे फकीरो सल्तनत क्या माल है। बादशाह आते हैं पापोश गदा के वास्ते।" जिन मनुष्यों ने काशी में स्वामी भास्करानन्द की दशा को देखा होगा, उनको पता है ईश्वर-भक्तों के सेवक किस कदर हैं। तृतीय फल जो धन से निकलता है, वह प्रतिष्टा है। परन्तु ईश्वर-भक्तों के सन्मान के आगे धनियों का सन्मान तुच्छ है। वह जिस देश में जावें, वहाँ उनका सन्मान प्रस्तुत है। स्वामी रामतीर्थ यदि भारतवर्षमें प्रतिष्ठा पाते थे तो अमरीका में भी उनकी प्रतिष्ठा कम न थी। जितना सन्मान आज बाबा नानक जी का सिक्खों के हृदय में है, क्या महाराजा रणजीतसिंह का भी उतना है? क्या जितनी प्रतिष्ठा व्यास जी की हिन्दुओं के हृदय में है, क्या युधिष्ठिर की भी उतनी प्रतिष्ठा हो सकती है? प्रयोजन यह है कि जितनी प्रतिष्ठा ईश्वर भक्तों की होती है, उतनी धनवानों की नहीं। चतुर्थ यह कि धनवानों को विश्वास रहता है कि--जब कोई आपत्ति आवेगी धन से उसको नष्ट कर देंगे। जैसा कि किसी नीति का वचन

है—'आपत्ति के लिये धन एकत्र करना चाहिये।' धनवानों को क्या आपत्ति हो सकती है, यदि आपत्ति आवेगी भी तो धन से नष्ट हो सकती है। परन्तु वह यह नहीं जानते, आपत्ति जब आवेगी, धन भी नष्ट हो जावेगा। परन्तु जो मनुष्य ईश्वर-भक्त हैं वह निर्भय रहते हैं। कोई आपत्ति भी उनका सामना नहीं कर सकती। क्योंकि वह जानते हैं परमात्मा के राज्य में आपत्ति कोई वस्तु नहीं। जो वह करता है अच्छा करता है। यद्यपि रोगी को कड़वी औषधि बुरी मालूम होती है, परन्तु उसको गुणदायक होती है। इसी प्रकार ईश्वर के न्याय से जो हमको दंड मिलता है, वह हमारे मन से पापों की मलिनता को दूर करता है, इस कारण वह भो उपयोगी है। मनुष्य को जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तब तक उसको प्राकृतिक पदार्थ उत्तम जान पड़ते हैं।

तत्त्वज्ञानी जानते हैं कि धन की तृष्णा जितनी दुखदायक है, उससे अधिक कोई पदार्थ दुखदायक नहीं। यथा सर्प स्पर्श में नरम प्रतीत होता है, परन्तु काटने से मृत्यु आ जाती है। इसी प्रकार यह चमत्कारिक पदार्थ धन तथा स्त्री यद्यपि देखने में उत्तम मालूम पड़ते हैं, परन्तु वास्तव में सत्य से दूर ले जाकर मृत्यु का कारण होते हैं। क्योंकि परमात्मा ने आत्मा को इन्द्रिय, मन और शरीर का राजा बनाया है। परन्तु इन चमत्कारिक पदार्थों के आवरण से धोका खाकर आत्मा इन्द्रियों का सेवक हो जाता है और सत्य धर्म से दूर हो जाता है। उस समय मन जिस प्रकार आत्मा को नचाता है, वैसे ही आत्मा नाचता है। अतएव परमात्मा ने वेद में उपदेश किया है कि चमत्कारी वस्तुओं के आवरण से सत्य का मुख छिपा हुआ है। यदि तुम चाहते हो कि आत्मिक बल में उन्नति हो और सत्य धर्म के ज्ञाता हो जाओ, तो सब से प्रथम उस आवरण को दूर करो। जब तक यह आवरण है, तब तक तुम सत्य को नहीं जान सकते। मनुष्य यदि सत्य से

पतित हो जावे, तो उसका जीवन पशुओं से भी निकृष्ट हो जाता है। मनु ने स्पष्ट लिखा है कि लोभी, कामी मनुष्य कभी धर्म को नहीं जान सकता। इसी कारण जो लोभ तथा काम में लिप्त नहीं हैं, उन्हीं को धर्म के जानने का अधिकार है और जो लोभ और विषय में लिप्त हैं उनको धर्म के जानने का अधिकार ही नहीं।

जिन्हें धर्म जानने का अधिकार नहीं आज भारतवर्ष में वह धर्म के आचार्य हैं। गृहस्थ का तो धन पैदा करना धर्म है, परन्तु भारत में कोटिपति संन्यासी कहे जाते हैं। लक्षों रुपया एकत्रित कर के 'उदासी' नाम रख लिया। वास्तव में यहाँ अविद्या ने ऐसा पांव जमाया है कि नौका भवर में जा पड़ी है, यद्यपि इस देश में ५२ लक्ष से अधिक साधु हैं। इसी प्रकार पाञ्चाल में नाई का नाम राजा रख लेते हैं। यदि उन ५२ लक्ष में से ५२ भी साधु होते तो देश का कल्याण हो जाता। परन्तु यह संन्यासी, उदासी नहीं, किन्तु वान्ताशी अर्थात् वमन करके चाटने वाले हैं। बहुत से अल्पायु में साधु हो गये, जिन्होंने संसार का कुछ देखा ही न था। साधुओं में आकर कुछ पढ़-लिख गये। गृहस्थों में कुछ प्रतिष्ठा होने लगी। बजाय इसके कि वह गृहस्थों का उपकार करते, उन्हीं से धन लेकर मठाधारी बनना और उन्हीं के धन से अपने शरीर का शृङ्गार करना और उन्हीं के धन से पुत्र देने के मिस से उनको पतित करना उनका धर्म हो गया। धर्म-कर्म को यह सब मिथ्या बताने लगे। यदि धर्म-कर्म का कोई उपदेश करते, तो सम्भव था कि कोई गृहस्थी उनसे प्रश्न कर बैठता—महाराज ! आप क्या कर्म करते हैं ? उन्होंने जगत् मिथ्या बता कर धर्म-कर्म को मूल से नष्ट कर दिया। यदि कोई इन मिथ्या-वादियों से पूछे कि महाराज ! जब संसार मिथ्या है तो आपका यह वचन भी संसार में होने से मिथ्या होगा और यदि संसार सत् है, तो भी आपका यह वचन मिथ्या ही है। शोक है ! कि गृहस्थ

मनुष्यों ने पढ़ना त्याग दिया। अतएव मिथ्या-आडम्बर-वेषधारी उनको धोके में डाल अधर्म का उपदेश करते हैं। इधर संसार को मिथ्या बताते हैं, उधर गृहस्थों से धन एकत्रित करके उत्तम-उत्तम सुन्दर भवन बनवाते हैं तथा सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं और वाहनारूढ़ होकर आनन्द करते हैं। जब कोई प्रश्न कर देता है—महाराज! आप तो जगत् को मिथ्या बताते हैं। पुनः आप ऐसे कार्य क्यों करते हैं? तो उत्तर देते हैं--यह सब भी मिथ्या भ्रम ही है। यदि कोई गृहस्थ बुद्धिमान् दस-बीस जूतों से पूजा करदे और जब वह न्यायालय में केस चलावे, तो यही उत्तर दे--महाराज! यह तो मिथ्या ही है, आपने क्यों न्यायालय की शरण ली? तो उनको विदित हो। परन्तु अभागे गृहस्थ हैं; यदि यह विद्वान् होते, तो उनकी दाल न गलती। उनकी दाल उन्हीं देशों में गलती है, जहाँ मनुष्य अज्ञानी हैं। साधु वही हो सकता है जिसमें साधु के लक्षण हों और वह पतित संसार के उद्धार का यत्न करे। नहीं तो कच्चा घर तो त्यागा, उत्तम पक्का भवन बनवा लिया। कम्बल छोड़ा, दुशाला ओढ़ लिया। एक पुत्र त्यागा, शिष्य बना लिये। स्त्री त्यागी, शिष्या प्रस्तुत करली—और सब के धर्म को नष्ट कर दिया। [ईश्वर भारतीय जनों को सुबुद्धि दें जिससे सत्य ज्ञान का उदय होकर अज्ञानान्धाकर का नाश हो।]

माण्डूक्योपनिषद् का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

ओ३म् शान्तिः! शान्ति!! शान्ति!!!

इति श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती कृत 'उपनिषद् प्रकाश, का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

माण्डूक्योपनिषत्सार

माण्डूक्य उपनिषद् के बनाने वाले माण्डूक्य ऋषि हैं और इसका सम्बन्ध अथर्ववेद से है। यह उपनिषद् सब से छोटी है तथापि विशेष महत्व की है। माण्डूक्य उपनिषद् में 'ओम्' शब्द की विशेष व्याख्या है। 'ओम्' रूप स्वतः अब धातु से व्युत्पन्न होता है तो भी 'ओम्' में विद्यमान अ, उ, म्, इन तीन मात्राओं की रचना भिन्न २ धातुओं से है। इसलिये उन धातुओं के अर्थ भी 'ओम्' में निविष्ट हैं। उपनिषद् में ९, १०, ११, मन्त्रों में तीनों मात्रा में विद्यमान धातुओं के अर्थों का विवरण किया है।

ओंकार की तीन मात्राओं का विचार अति प्राचीन है। उपनिषदों, ब्राह्मणों और आरण्यकों में अनेक स्थानों पर इन तीनों मात्राओं का विचार है। मनु०(२। ७६) लिखा है—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रया न्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च ॥

प्रजापति ब्रह्मा ने अकार, उकार, मकार तीन मात्राएं और भूः, भुवः, स्वः ये तीन महा व्याहृतियां तीनों वेदों से दोहन की हैं। उन वेदों का ये तीन मात्राएं निचोड़ या निष्कर्ष हैं।

यजुर्वेद (२। १३) में 'ओम् प्रतिष्ठ', (४०। १५) में 'ओ३म् क्रतो स्मर', (४०। १७) में 'ओम् खम्ब्रह्म' ये मन्त्र-भाग विद्यमान हैं।

यजु० ४०। १७ में 'योऽसा वादित्ये पुरुषः सोऽसा वहम्।'

इस मन्त्र में 'असौ' 'पुरुष' 'अहम्' इन पदों में से, असौ का 'अ' पुरुषः का 'उ' और 'अहम्' का म् लेने से त्रिमात्रिक 'अ—उ—म्' बन जाता है।

'ओ३म्' का दूसरा नाम 'प्रणव' है। पतंजलि कहते हैं 'तस्य वाचकः प्रणवः'। उस परमेश्वर का वाचक नाम 'ओ३म्' प्रणव है। 'ओम्' कहने से परमेश्वर की सर्वोत्तम स्तुति होती है, इसी से उसको 'प्रणव' कहते हैं।

ऋषि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश (१म समुल्लास) में लिखते हैं—"'ओ३म्' यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है। अ, उ, और म् तीन अक्षर मिलकर एक 'ओम्' समुदाय हुआ है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं जैसे अकार से विराट, अग्नि और विश्व आदि। उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तेजस् आदि। मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है।"

इस उपनिषद् के मन्त्र ३, ४, ५ में वैश्वानर, तैजस् और प्राज्ञ इन तीन का उल्लेख हो गया।

ओ३म् प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में बोला जाता है। इसी प्रकार मन्त्र के अन्तिम स्वर से आगे के समस्त भाग को भी 'ओम्' कह कर मन्त्र ओम् से प्रारम्भ कर ओम् पर समाप्त करके मन्त्र को ओम् से सम्पुटित कर लेते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् में ओम् को 'उद्गीथ' अर्थात् सब से उत्तम गाने योग्य कहा गया है। पांचों भूतों का रस (सार) पृथिवी है, पृथिवी का सार 'आप' है, आपों का सार ओषधि हैं, अन्नादि ओषधियों का सार पुरुष है, पुरुष का सार वाणी है। वाणी का सार ऋग् है। ऋग् का सार साम है, साम का सार उसमें उत्तम तत्व 'ओ३म्' है। (छान्दोग्य १। १। २)

गोपथ ब्राह्मण में कहा है कि 'ओम्' का जिस शास्त्र से योग होता है वह उसी का रूप हो जाता है।

तस्माद् ओंकार ऋचि ऋग् भवति। यजुषि यजुः। साम्नि

साम। सूत्र सूत्रम्। ब्राह्मणे ब्राह्मणम्। श्लोके श्लोकम्। प्रणवे प्रणव इति।

तीनों लोकों के सार तीन महा व्याहृतियों से ओम् की तीन मात्राएं प्राप्त की हैं। और भूः का अर्थ 'सत्' भुवः का अर्थ 'चित्' और स्वः का अर्थ 'आनन्द' है। अतः ओम् स्वयं 'सच्चिदानन्द' है।

ऋग्वेद शब्द ब्रह्म या नाद ब्रह्म का वर्णन करने वाला मन्त्र है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदु र्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

अर्थात्—वाणी के चार पद हैं, चार स्वरूप हैं। १ परा, २पश्यन्ति, ३ मध्यमा और ४ वैखरी। इनमें से प्रथम तीन गुहा अर्थात् नाभि देश से कण्ठ तक ही रहती हैं। वे आगे नहीं प्रकट होतीं। उनको केवल ब्रह्मज्ञानी मननशील विद्वान् ही जाना करते हैं। परन्तु वाणी के चौथे स्वरूप वैखरी को मनुष्य मुख से बोलते हैं।

शरीर में नाभि ही अत्यन्त आवश्यक केन्द्र है। उसी केन्द्र से गर्भस्थ बालक भी गर्भनाल द्वारा पोषण प्राप्त करता है। आत्मा की अव्यक्त शक्ति शरीर की सब चेष्टाएं चलाती है। वही सब इन्द्रियों को प्रेरित करती है। वाणी भी उसी से प्ररित होकर प्रकट होती है। इस शक्ति का उदगम् केन्द्र भी नाभि है। वह शक्ति शरीर के घटक एक २ अवयव (Cell) में पूर्ण होती है। वही शक्ति मन में उठने वाले विचार-कम्पनों को जागृत करती हैं। वे विचार कम्पन ही वर्णात्मक वाणी का मूल हैं।

पाणिनीय शिक्षा में कहा है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्नि माहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।।

आत्मा बुद्धि से पदार्थों का ज्ञान करके बोलने की इच्छा से मन को प्रेरित करता है । मन देह की अग्नि को धक्का लगाता है । वह कायाग्नि प्राण को धक्का लगाती है । वह वक्षस्थल में वेग से चल कर स्वर उत्पन्न करता है ।

आत्मा का बुद्धि से अर्थों का विचारना, ऐसे बोलूंगा इस विचार से मन को प्रेरणा देना 'परा' वाणी है । मन का कायाग्नि को आघात करना 'पश्यन्ति' है । वह जब प्राण को गति देती है, यह 'मध्यमा'वाणी है । उसका वक्षस्थल आदि में आकर ध्वनि रूप में आना 'बैखरी' रूप है । तीन रूप गुहा में रहते हैं—

वह ध्वनि, नाद 'अ' से प्रारम्भ होकर 'म्' तक समाप्त हो जाता है । जिसके लिए लिखा है—

आकाशः वायु प्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति
स्थानान्तरेषु प्रभिज्यमानो वर्णत्व मागच्छति यः स
तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः
स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति ।।

शब्द आकाश वायु से उत्पन्न होकर मुँह तक आता है । वही कण्ठ तालु आदि स्थानों में वर्ण का रूप लेता है । वही परम पवित्र अक्षर ब्रह्म है, जो गुहा में रहता है । उसका अच्छी प्रकार प्रयोग करने से परम कल्याण और अभ्युदय प्राप्त होता है ।

माण्डूक्य उपनिषद् में उसी परम गुहागत अक्षर 'ओ३म्' का वर्णन किया है । शमित्योम ।।